अर्वाचीन दर्शन
का
वैज्ञानिक इतिहास

लेखक
डॉ० जगदीश सहाय श्रीवास्तव
एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, दर्शन-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

किताब महल, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : 1983

प्रमुख वितरक :

1. किताब महल एजेन्सीज,
   56-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद;
2. किताब महल डिस्ट्रीब्यूटर्स
   28-नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली–2
3. किताब महल एजेन्सीज,
   अशोक राजपथ, पटना-4
4. किताब महल एजेन्सीज,
   रामदास पेठ, नागपुर -10

मूल्य : अठारह रुपये

प्रकाशक : किताब महल, 15, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक : अनुपम प्रेस, 6-चक, इलाहाबाद

पूज्य गुरुवर

डा० ति० रा० वे० मूर्ति

के

पुनीत चरणों

में

सादर समर्पित

आमुख

"अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास" मेरी प्रथम दो कृतियों "ग्रीक एवं मध्ययुगीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास" एवं "आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास" के ही सातत्य में लिखी गई रचना है। इसका उद्देश्य, दृष्टिकोण और प्रतिपादन प्रायः वही है जो प्रथम दो कृतियों का है। हम अपने पूर्व दो ग्रन्थों में स्पष्ट कर चुके हैं कि दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारधाराएँ समानान्तर रूप में प्रवाहित होती रहती हैं। किसी युग की दार्शनिक विचार धारा तत्कालीन वैज्ञानिक विचारधारा को किसी न किसी रूप में अवश्य प्रतिबिम्बित करती है। काण्ट का समीक्षावाद तत्कालीन शक्ति-मनोविज्ञान (Faculty Psychology) द्वारा प्रभावित था; विलियम जेम्स का अर्थ-क्रियावाद तत्कालीन जीव-विज्ञान एवं शरीर-विज्ञान का साक्षात् परिणाम था; इसी प्रकार हेनरी बर्गसाँ के सृजनात्मक विकासवाद ने डार्विन, लैमार्क एवं वाइजमैन के विकासवाद से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की थी। यही बात समकालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों पर भी लागू होती है। किसी भी दार्शनिक के विचारों के विवेचन और प्रतिपादन में उसकी वैज्ञानिक प्रति-वस्तुओं को दुर्लक्ष्य नहीं किया जा सकता। इस दृष्टिकोण से दर्शन-जगत में किसी दार्शनिक विचारधारा को उसके वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का यह प्रथम मौलिक प्रयास है। यही इस पुस्तक की सार्थकता है।

"अर्वाचीन दर्शन के वैज्ञानिक इतिहास" को वैज्ञानिक कहने का यहाँ एक दूसरा तात्पर्य भी है। अर्वाचीन दर्शन की विभिन्न दार्शनिक प्रवृत्तियों का विवेचन एवं प्रदर्शन एक तटस्थ एवं विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। किसी भी दार्शनिक समस्या को उसके मौलिक रूप में समझने की चेष्टा की गई है तथा उसके समाधान में किसी देशी या विदेशी चश्में को धारण कर उसे विकृत करने का प्रयास नहीं किया गया है। प्रत्येक देश और काल की अपनी एक विशिष्ट साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा होती है। यदि उस विशिष्ट परम्परा की उपेक्षा कर हम किसी विदेशी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में उसे देखने और समझने की चेष्टा करते हैं तो हम दृष्टि-दोष से बच नहीं सकते। "अर्वाचीन दर्शन के वैज्ञानिक इतिहास" में इस दृष्टि-दोष से भरसक बचने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक मुख्य रूप में प्रयाग विश्वविद्यालय के एम. ए. (पूर्वार्ध) के दर्शन के विद्यार्थियों के लाभ के लिए लिखी गई है। पर अन्य विश्वविद्यालयों के दर्शन के विद्यार्थी भी इसका पूर्ण लाभ उठा सकते हैं। जब से मैं प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन-परिवार का सदस्य बना हूँ और मुझे अर्वाचीन दर्शन के अध्यापन का सुअवसर मिला है तभी से एम. ए. (पूर्वार्ध) दर्शन के विद्यार्थियों के लिए मैं अर्वाचीन दर्शन पर एक उपयुक्त पाठ्य पुस्तक की आवश्यकता का अनुभव करता रहा हूँ। वैसे अंग्रेजी भाषा में "अर्वाचीन दर्शन" पर मानक ग्रन्थों का अभाव नहीं है पर जब से भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा के माध्यम से अध्ययन-अध्यापन प्रारम्भ हुआ है, हिन्दी

में इस विषय पर प्रामाणिक ग्रन्थों की आवश्यकता का सर्वत्र अनुभव किया जाता रहा है। आज विश्वविद्यालयों के नब्बे प्रतिशत विद्यार्थी न तो अंग्रेजी में लिखी पुस्तकों को पढ़ना चाहते हैं और न समझ ही सकते हैं। इसमें उनका कोई दोष भी नहीं है। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद हम विदेशी भाषा के बन्धन में कब तक पड़े रह सकते हैं? ऐसी स्थिति में हिन्दी में प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन आज एक युग-धर्म बन चुका है। उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों के अभाव के कारण विद्यार्थियों की दशा, विशेषकर परीक्षा के समय, दयनीय देखी जाती है। यद्यपि बाजार में ऐसी व्यावसायिक पुस्तकों की कमी नहीं है जो अर्वाचीन दर्शन के दार्शनिकों एवं उनके विचारों का वर्णन करने का दावा करते हैं, पर मेरे समक्ष इस विषय पर लिखी ऐसी कोई पुस्तक नहीं आई जिसमें एक ही स्थल पर विद्यार्थियों को विषय से सम्बंधित सम्पूर्ण मौलिक सामग्री उपलब्ध हो सके। इसी अभाव की पूर्ति के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। विशदता, वस्तु-निष्ठता, प्रामाणिकता एवं वैज्ञानिकता इस पुस्तक की ऐकान्तिक विशेषताएँ हैं।

"अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास" अर्वाचीन विचारधारा का सरल, सुसम्बद्ध, वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत करता है। प्रत्येक दार्शनिक समस्या को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही रखकर उसके समाधान की चेष्टा की गई है। दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों के विवेचन में उनकी समानताओं और विभिन्नताओं पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार दृष्टिकोण सदा तुलनात्मक रखा गया है। साथ ही दर्शन के प्रामाणिक एवं सर्वमान्य मानदण्डों के आधार पर विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन और मण्डन भी किया गया है। इस प्रकार विवेचन आलोचनात्मक है।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने की प्रथम प्रेरणा मुझे एम. ए. (पूर्वार्ध) के विद्यार्थियों से मिली। काण्ट, हेगल, ब्रैडले, जेम्स, एवं बर्गसाँ अपने-अपने क्षेत्र के महान दार्शनिक हैं। हिन्दी में इन पर प्रामाणिक ग्रन्थों के अभाव के कारण विद्यार्थियों को पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उनके बार-बार आग्रह के कारण मुझे इस कार्य को सीमित समय में ही पूरा करना पड़ा। प्रयत्न ऐसा किया गया है कि विद्यार्थियों को एक ही स्थल पर किसी दार्शनिक के विचारों की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सके। इस प्रयत्न में मैं कहाँ तक सफल हो पाया हूँ, इसका निर्णय मैं सुविज्ञ पाठकों पर ही छोड़ देता हूँ।

अन्त में, मैं किताब-महल के निदेशक श्री इन्द्रेश कुमार अग्रवाल के प्रति आभार प्रकट किए बिना नहीं रह सकता जिन्होंने मेरे विचारों को प्रकाशित कर उन्हें मूर्त रूप देने में सदा मेरी सहायता की है। उन्होंने व्यक्तिगत रुचि लेकर अल्पावधि में ही पुस्तक को प्रकाशित करा दिया। लेखक इसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

पुस्तक वर्तमान रूप में यदि जिज्ञासु पाठकों के भीतर अर्वाचीन दर्शन के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कर सकी तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

जगदीश सहाय श्रीवास्तव

विषय-क्रम

प्रस्तावना

प्रथम अध्याय 1–51

काण्ट

द्वितीय अध्याय 52–80

फिक्टे, शेलिङ्ग और हेगल

प्रस्तावना

(1) **विषय-प्रवेश**—हम जानते हैं कि जीव, जगत व ईश्वर के विषय में जो हमारी 'दार्शनिक' विचारधारा होती है वह सदा दो घटकों के परस्पर-संघात का परिणाम होती है : प्रथम वे धार्मिक एवं नैतिक विचार होते हैं जिन्हें हमने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया है; दूसरे वे विचार होते हैं जो तत्कालीन वैज्ञानिक अनुसंधान के परिणाम होते हैं। दर्शन की उत्पत्ति सदा धर्म एवं विज्ञान के संकरण से हुई है। यद्यपि दार्शनिकों में इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है कि किसी दार्शनिक विचारधारा में इन दोनों घटकों का परस्पर-अनुपात कितना होता है, पर इस बात में उनके बीच कोई मतभेद नहीं है कि दर्शन में दोनों घटक अवश्य ही विद्यमान होते हैं। किसी दर्शन में यदि धर्म की प्रधानता है तो किसी में विज्ञान का प्रभुत्व है। उदाहरण के लिए, मध्य-युगीन दर्शन पूर्णतः धार्मिक है जो ईसाई धर्म की मान्यताओं एवं नैतिक विचारों पर आधारित है; इसके विपरीत, आधुनिक दर्शन न्यूटन, गेलीलियो और केप्लर के विज्ञान तथा रेने डेकार्ट्स और लाइब्नित्स के गणित पर आधारित है। यही बात अर्वाचीन दर्शन पर भी लागू होती है। काण्ट और हेगल के दर्शन गणित की मान्यताओं पर आधारित हैं" तथा विलियम जेम्स और हेनरी बर्गसाँ के दर्शन डार्विन और लैमार्क के विकासवाद पर आश्रित हैं। इसी प्रकार यदि समकालीन दर्शन को लिया जाय तो हम देखेंगे कि यदि बर्ट्रेण्ड रसेल और ह्वाइटहेड के दर्शन गणित द्वारा प्रभावित हैं तो रुडॉल्फ कार्नेप (Rudolf Carnap) एवं कार्ल पॉपर (Karl Popper) के दर्शन मुख्यतया विज्ञान पर आधारित हैं। गणित और विज्ञान पर आधारित होते हुए भी उपर्युक्त दार्शनिकों की कुछ धार्मिक मान्यताएँ भी थीं जो उनके दर्शन को प्रभावित करती थीं। उदाहरण के लिए यद्यपि बर्गसाँ का दर्शन विज्ञान के विकासवाद द्वारा प्रभावित था पर फिर भी उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के माध्यम से ईसाई धर्म को न्याय्य सिद्ध करने की चेष्टा की थी। यही बात विलियम जेम्स पर भी लागू होती है। वैज्ञानिक होते हुए भी उन्होंने धर्म के व्यावहारिक महत्व को स्वीकार किया था। इस प्रकार किसी भी युग में दर्शन का इतिहास तत्कालीन धार्मिक एवं वैज्ञानिक मान्यताओं के परस्पर-संघात का ही परिणाम होता है।

2. **अर्वाचीन दर्शन का प्रारम्भ**—दार्शनिक विचारधारा का एक अजस्र प्रवाह होता है जिसे स्पष्ट रूप में पृथक-पृथक खण्डों में विभाजित करना सदा आसान नहीं होता। अर्वाचीन दर्शन आधुनिक दर्शन एवं समकालीन दर्शन के बीच एक अनिवार्य कड़ी के रूप में कार्य करता है। यदि इसका एक पग आधुनिक दर्शन में निहित है तो दूसरा पग समकालीन दर्शन में स्थित है। इसीलिए इसमें दोनों दर्शनों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इसमें आधुनिक दर्शन की बौद्धिकता एवं समकालीन दर्शन की वैज्ञानिकता दोनों का समावेश पाया जाता है। अर्वाचीन दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें **ज्ञानवाद** और **तत्ववाद दोनों** पर समान बल दिया गया है। ज्ञान का स्रोत, ज्ञान

का स्वभाव, ज्ञान की प्रामाणिकता एवं ज्ञान की सीमा सभी ज्ञान-सम्बन्धी समस्याओं का इसमें सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान के स्रोत के सम्बन्ध में अनुभव, बुद्धि, प्रज्ञा, चेतन अनुभूति, निर्विकल्प अनुभूति, प्रतिभान इत्यादि सभी का वर्णन मिलता है। जहाँ तक तत्ववाद की बात है अर्वाचीन दर्शन में भौतिकवाद, अध्यात्मवाद, प्राणवाद, तटस्थवाद, निर्विशेषवाद इत्यादि सभी तत्वमीमांसीय प्रवृत्तियों का वर्णन मिलता है।

3. **अर्वाचीन दर्शन की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियाँ**—हम जानते हैं कि आधुनिक दर्शन की उत्पत्ति मध्य युगीन समाज, उसकी संस्थाओं एवं मान्यताओं के विरुद्ध विरोध के परिणाम-स्वरूप हुई है। उसमें धार्मिक आस्था एवं विश्वास के स्थान पर बुद्धि के वर्चस्व को स्वीकार किया गया है। जिस कार्य को सांस्कृतिक पुनरुत्थान (Cultural Renaissance) ने प्रारम्भ किया था वह सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दीं तक चलता रहा। योरोपीय महाद्वीप के बुद्धिवाद एवं इंग्लैण्ड के अनुभववाद ने इस कार्य को और त्वरित किया जिसके कारण लोगों के मन में स्वतन्त्र चिन्तन का विकास हुआ तथा उनके जीवन के प्रति दृष्टिकोण में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। पर इन नवीन विचारों के प्रचार एवं प्रसार तथा इन्हें लोकप्रिय बनाने के लिए एक विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता का अनुभव किया गया। अट्ठारहवीं शताब्दी ने इस कार्य को सम्पादित किया। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में अट्ठारहवीं शताब्दी को **प्रबोध-काल की शताब्दी** (The Century of Enlightenment) कही गयी है। यह अब तक की सभी बौद्धिक प्रवृत्तियों का चरम बिन्दु है। यह मानव-जीवन के सभी पक्षों को बोधगम्य बनाने की चेष्टा करती है। सुप्रसिद्ध फ्रान्सीसी दार्शनिक वॉल्टेयर (Voltaire : 1694-1778) प्रबोध काल के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं। यद्यपि प्रबोध-काल का विकास इग्लैण्ड एवं जर्मनी में भी हुआ, पर इसकी जितनी ख्याति फ्रान्स में हुई उतनी अन्यत्र कहीं भी नहीं हुई। प्रबोध-काल की प्रमुख मान्यता यह है कि मानवीय बुद्धि के पास अपार क्षमता है जिसके द्वारा वह प्रकृति के गहनतम रहस्यों को भी आसानी से उद्घाटित कर सकती है। सम्पूर्ण अर्वाचीन दर्शन प्रबोध-काल की इसी मान्यता के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुआ। काण्ट का समीक्षावाद, हेगल और ब्रैडले का विज्ञानवाद, विलियम जेम्स का अर्थ-क्रियावाद तथा बर्गसाँ का प्राणवाद सभी प्रबोध-काल के बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न प्रवृत्तियाँ हैं। यहाँ हम इनका संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

(i) **समीक्षावाद** (Criticism)—काण्ट ने सर्वप्रथम प्रबोध-काल के बौद्धिक ईश्वर-विज्ञान पर प्रहार किया और कहा कि बुद्धिवाद के आधार पर किसी भी प्रकार के तत्व: जगत्, आत्मा या ईश्वर की स्थापना नहीं की जा सकती। पर समीक्षावाद में तत्व-प्रकरण की अपेक्षा ज्ञान-प्रकरण पर विशेष बल दिया गया है। जब जर्मनी में प्रबोध-काल का सूत्रपात हुआ, जर्मन लोग विश्वास करते थे कि बुद्धि के माध्यम से तत्व को बोधगम्य बनाया जा सकता है क्योंकि तत्व बौद्धिक है। उनके अनुसार बुद्धि के पास ऐसी **पारदर्शक शक्ति** (Aufklarung) है जो प्रकृति के गुह्यतम रहस्यों को भी प्रकट कर सकती है। प्रबोद्ध-काल में बुद्धि ने धार्मिक अन्धविश्वासों के विरुद्ध जो जेहाद छेड़ रखा था वह बहुत अधिक दिनों तक नहीं चल सका। ह्यूम ने एक बार कहा था कि जब बुद्धि बहुत दिनों तक मनुष्य के विरुद्ध कार्य करती है, मनुष्य बुद्धि के विरुद्ध उठ खड़ा होता है। प्रबोध-काल के बाद यही हुआ। हजारों साल तक योरोप धार्मिक विश्वासों और आस्थाओं में इतना डूब चुका था कि बुद्धि के लिए उन्हें समूल नष्ट करना आसान

कार्य नहीं था। अन्तिम युद्ध में बुद्धि को आस्था के समक्ष नतमस्तक होना पड़ा। इसी के परिणामस्वरूप जर्मनी में समीक्षावाद (Criticism) का जन्म हुआ जो हमारी बुद्धि की क्षमता का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है।

यहाँ 'समीक्षा' का अर्थ आलोचना नहीं वरन् आलोचनात्मक विश्लेषण है। काण्ट ने अपने दर्शन में ज्ञान का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार बुद्धिवाद एवं अनुभववाद दोनों एकांगी मत हैं। अंग्रेज अनुभववादियों को चुनौती देते हुए उन्होंने कहा कि अनुभव से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार योरोपीय महाद्वीप के बुद्धिवादियों को चुनौती देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि केवल बुद्धि द्वारा हमारे ज्ञान में यथार्थता या प्रामाणिकता कभी नहीं आ सकती। काण्ट की सुप्रसिद्ध उक्ति है: "बुद्धि-विकल्पों के बिना प्रत्यक्ष अंध हैं तथा प्रत्यक्ष के बिना बुद्धि-विकल्प रिक्त हैं।" अर्थात् ज्ञान के निर्माण में प्रत्यक्ष एवं बुद्धि-विकल्प दोनों का योगदान होता है। प्रत्यक्ष द्वारा हमारे ज्ञान में यथार्थता आती है तथा बुद्धि द्वारा ज्ञान में सार्वभौमता और अनिवार्यता आती है। इस प्रकार के वास्तविक ज्ञान को काण्ट ने "संश्लेषणात्मक एवं अनुभवनिरपेक्ष निर्णय" की संज्ञा दी है। गणित इस ज्ञान का सर्वोत्तम उदाहरण है।

जहाँ तक ज्ञान के विश्लेषण या उसके विभिन्न अवयवों की बात है, काण्ट के अनुसार ज्ञान के भीतर एक या दो नहीं वरन् अनेक अवयव पाए जाते हैं। ज्ञान की सार्थकता तभी सिद्ध हो सकती है जब कि एक ओर ज्ञाता (आत्मा) तथा दूसरी ओर ज्ञेय (स्व-लक्षण-वस्तुओं) का अस्तित्व हो। स्व-लक्षण-वस्तुएँ हमारी संवेदनाओं के अधिष्ठान हैं। संवेदनाएँ देश-काल, बुद्धि-विकल्पों एवं प्रज्ञा के विज्ञानों द्वारा व्याकृत एव नियमित होकर आत्मा के पास ज्ञेय रूप में उपस्थित होती हैं। तब कहीं हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है।

पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि हमें स्व-लक्षण-वस्तुओं का उस रूप में ज्ञान नहीं होता जैसी कि वे वास्तव में हैं वरन् हमें उनका उस रूप में ज्ञान होता है जैसी कि वे देश-काल, बुद्धि-विकल्पों एवं प्रज्ञा के विज्ञानों द्वारा व्याकृत एव नियमित होती हैं। इसीलिए काण्ट ने कहा कि हमें केवल संवृत या व्यवहार (Phenomena) का ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है; परमार्थ (Noumena) हमारे लिए सदा अज्ञेय ही बने रहेंगे। वास्तविक ज्ञान असम्भव है। यही काण्ट का अज्ञेयवाद (Agnosticism) है।

(ii) **विज्ञानवाद** (Idealism)—अर्वाचीन दर्शन के इतिहास में समीक्षावाद के बाद दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति विज्ञानवाद की है। हमने समीक्षावाद में देखा कि काण्ट के दर्शन में सबसे अधिक खटकने वाली बात उसकी स्व-लक्षण-वस्तुओं की परिकल्पना थी। काण्ट का अज्ञेयवाद उसके आत्मा और स्व-लक्षण-वस्तुओं के बीच द्वैतवाद का साक्षात परिणाम था। यदि हम ज्ञान की समस्या का वास्तविक समाधान चाहते हैं तो सर्वप्रथम हमें आत्मा और स्व-लक्षण-वस्तुओं के बीच द्वैत को समाप्त करना होगा। फिक्टे, शेलिंग, हेगल तथा ब्रडले ने यही किया। इस द्वैत को समाप्त करने के लिए उन्होंने काण्ट की स्व-लक्षण-वस्तुओं को अपनी आलोचना का केन्द्र बनाया। उन्होंने प्रश्न किया कि यदि स्व-लक्षण-वस्तुएँ बिलकुल अज्ञेय हैं तो हमें उनके अस्तित्व के विषय में किस प्रकार जानकारी होती है? एक ओर काण्ट कहते हैं कि स्व-लक्षण-वस्तुएँ अज्ञेय हैं

और दूसरी ओर उनके विषय में वे हमें तीन प्रकार की सूचनाएँ प्रदान करते हैं : प्रथम स्व-लक्षण-वस्तुओं का अस्तित्व है (Reality); द्वितीय, वे हमारे ज्ञान के विषय नहीं हैं (Negation) एवं तृतीय, वे हमारे ज्ञान की सीमा का निर्धारण करती हैं (Limitation)। जब हम स्व-लक्षण-वस्तुओं के विषय में उक्त तीन प्रकार की सूचनाओं को प्रदान करते हैं तो उन्हें अज्ञेय किस प्रकार घोषित किया जा सकता है ? अतः, फिक्टे, शेलिंग, हेगल और ब्रैडले के अनुसार स्व-लक्षण-वस्तुएँ उतनी ही ज्ञेय है जैसी अन्य ज्ञेय वस्तुएँ हो सकती हैं। काण्ट ने प्रज्ञा को केवल नियामक मानकर उसके स्वरूप को विकृत कर दिया था। उक्त विज्ञानवादियों ने प्रज्ञा को नियामक होने के साथ उपादानात्मक मानकर उसके वास्तविक स्वरूप को पहचाना। फिक्टे, शेलिंग, हेगल एवं ब्रैडले ने ज्ञाता और ज्ञेय को एक दूसरे से बिलकुल पृथक् न मानकर दोनों को एक ही चेतन और स्व-निर्धारक तत्व के दो पक्ष के रूप में स्वीकार किया। यही उनका विज्ञानवाद है। सृष्टि जीवात्मा की उपज नहीं है जैसा आत्म-निष्ठ विज्ञानवादी (Subjective Idealists) मानते हैं, वरन् वह विश्वात्मा की उपज है जैसा वस्तुनिष्ठ विज्ञानवादी (Objective Idealists) स्वीकार करते हैं। फिक्टे, शेलिंग, हेगल एवं ब्रैडले का यही वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद (Objective Idealism) है।

। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जिस चेतन और स्व-निर्धारक तत्व कवऊपर उल्लेख किया गया उसका वास्तविक स्वभाव क्या है ? फिक्टे, शेलिंग, हेगलए ब्रैडले ने इसकी पृथक्-पृथक् व्याख्या प्रस्तुत की है। यद्यपि स्व-निर्धारक चेतन तत्वके भीतर ज्ञान, भावना व संकल्प नामक तीनों शक्तियाँ पाई जाती हैं, पर फिक्टे के अनुस ार तत्व के भीतर संकल्प शक्ति का विशेष आनयन पाया जाता है। इसीलिए उन्होंने अपने तत्व का नाम **आत्मा** (Ego) रखा; शेलिंग के अनुसार तत्व की विशेषता संक)प-शक्ति नही वरन **भावना** -शक्ति है। इस कारण उन्होंने तत्व को **प्रकृति** (Nature के नाम से अभिहित किया; ज्ञान-शक्ति की विशेषता के कारण हेगल ने अपने तत्व का नाम **विज्ञान** (Idea) रखा; इसी प्रकार निर्विकल्प अनुभूति की विशेषता के कारण ब्रैडले ने अपने तत्व को **चेतन अनुभूति** (Sentient Experience) नाम दिया। तत्व को हम किसी नाम से पुकारें, सभी वस्तुनिष्ठ विज्ञानवादी इस बात में एकमत है कि तत्व एक वस्तुनिष्ठ चैतन्य है जो अपने को परिसीमित करके एक ओर विभिन्न जीवात्माओं को उत्पन्न करता है और दूसरी ओर वस्तु-जगत को। इन सभी विज्ञान वादियों में एक बात की और समानता है और वह यह है कि उनके अनुसार कोरी बुद्धि (Understanding) के द्वारा तत्व का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। अद्वैतवादी होने के कारण उनके अनुसार तत्व का साक्षात्कार निर्विकल्प अनुभूति या प्रतिभान (Intuition) द्वारा ही किया जा सकता है। इस दृष्टि से वे प्रबोध-काल विरोधी हैं।

(iii) **अर्थ-क्रियावाद** (Pragmatism)-- अर्वाचीन दर्शन के इतिहास में अर्थ-क्रियावाद का भी विशेष महत्व है। अर्थ-क्रियावाद के पूर्व जर्मनी में हेगल के विज्ञानवाद का, इंग्लैंड में ब्रैडले के विज्ञानवाद का तथा अमेरिका में जोसिया रॉयस के विज्ञानवाद का बोलबाला था। विज्ञानवाद, विशेषकर अद्वैतवादी विज्ञानवाद व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व का हनन करता है। वह विश्व के स्थिर चित्त तथा पारलौकिक सत्ता में विश्वास करता है जो वास्तविकता से विलकुल भिन्न, कृत्रिम व काल्पनिक प्रतीत होता है। अर्थ-**क्रियावाद का जन्म इसी पृष्ठभूमि में हुआ। वह तत्कालीन निरपेक्षवाद (Absolu-**

tism), बुद्धिवाद (Intellectualism) एवं विज्ञानवाद (Idealism) के विरोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ। निरपेक्ष विज्ञानवाद जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का निषेध करता है, अमेरिकावासियों को स्वीकार्य नहीं था। वे अपने दैनिक जीवन के अनुभवों का तिरस्कार भी नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि अमेरिका में अर्थ-क्रियावाद का जितना प्रचार व प्रसार हुआ, उतना किसी अन्य देश में नहीं हुआ।

हम पहले ही कह चुके हैं कि अर्वाचीन पाश्चात्य दर्शन की सभी प्रवृत्तियाँ अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रबोध काल के विरोध में उत्पन्न हुई है। अर्थ-क्रियावाद भी बुद्धिवाद के विरुद्ध एक खुला विद्रोह है। इसके अनुसार बुद्धि ज्ञान का साधन न होकर अमूर्तीकरण का ही साधन है जिसके कारण तत्व के स्वभाव मे विकृति उत्पन्न हो जाती है। यही कारण है कि अर्थ-क्रियावाद बुद्धि को ज्ञान का साधन न मानकर व्यावहारिक अभियोजन का उपकरण ही मानता है। ज्ञान ज्ञान के लिए न होकर व्यावहारिक जीवन का एक साधन ही है जो हमारी निपुणता में वृद्धि करता है। अर्थ-क्रियावाद, बुद्धि को संकल्प के आधीन करके अपने बुद्धिवाद-विरोधी स्वरूप को स्पष्ट कर देता है।

अर्थ-क्रियावाद एक-दूसरे अर्थ में भी बुद्धिवाद-विरोधी है। इसके अनुसार तत्व का स्वभाव बौद्धिक नहीं है। यदि बुद्धि को तत्व का स्वभाव मान लिया जाय तो इससे एक ऐसे स्थिर ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होगी कि उसके भीतर गति, परिवर्तन, स्वातन्त्र्य इत्यादि के लिये कोई अवकाश नहीं होगा। अर्थ-क्रियावाद के अनुसार तत्व बौद्धिक न होकर संकल्पवान है। यही बात आत्मा, बुद्धि और मस्तिष्क पर भी लागू होती है। मस्तिष्क वस्तुत: एक गतिशील व गत्यात्मक प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई जीव अपनी बाह्य परिस्थिति के साथ अभियोजन स्थापित करता है। अत:, किसी भी दृष्टि से विचार किया जाय, अर्थ-क्रियावाद बुद्धिवाद-विरोधी सिद्धान्त है। विलियम जेम्स अर्थ-क्रियावाद के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं।

(iv) **प्राणवाद** (Vitalism)—हेनरी बर्गसाँ का प्राणवाद भी अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद के विरोध में जन्म लिया। उनके अनुसार जगत का आधार न जड़-तत्व है और न चेतन तत्व वरन् इसका आधार विशुद्ध प्राण-तत्व है जो जैविक शक्ति की एक सतत, सीवनहीन और अविच्छिन्न धारा है। कालावधि (Duration) इसका स्वभाव है। इसमें हम वर्तमान के ऊपर भूतकाल के अनुभवों को संकलित कर भविष्य का निर्माण करते हैं। यहाँ भूतकाल न तो वर्तमान को और न वर्तमान काल भविष्य को निर्धारित करता है। हाँ, वे उन्हें प्रभावित अवश्य करते हैं। कोई भी क्षण अपने संकल्प-स्वातन्त्र्य का परित्याग नहीं करता। भविष्य में वह किस प्रकार की वस्तु को विकसित करेगा, इसका पूर्व-निर्धारण नहीं किया जा सकता। यही बर्गसाँ का सृजनात्मक विकासवाद (Creative Evolution) है।

बर्गसाँ के प्राणवाद के विषय में जो दूसरी बात ध्यान देने की है वह यह है कि उनके अनुसार बुद्धि, तर्कशास्त्र या विज्ञान के माध्यम से तत्व का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। बुद्धि तत्व के स्वभाव को विकृत कर देती है क्योंकि तत्व जो एक धारा है, प्रवाह है, गति है अथवा परिवर्तन है, उसके स्थान पर बुद्धि एक विच्छिन्न, विविक्त और स्थिर जगत् को प्रदर्शित करती है। बर्गसाँ के अनुसार बुद्धि का कार्य तत्व-प्रदर्शन नहीं वरन् प्राणियों की जिजीविषा को सिद्ध करना है। जिस प्रकार जेम्स के लिये बुद्धि बाह्य परिस्थितियों के साथ अभियोजन का उपकरण है, इसी प्रकार बर्गसाँ

के लिये बुद्धि प्राणियों के जीवित रहने की इच्छा की साधिका है। इससे अधिक बुद्धि की कोई उपयोगिता नहीं है। दर्शन एक तत्व-दृष्टि (Weltanschauung) है, जिसकी उपलब्धि बुद्धि द्वारा नहीं वरन् प्रतिभान (Intuition) द्वारा ही हो सकती है। यहीं बर्गसाँ का प्राणवाद है।

(4) **विचारधारा का युग** (The Age of Ideology)—पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में प्रथम शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी का दर्शन **आस्था का युग** (The Age of Belief), पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी का दर्शन **साहस का युग** (The Age of Adventure), सत्रहवीं शताब्दी का युग **बुद्धि का युग** (The Age of Reason), अट्ठारहवीं शताब्दी का **दर्शन प्रबोध का युग** (The Age of Enlightenment) तथा उन्नीसवीं शताब्दी का दर्शन **विचारधारा का युग** (The Age of Ideology) कहा जाता है। इस युग में ज्ञान, जीव, जगत, और ईश्वर के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। अर्वाचीन दर्शन के वैज्ञानिक इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी की विभिन्न विचारधाराओं : समीक्षावाद, विज्ञानवाद, अर्थ-क्रियावाद तथा प्राणवाद का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उपर्युक्त सभी विचारधाराएँ एक-दूसरे से पृथक् हैं पर फिर भी वे एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। किसी भी देश के दर्शन के इतिहास में कोई भी विचारधारा अपने से पूर्ववर्ती विचारधारा का परिणाम होती है तथा उत्तरवर्ती विचारधारा का आधार होती है। यहाँ प्रत्येक विचारधारा के एक-एक प्रतिनिधि-दार्शनिक : काण्ट, हेगल, ब्रैडले, विलियम जेम्स एवं बर्गसाँ को लेकर उसकी प्रमुख समस्याओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

1

आलोचनात्मक विज्ञानवाद

इमैन्युएल काण्ट

(Immanuel Kant) (**1724—1804**)

जीवन-वृत्त—काण्ट आधुनिक दर्शन के महानतम दार्शनिक हैं। इनका जन्म 1724 में जर्मनी के कोनिग्ज़बर्ग (Konigsberg) नगर के एक दरिद्र परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम जे० जी० कैण्ट (J. G. Cant) था जो जीनसाज़ी का काम करते थे। बचपन में इनकी शिक्षा काफी अनुशासनबद्ध और धार्मिक रूप में हुई थी। बाद में वे कोनिग्जबर्ग विश्वविद्यालय में भरती हुये जहाँ उन्होंने गणित, विज्ञान और दर्शन की उच्चतम शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा समाप्त करके काण्ट पूरे नौ वर्ष तक जीविका-निर्वाह के लिये इधर-उधर के सम्पन्न परिवारों में शिक्षक का कार्य करते रहे। पुनः, 1770 में कोनिग्ज़बर्ग विश्वविद्यालय में एक साधारण प्राध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति हो गई जहाँ अध्यापन के साथ-साथ छः वर्ष तक वे उप-ग्रंथालयी का कार्य भी सम्पादित करते थे। वे अपने प्रान्त के बाहर कभी नहीं गए। उनका जीवन बड़ा साधारण, सरल और ईमानदार था। काण्ट ने जीवन में विवाह नहीं किया। वे प्रत्येक व्यक्ति को साध्य-रूप मानते थे और किसी को अपनी इच्छा या वासना का साधन नहीं बनाना चाहते थे। उनका प्रत्येक कार्य निश्चित समय पर व नियमानुकूल हुआ करता था। कहा जाता है कि जब वे प्रातःकाल घूमने निकलते थे तो लोग उन्हें देखकर अपनी घड़ियाँ ठीक करते थे।

1797 में काण्ट ने अध्यापन-कार्य छोड़ दिया। उनके भीतर कर्तव्य-निष्ठा और सत्य-प्रेम कूट-कूट कर भरा था। उनके अन्दर संश्लेषणात्मक और प्रातिभ शक्ति होने के साथ-साथ विश्लेषणात्मक और विवेकमय बुद्धि का अपूर्व संयोग विद्यमान था। लाइब्नित्स ने जगत् की परिमाणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जहाँ संवेदना और विचार, भावना और ज्ञान तथा शुभ और अशुभ के बीच प्रकारात्मक भेद न होकर केवल मात्रात्मक भेद ही था। इसके विपरीत, काण्ट ने जगत की **गुणात्मक व्याख्या** प्रस्तुत की। उन्होंने स्वलक्षण परमार्थों, इन्द्रिय, बुद्धि, प्रज्ञा एवं आत्मा के विशिष्ट कार्यों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया।

रचनाएँ—प्रारम्भ में काण्ट ने दर्शन की अपेक्षा विज्ञान पर अधिक लिखा। जब लिस्बन में भूचाल आया तो उन्होंने **भूचाल के सिद्धान्तों** पर एक पुस्तक लिख दिया। उसी प्रकार इस प्रश्न पर कि क्या पश्चिमी वायु जब अटलाण्टिक सागर पार कर योरोप पहुँचती है, नम हो जाती है, उन्होंने वायु पर एक पुस्तक लिख डाली। **भौतिक भूगोल** (Physical Geography) एक ऐसा विषय था जिसमें काण्ट विशेष रुचि रखते थे। इस विषय का उनके दर्शन पर भी विशेष प्रभाव पड़ा था।

काण्ट की वैज्ञानिक रचनाओं में उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक है : **सामान्य प्राकृतिक इतिहास एवं खगोल सिद्धान्त** (General Natural History and Theory of the Heavens, 1755) जिसने आगे चलकर लाप्लाज की नीहारिका प्राक्कल्पना (Nebular Hypothesis) का रूप लिया। इस पुस्तक के द्वारा सौर्य-मण्डल की उत्पत्ति के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जब ह्यूम जैसे संशयवादियों ने काण्ट को ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में चुनौती दी तो काण्ट ने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम **भूत द्रष्टा के स्वप्न** (Dreams of a Ghost Seer) रक्खा। इस पुस्तक में उन्होंने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि ज्ञान में इन्द्रियानुभव की अपेक्षा बुद्धि और प्रतिभान का विशेष योगदान होता है।

काण्ट की दार्शनिक रचनाओं में उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक **शुद्ध बुद्धि की समीक्षा** (Critique of Pure Reason) है जो 1781 मे सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। इसका द्वितीय परिवर्तित संस्करण 1789 में प्रकाशित हुआ। 1783 में उनकी **प्रत्येक भावी तत्वविज्ञान के लिए प्राक्कथन** (Prolegomena to every Future Metaphysics) प्रकाशित हुई जिसमें तत्व-विज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया। इसके बाद 1788 में नीति-विज्ञान पर उनकी **व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा** (Critique of Practical Reason) प्रकाशित हुई। इसके बाद 1790 में उनकी दर्शन की तीसरी महत्वपूर्ण पुस्तक **सौन्दर्य-बुद्धि की समीक्षा** (Critique of Judgment) प्रकाशित हुई। इन महत्वपूर्ण पुस्तकों के अतिरिक्त भी काण्ट ने दर्जनों पुस्तकें लिखी जिनमें सभी का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—केवल बुद्धि की परिधि के भीतर धर्म (Religion within the Limits of Reason only, 1793), प्राकृतिक विज्ञान के तात्विक अवयव (The Metaphysical Elements of Natural Science, 1786). नीतिशास्त्र का तत्वविज्ञान (Metaphysics of Ethics, 1797)। इन पुस्तकों के अतिरिक्त काण्ट ने सैकड़ों दार्शनिक लेख लिखे हैं, जो दर्शन के विविध पक्षों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

दार्शनिक पृष्ठभूमि—सर्वप्रथम काण्ट की शिक्षा **वुल्फ** (Wolff) के मताग्रही बुद्धिवाद में हुई थी। मताग्रही बुद्धिवाद (Dogmatic Rationalism) के प्रति उनकी निष्ठा पर्याप्त समय तक बनी रही। बाद में उन्होंने अनुभव किया कि बुद्धिवाद हमें ज्ञान में निश्चयात्मकता तो दे सकता है पर सत्यता नहीं दे सकता। ज्ञान में सत्यता लाने के लिए अनुभववाद की शरण में जाना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए वे ब्रिटिश दर्शन विशेषकर **ह्यूम** की ओर आकर्षित हुए। आगे चलकर अनुभववाद के भीतर भी उन्हें त्रुटियाँ दिखाई देने लगीं। उन्होंने अनुभव किया कि अनुभववाद की स्वाभाविक परिणति संशयवाद (Scepticism) में ही हो सकती है। संशयवाद एक आत्मघाती सिद्धान्त है जो कभी भी दर्शन का निष्कर्ष नहीं हो सकता। संशयवाद की त्रुटियों को देखकर एक बार पुनः वे बुद्धिवाद की ओर आकर्षित हुए। **लाइब्नित्स** के नवीन लेखों (Nouveaux Essais) ने उन्हें विशेष प्रभावित किया। पर अन्त में उन्होंने यह भी अनुभव किया कि विशुद्ध बुद्धिवाद ज्ञान को सत्यता प्रदान नहीं कर सकता। अतः काण्ट एक बार पुनः अनुभववाद की ओर आकृष्ट हुए। अन्ततः **ह्यूम** ने उनकी मताग्रही निद्रा को सदा के लिए भंग कर दिया जिसके परिणामस्वरूप उनकी

संसार-प्रसिद्ध पुस्तक "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" 1781 में प्रकाशित हुई। "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" में काण्ट ने अपने आलोचनात्मक दर्शन का प्रतिपादन किया है। इसमें उन्होंने बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों के गुण-दोषों का वर्णन करते हुए उनके केवल गुणों के आधार पर आलोचनात्मक दर्शन (Critical Philosophy) की स्थापना की। काण्ट के अनुसार अनिवार्यता और सत्यता ज्ञान के दो प्रमुख लक्षण हैं। ज्ञान की अनिवार्यता बुद्धि प्रदान करती है तथा ज्ञान की सत्यता अनुभव से आती है। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति में बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों का योगदान होता है। काण्ट का यही आलोचनात्मक दर्शन है।

काण्ट की प्रमुख समस्या

दार्शनिक संसार में जब काण्ट का अवतरण हुआ, उनके समक्ष कई समस्याएँ प्रस्तुत हुईं जिनका समुचित और यथेष्ट समाधान आवश्यक था। समस्याओं के समाधान के पूर्व उन सारी समस्याओं पर विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है जिनके युगपद समाधान के लिए काण्ट ने अपने आलोचनात्मक दर्शन का प्रतिपादन किया था। उनमें से कुछ प्रमुख समस्याएँ निम्न हैं :—

(अ) काण्ट ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा यह अनुभव किया कि अनुभववादी दर्शन की साक्षात परिणति संशयवाद (Scepticism), अज्ञेयवाद (Agnosticism) और सम्भाव्यवाद (Probabilism) है। अतः अनुभववाद जो स्वयं आत्मघाती है, हमारी दार्शनिक समस्याओं का समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता। उसी प्रकार विशुद्ध बुद्धिवाद का सम्यक् विश्लेषण करने के बाद काण्ट इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बुद्धिवाद ज्ञान को निश्चयात्मकता या अनिवार्यता तो दे सकता है पर उसे सत्यता या यथार्थता प्रदान नहीं कर सकता। डेकार्ट्स और स्पिनोज़ा ने द्रव्य, गुण और पर्याय के माध्यम से जगत् की व्याख्या की तथा लाइब्नित्स ने चिदणुओं के द्वारा उसे समझाने का प्रयत्न किया। अब इस बात का निर्णय, अनुभव की अनुपस्थिति में, कौन कर सकता है कि जगत् में द्रव्य, गुण, पर्याय या चिदणु हैं अथवा नहीं हैं। डेकार्ट्स, स्पिनोज़ा और लाइब्नित्स तीनों बुद्धिवाद में अटूट निष्ठा व्यक्त करते हुये भी तीन भिन्न प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। एक ही बुद्धिवाद के आधार पर डेकार्ट्स ने तीन तत्वों (ईश्वर, आत्मा और जड़) में विश्वास किया; स्पिनोज़ा ने केवल एक तत्व (ईश्वर) में विश्वास किया; इसके विपरीत लाइब्नित्स ने असंख्य तत्वों (चिदणुओं) में विश्वास प्रकट किया। अब कैसे माना जा सकता है कि बुद्धिवाद हमें निश्चयात्मक और असंदिग्ध ज्ञान प्रदान करता है।' काण्ट ने कहा कि विशुद्ध बुद्धिवाद रूढ़िवाद, मताग्रहवाद या अंधविश्वास को बढ़ावा देता है। इससे हमें सत्य या यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। काण्ट के समक्ष यह विकट समस्या थी कि बुद्धिवाद या अनुभववाद में किसे स्वीकार किया जाय और किसे अस्वीकार किया जाय ? उन्होंने इस विकल्प पर भी विचार किया कि क्या दोनों के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है ?

(ब) काण्ट के समक्ष ज्ञान की समस्या का एक दूसरा भी पहलू विद्यमान था। उन्होंने देखा कि प्रत्यक्ष हमें किसी "क्षणिक" या "विशिष्ट" वस्तु का ही ज्ञान प्राप्त करा सकता है। प्रत्यक्ष द्वारा सभी दृष्टान्तों का ज्ञान असम्भव है। अतः प्रत्यक्ष हमें

अनिवार्य और सार्वभौम सत्यों का ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकता। किन्तु यदि किसी ज्ञान में अनिवार्यता और सार्वभौमता नहीं है तो उसे ज्ञान की संज्ञा दी ही नहीं जा सकती। इसी प्रकार बुद्धि द्वारा प्रदत्त ज्ञान मे अनिवार्यता और सार्वभौमता तो होती है पर उसमें सत्यता या यथार्थता है अथवा नहीं इसका निर्णय बुद्धि नहीं कर सकती। **बुद्धि स्वयं अपने को प्रमाणित नहीं कर सकती।** काण्ट के समक्ष यह ज्वलन्त समस्या थी कि प्रत्यक्ष और बुद्धि के इस संघर्ष को किस प्रकार समाप्त किया जाय।

(स) काण्ट के पहले गणित और तत्वविज्ञान के अन्तर को भी ठीक प्रकार नहीं समझा गया। गणित अपने प्रत्ययों को प्रतिभानों (Intuitions) के रूप में परिवर्तित कर सकता है, अपने विषयों को उत्पन्न कर सकता है और यहाँ तक कि इन्द्रिय-विषय के रूप में भी अपने समक्ष विषयों को लाकर खडा कर सकता है। तत्व-विज्ञान के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं है। बुद्धिवाद ने गणित और तत्वविज्ञान के इस अन्तर को नहीं समझा। तत्वविज्ञान के विषयों को मानवीय मन उत्पन्न नहीं कर सकता; उन्हें ऐन्द्रिक विषय के रूप में मानवीय मन के समक्ष उपस्थित होना पड़ता है। तत्वविज्ञान तत्व (Real) के विज्ञान होने का दावा तो अवश्य करता है पर केवल विचार या प्रत्ययों से तत्व को निष्कर्षित नहीं किया जा सकता। **तत्व अनुभूति का विषय है;** उसे विचारों या प्रत्ययों के माध्यम से सिद्ध नहीं किया जा सकता। अदृश्य और अतीन्द्रिय वस्तु को दर्शन का विषय बनाकर बुद्धिवाद ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि विशुद्ध बुद्धि वस्तुओं को उत्पन्न कर सकती है। वास्तविकता यह है कि प्रत्ययों के माध्यम से वस्तुओं की निष्पत्ति नहीं की जा सकती। प्रतिभान (Intuition) के द्वारा जो वस्तुयें मन के समक्ष उपस्थित होती हैं उन्हें प्रत्ययों के माध्यम से समझने की कोशिश अवश्य की जा सकती है। यह सही है कि अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्रत्यय हमारे भीतर विद्यमान है पर उनके माध्यम से अतीन्द्रिय का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

गणित और तत्वविज्ञान के बीच समानान्तरवाद स्थापित करने वाले भूल गये कि गणित की सारी प्रगति प्रतिभान (Intuition) द्वारा होती है। यह ठीक है कि गणित अपने निष्कर्षों की सिद्धि और पुष्टि के लिये हेत्वानुमानों (Syllogisms) का प्रयोग करता है पर इन हेत्वानुमानों द्वारा किसी नवीन ज्ञान की स्थापना नहीं की जा सकती। हेत्वानुमान प्रतिभान द्वारा प्राप्त ज्ञान की ही व्याख्या ओर स्पष्टीकरण करते हैं। इसके विपरीत, तत्वविज्ञान में केवल एक बार प्रतिभान द्वारा कुछ स्वयं-सिद्धियों को प्राप्त करने की आवश्यकता होती है; शेष ज्ञान हेत्वानुमानों द्वारा ही प्राप्त होता है। इस प्रकार गणित और तत्वविज्ञान में मौलिक भेद है। गणित के वाक्य अनिवार्य होने के साथ संश्लेषणात्मक (Synthetic) होते हैं। इसके विपरीत तत्वविज्ञान के वाक्य जैसा बुद्धिवादियों ने सोचा था केवल विश्लेषणात्मक ही होते हैं क्योंकि वे कुछ बौद्धिक स्वयं-सिद्धियों पर आधारित होते हैं।

(द) दर्शन के क्षेत्र में एक चौथी समस्या जो काण्ट के समय में व्याप्त थी वह ज्ञान के **उद्गम** और **प्रामाणिकता** के विषय में थी। बुद्धिवाद का यह कथन बिलकुल सही है कि कुछ विज्ञान ऐसे हैं जिनकी उत्पत्ति इन्द्रियों से नहीं होती। यदि ज्ञान सम्भव है तो कुछ विज्ञान ऐसे अवश्य होने चाहिये जो इन्द्रिय-सापेक्ष न होकर बुद्धि-

सापेक्ष हों अन्यथा ज्ञान में सार्वभौमता और अनिवार्यता हो ही नहीं सकती। सार्वभौमता, अनिवार्यता और प्रामाणिकता बुद्धि द्वारा ही सिद्ध हो सकती है। इसके विपरीत, अनुभववाद का यह कहना भी सही है कि ज्ञान की सत्यता या यथार्थता अनुभव से ही निष्पन्न हो सकती है। कोई वस्तु ज्ञान का रूप तभी ले सकती है जब कि वह ऐन्द्रिक प्रतिभान (Sensuous Intuition) में एक वास्तविक विषय के रूप में उपस्थित हो। **बुद्धिवाद ज्ञान के उद्गम या उत्पत्ति के विषय में सही निर्णय करता है और अनुभववाद ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में यथार्थ निर्णय करता है।** दोनों के गुण-दोषों को संयुक्त कर काण्ट ने घोषित किया कि कुछ विज्ञान (जो ज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं) बुद्धि द्वारा उत्पन्न या प्रागनुभविक (Apriori) हैं किन्तु उनकी प्रामाणिकता प्रत्यक्ष जगत तक ही परिमित है। इस प्रकार बुद्धिवाद और अनुभववाद के बीच समन्वय स्थापित करने की समस्या काण्ट के समक्ष उपस्थित थी।

(य) काण्ट के पहले दर्शन-जगत में एक पाँचवी समस्या भी व्याप्त थी और वह थी दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method) के विषय में। समस्या यह थी कि दर्शन का अनुशीलन और संवर्धन आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) द्वारा हो सकता है या निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) द्वारा। बेकन जैसे अनुभववादियों ने आगमनात्मक प्रणाली पर विशेष बल दिया था क्योंकि उनके अनुसार इसी प्रणाली के आधार पर ज्ञान की वृद्धि की जा सकती है। इसके विपरीत बुद्धिवादियों ने दर्शन के लिए निगमनात्मक प्रणाली को विशेष महत्ता प्रदान की थी। उनके अनुसार हेत्वानुमान (Syllogism) के द्वारा ही प्रामाणिक ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है। आगमन हमारे ज्ञान का विस्तार तो करता है पर इसके द्वारा हमारे ज्ञान में सार्वभौमता नहीं आ सकती। इसके विपरीत, हेत्वानुमान की यह विशेषता है कि यह हमारे ज्ञान में सार्वभौमता और अनिवार्यता तो अवश्य लाता है पर इससे हमारे ज्ञान में वृद्धि कदापि नहीं हो सकती। काण्ट ने प्रश्न किया कि क्या ऐसी कोई दार्शनिक प्रणाली नहीं हो सकती जो एक ओर हमारे ज्ञान का विस्तार करे और दूसरी ओर उस ज्ञान में सार्वभौमता और अनिवार्यता भी पाई जाय? काण्ट की सुप्रसिद्ध पुस्तक "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" की यही प्रमुख समस्या थी।

(फ) अनुभववादियों ने इन्द्रियों का अधिमूल्यांकन एवं बुद्धि का अवमूल्यांकन किया था। उन्होंने ज्ञान के सक्रिय (Active) स्वभाव की सर्वथा उपेक्षा की थी। इसके विपरीत, बुद्धिवादियों ने बुद्धि का अधिमूल्यांकन व इन्द्रियों का अवमूल्यांकन किया था। दोनों के विचार त्रुटिपूर्ण थे। ज्ञान न तो केवल इन्द्रियों द्वारा निष्पन्न हो सकता है और न केवल बुद्धि द्वारा ही। ज्ञान के लिए इन्द्रिय और बुद्धि, निष्क्रिय और सक्रिय, प्रतिभानात्मक (Intuitive) और प्रत्ययात्मक (Coneeptual) दोनों अवयवों की आवश्यकता होती है। इन्द्रियाँ हमारे ज्ञान को द्रव्य (Matter) प्रदान करती हैं और बुद्धि उसे स्वरूप (Form) देती है। ज्ञान के लिए द्रव्य और स्वरूप दोनों की आवश्यकता होती है।

(च) निर्णय (Judgment) के स्वरूप के विषय में भी बुद्धिवादियों और अनुभववादियों के बीच पर्याप्त मतभेद था। बुद्धिवादियों ने निर्णय को एक सक्रिय

प्रक्रिया के रूप में अवश्य ग्रहण किया था किन्तु केवल प्रागनुभविक प्रत्ययों के विश्लेषण से ज्ञान का निर्माण नहीं हो सकता। अनुभववादियों के अनुसार निर्णय संवेदनाओं के बीच संतुलन व भेदबोध का परिणाम होता है। पर वास्तविकता यह है कि निर्णय संवेदनाओं के बीच स्थित सम्बन्धों का अनुसंधान न करके उन्हें स्वयं स्थापित करता है। निर्णय के वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण ही यदि एक और संशयवाद का जन्म होता है तो दूसरी ओर अंधविश्वास की उत्पत्ति होती है। काण्ट ने निर्णय के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया।

(छ) बुद्धिवादियों और अनुभववादियों के बीच प्रत्यक्ष और विचार के संबन्ध के विषय में भी पर्याप्त मदभेद था। अनुभववादियों के अनुसार विचार प्रत्यक्ष का ही परिवर्तित, संशोधित या उदात्त रूप है; बुद्धिवाद के अनुसार प्रत्यक्ष एक प्रकार का अस्पष्ट और निम्न कोटि का विचार है। दोनो के अनुसार प्रत्यक्ष और विचार में प्रकार-भेद न होकर केवल मात्रा का ही भेद है। काण्ट के अनुसार दोनों के विचार त्रुटिपूर्ण है। **प्रत्यक्ष और विचार में मात्रा का भेद न होकर प्रकार-भेद है।** इन्द्रिय और बुद्धि दो सजातीय शक्तियाँ न होकर दो विजातीय शक्तियाँ हैं। उन्हें एक मानना परम भूल है। जिस प्रकार डेकार्ट्स ने चैतन्य और विस्तार के तात्विक द्वैतवाद से अपने दर्शन का प्रारम्भ किया, उसी प्रकार काण्ट ने भी अपना समीक्षात्मक दर्शन प्रतिभान (Intuition) और विचार (Thought) के ज्ञान-प्रक्रियात्मक द्वैतवाद (Noetical Dualism) के साथ प्रारम्भ किया।

(ज) काण्ट के पहले के दार्शनिकों ने जो सबसे भयंकर भूल की थी वह यह थी कि उन्होंने ज्ञान की सम्भाव्यता के प्रश्न पर विचार किए बिना ही ज्ञान-प्राप्ति का विवेचन करना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि मानवीय मस्तिष्क के भीतर ज्ञान प्राप्त करने की अचूक क्षमता है। वे सोच भी नहीं सकते थे कि मानवीय मस्तिष्क उन्हें ज्ञान-प्राप्ति में कभी धोखा दे सकता है। इसीलिए काण्ट ने अपने से पूर्व-दर्शन को रूढ़िवादी (Dogmatic) कहा था। बुद्धि की क्षमता में उनका विश्वास एक धर्म-सिद्धान्त बन चुका था। रूढ़िवादियों की तरह संशयवादी (Sceptic) भी ज्ञान के क्षेत्र में कम अपराधी नहीं थे। मस्तिष्क की क्षमता में रूढ़िवादियों का जितना अबौद्धिक विश्वास था उतना ही संशयवादियों का उसमें अबौद्धिक अविश्वास था। इनमें से किसी ने भी मानवीय मस्तिष्क की क्षमता या अक्षमता का विश्लेषण या अनुसंधान नहीं किया। काण्ट ही ऐसे प्रथम दार्शनिक थे जिन्होंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया कि ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, ज्ञान किन-किन घटकों से मिलकर निर्मित होता है तथा ज्ञान की क्या सीमा है ? शुद्ध बुद्धि की समीक्षा में काण्ट ने इन्हीं समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया। किन्तु काण्ट के समाधान को हम तब तक ठीक प्रकार नहीं समझ सकते जब तक कि हम यह न जान लें कि काण्ट के दर्शन की प्रमुख पूर्व-मान्यताएँ (Pre-suppositons) क्या हैं ? इन पूर्व-मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में ही हम काण्ट के समाधान को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं।

काण्ट के दर्शन की पूर्व-मान्यताएँ

काण्ट का समीक्षात्मक दर्शन कुछ पूर्व-मान्यताओं पर स्थापित किया गया है। ये मान्यताएँ मुख्यतया तीन प्रकार की हैं: कुछ मनोवैज्ञानिक (Psychological)

पूर्व-मान्यताएँ हैं जो निर्णयों और अनुमानों के वर्गीकरण में परिलक्षित होती हैं। कुछ पूर्व-मान्यताओं का स्वभाव विशुद्ध तार्किक(Logical) है जो अतीन्द्रिय रूपों और बुद्धि विकल्पों में दिखाई देता है। इनके अतिरिक्त कुछ पूर्व-मान्यताएँ तात्विक (Metaphysical) स्वभाव की हैं जिनका प्रतिनिधित्व काण्ट के वस्तु-सन्मात्र (Things-in-themselves) करते हैं। अब हम काण्ट के दर्शन की कुछ प्रमुख पूर्व-मान्यताओं के विषय में विचार करेंगे :—

1. काण्ट ने मानवीय मस्तिष्क की छ: शक्तियों (Faculties) का वर्णन किया है जिनमें प्रथम **संवेदनशक्ति** (Faculty of Sensibility) है जिसके द्वारा हम बाह्य संवेदनाओं को ग्रहण करते हैं; द्वितीय **बुद्धि-शक्ति** (Faculty of Understanding) है जिसके द्वारा हम बुद्धि-विकल्पों द्वारा बाह्य संवेदनाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तृतीय **भाव-शक्ति** (Faculty of Feeling) जिसके द्वारा हमें सुख, दुःख, इच्छाओं इत्यादि का बोध होता है; चौथी **संकल्प-शक्ति** (Faculty of Will) है जिसके द्वारा हम नैतिक-अनैतिक का बोध कर उनके अनुसार आचरण करते हैं। बुद्धि-शक्ति या ज्ञान-शक्ति (Faculty of Cognition) को काण्ट ने पुनः तीन भागों में विभाजित किया है : प्रथम **प्रत्यय-शक्ति** (Faculty of Concepts), द्वितीय **निर्णय-शक्ति** (Faculty of Judgment) और तीसरा **अनुमान-शक्ति** (Faculty of Inference)। इस प्रकार कुल मिला कर काण्ट ने छ: मानवीय शक्तियों का वर्णन किया है जिनके द्वारा हमारे जीवन के कार्य संचालित होते हैं।

2. काण्ट की दूसरी महत्वपूर्ण एवं मूलभूत मान्यता संवेदन-शक्ति एवं ज्ञान-शक्ति के स्वभाव एवं पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में है। इन दोनों शक्तियों में मात्रा का भेद न होकर प्रकार-भेद पाया जाता है। संवेद्यता (Sensibility) संवेदन प्राप्त करने की शक्ति है। इसी प्रकार प्रत्ययों या विकल्पों के प्राप्त करने की शक्ति को बुद्धि (Understanding) कहते हैं। संवेदनाएँ विशेष हैं, पर विकल्प सामान्य प्रतिनिधान (General Representations) होते हैं। संवेदनाएँ बाह्य वस्तुओं के साथ अपरोक्ष सम्बन्ध स्थापित करती हैं। पर विकल्पों का बाह्य वस्तुओं के साथ परोक्ष सम्बन्ध ही होता है। संवेदन में आत्मा केवल संग्राहक होती है पर संप्रत्ययन (Conception) में आत्मा स्वतः प्रवृत्त हो जाती है। काण्ट के शब्दों में : [1]"**संवेदनाओं के द्वारा वस्तुएँ प्रदत्त होती हैं, प्रत्ययों के द्वारा वे परिकल्पित होती** हैं।'[1]इस विवेचन से स्पष्ट है कि संवेदनाओं और प्रत्ययों में से किसी एक के द्वारा ही ज्ञान का निर्माण नहीं किया जा सकता। ज्ञान-प्राप्ति के लिए दोनों ही तत्वों की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से बुद्धिवादी और अनुभववादी दोनों ही दोषी हैं क्योंकि दोनों ने ही ज्ञान के निर्माण के लिए इनमें से केवल एक ही तत्व की आवश्यकता पर बल दिया था।

3. प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के लिए द्रव्य (Matter) और आकार (Form) दोनों की आवश्यकता होती है जिन्हें हम उपादान कारण और स्वरूप कारण कह सकते हैं। 'घट' नामक' पदार्थ के निर्माण के लिए मिट्टी रूप उपादान और विशिष्ट आकृति रूप आकार की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार ज्ञान के निर्माण के लिए इन्द्रिय-

---

1. काण्ट, "Through intuitions, objgects are given to us; through concepts, they are thought.'

स॑वेदन रूपी द्रव्य या उपादान की तथा बुद्धि-विकल्प रूपी स्वरूप देने वाले साँचे की आवश्यकता होती है। बुद्धि-विकल्पों के अभाव में हमें केवल अस्त-व्यस्त, विश्रृंखल एवं असम्बद्ध विशिष्ट इन्द्रिय-संवेदनों की ही वेदना होगी जो पशुओं को भी होती है। पर इसे ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार इन्द्रिय-संवेदनों के अभाव में बुद्धि विकल्प निष्क्रिय बने रहेंगे। संवेदन एवं बुद्धि के आकार आत्मा में प्रागनुभविक (Apriori) रूप में पहले से ही सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं, पर उन्हें सक्रिय बनाने के लिए बाह्य उत्तेजना की अनिवार्य आवश्यकता है। ज्योंही संवेदनाओं के रूप में आत्मा को बाह्य उत्तेजना प्राप्त होती है, संवेदन और बुद्धि के आकार सक्रिय होकर ज्ञान का निर्माण कर बैठते हैं। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आत्मा को ज्ञान कहीं बाहर से प्राप्त होता है। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, उसके कहीं बाहर से आने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। बाह्य उत्तेजनाएँ आत्मा को केवल इस बात का अवसर प्रदान करती है कि वह बीज रूप ज्ञान को विकसित करे। इसीलिए काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों को "मौलिक रूप में अर्जित" (Originally Acquired) कहा है। इसी बात को ध्यान में रखकर काण्ट ने अपनी "शुद्ध बुद्धि की परीक्षा" नामक पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा, "**यद्यपि हमारे समस्त ज्ञान का प्रारम्भ अनुभव से होता** है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि उसकी उत्पत्ति अनुभव से होती है।"[1] बुद्धि विकल्पों को यहाँ प्रागनुभविक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे काल की दृष्टि से अनुभव से पहले आते हैं, उन्हें प्रागनुभविक कहने का मात्र इतना अर्थ है कि वे अनुभव पर आश्रित नहीं है। वे अनुभव से पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। वे अनुभव निरपेक्ष हैं।

ज्ञान के उपर्युक्त विश्लेषण को हम एक दूसरे ढंग से भी प्रस्तुत कर सकते हैं। काण्ट के अनुसार वास्तविक ज्ञान में, यथार्थता सार्वभौमता एवं अनिवार्यता नामक तीन गुण सदा विद्यमान रहना चाहिए। ज्ञान में सत्यता या यथार्थता इन्द्रिय-संवेदनों द्वारा उत्पन्न होती है पर उसकी सार्वभौमता और अनिवार्यता बुद्धि-विकल्पों द्वारा उत्पन्न होती है। इन्द्रिय-संवेदनों एवं बुद्धि-विकल्पों के बीच परस्पर पूरकता या अन्योन्याश्रयता का सम्बन्ध है। इसी बात को काण्ट ने इस प्रकार व्यक्त किया है। "इन्द्रिय-संवेदनों के बिना बुद्धि-विकल्प पंगु या शून्य है तथा बुद्धि-विकल्पों के बिना इन्द्रिय-सम्वेदन अन्ध है।"[2]

(4) काण्ट ने अपने दर्शन को समीक्षात्मक एवं अतीन्द्रियविज्ञानवाद की संज्ञा दी है। उन्होंनें अपने दर्शन को समीक्षात्मक इसलिए कहा कि उसमें बुद्धिवाद एवं अनुभववाद दोनों की समीक्षा की गयी है। काण्टके अनुसार बुद्धि का पर्यवसान रूढ़िवाद एवं अन्धविश्वास में होता है तथा अनुभववाद का पर्यवसान सन्देहवाद में होता है। यह ठीक है कि हमें अनुभववाद ज्ञान का उपादान प्रदान करता है तथा बुद्धिवाद

---

1. प्रस्तावना, "But, although all our knowledge begins with experience it by no means follows that it all originates from experienc."

2. काण्ट, "Concepts without percepts are empty and percepts whith out concepts are blind".

हमें ज्ञान का स्वरूप देता है पर दोनों पृथक-पृथक रूप में ज्ञान का निर्माण नहीं कर सकते । ज्ञान के निर्माण में दोनों के परस्पर सहयोग की आवश्यकता होती है । इस प्रकार काण्ट का दर्शन बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों के दोषों से बचने का प्रयत्न करता है । इसीलिए उसके दर्शन को समीक्षात्मक कहते हैं ।

अब हम अतीन्द्रिय शब्द पर विचार करेंगे । हमने देख लिया कि ज्ञान के निर्माण के लिए इन्द्रिय-संवेदन एवं बुद्धि-विकल्प दोनों की आवश्यकता पड़ती है । इनमें इन्द्रिय-सम्वेदन हमें प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त होते है पर जहाँ तक बुद्धि-विकल्पों का प्रश्न है, वें अतीन्द्रिय (Transcendental) हैं । उन्हें अनुभव द्वारा निष्कर्षित नहीं किया जा सकता क्योंकि उनके बिना अनुभव की प्राप्ति नहीं हो सकती । काण्ट ने स्वयं कहा है कि ज्ञान हमारे अनुभव का विषय हो सकता है पर उसकी प्रागपेक्षाएँ हमारे अनुभव के विषय नहीं हो सकतीं । ज्ञान की प्रागपेक्षाएँ हमारे अनुभव के बिषय इस लिए नहीं हो सकती क्योंकि क्योंकि स्वयं अनुभव उन प्रागपेक्षाओ पर आश्रित है । इसलिए काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों को अतीन्द्रिय कहा है ।

अब हम काण्ट द्वारा प्रयुक्त तृतीय शब्द विज्ञानवाद पर विचार करेगें । काण्ट ने यहाँ विज्ञानवाद शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है । विज्ञानवाद के दो रूप हैं—प्रथम तत्वमीमांसीय विज्ञानवाद (Metaphysical Idealism) है जिसके अनुसार तत्व भौतिक न होकर चेतन है । द्वितीय ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद (Epistemological Idealism) है जिसके अनुसार ज्ञान का विषय ज्ञाता के ऊपर आश्रित होता है । काण्ट का विज्ञान तत्वमीमांसीय विज्ञानवाद बिल्कुल नहीं है । हाँ, उसे ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद कहा जा सकता है । पर पूर्णरूप से काण्ट ज्ञान-मीमांसीय विज्ञानवादी भी नहीं है । उनके अनुसार वास्तविक ज्ञान अपनी सामग्री के लिए इन्द्रियानुभव पर निर्भर रहता है । काण्ट का दर्शन दृष्टि सृष्टिवाद (Subjective Idealism) भी नहीं है । ज्ञान का विषय हमारी मनोमय कल्पना नहीं है । ज्ञान के विषय पारमार्थिक स्व-लक्षणों (Things-in-themselves) द्वारा उत्थापित होते है जिनका हमें कदापि ज्ञान नहीं हो सकता । इस दृष्टि से काण्ट के दर्शन को आनुभविक वस्तुवाद (Empirical Realism) एवं अतीन्द्रिय विज्ञानवाद (Transcendental Idealism) कहा जाता है ।

काण्ट द्वारा ज्ञान की समस्या का समाधान

काण्ट के पहले पाश्चात्य दर्शन-जगत में दो प्रकार की विधारधाराएँ प्रचलित थीं । प्रथम बुद्धिवाद (Rationalism) की जिसके डेकार्टस, स्पिनोजा और लाइब्नित्ज मुख्य प्रतिनिधि थे, दूसरी अनुभववाद (Empiricism) की विचारधारा थी जिसके लॉक, बर्कले और ह्यूम मुख्य प्रतिनिधि थे । बुद्धिवाद के इस विचार के बावजूद कि मानवीय बुद्धि के भीतर ज्ञान-प्राप्ति की अपूर्व क्षमता है, डेकार्टस, स्पिनोजा, लाइब्नित्स तत्व के विषय में एक मत न हो सके । इससे काण्ट ने यह निष्कर्ष निकाला कि कोरे बुद्धिवाद से वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती । लॉक, बर्कले एवं ह्यूम का अनुभववाद भी ज्ञान की समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका । ह्यूम का संदेहवाद (Scepticism) लॉक के अनुभववाद का साक्षात परिणाम था । प्रारम्भ

में काण्ट, लाइब्नित्स और वुल्फ के बुद्धिवाद से विशेष प्रभावित थे, किन्तु ह्यूम के तर्क प्रहारों ने बुद्धिवाद का प्रासाद सदा के लिए ढहा दिया। ह्यूम के सन्देहवाद ने काण्ट को इतना प्रभावित किया कि उन्हें कहना पड़ा कि "ह्यूम ने मुझे रूढ़िवादी मोह-निद्रा से जगा दिया।"[1] उन्होंने ह्यूम के सन्देहवाद को काफी गम्भीरता से लिया। रूढ़िवादी मोह-निद्रा से उदबुद्ध होने पर काण्ट ने अनुभव किया कि ह्यूम के संशयवादी निष्कर्ष लॉक के अनुभववाद के साक्षात् परिणाम हैं। अतः, उन्होंने लॉक की प्रारम्भिक प्राक्कल्पनाओं को प्रतिवर्तित करके घोषित किया कि **ज्ञान को बाह्य वस्तुओं के अनुरूप न होकर स्वयं बाह्य वस्तुओं को ही ज्ञान के अनुरूप होना चाहिए।** इसकी तुलना काण्ट ने खगोल-विद्या के कॉपरनिकस की क्रान्ति से की है। कॉपरनिकस के पहले खगोल-विद्या मे पृथ्वी को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र माना जाता था। इसे भू-केन्द्रिक सिद्धान्त (Geo-centric Theory) कहते थे। बाद में कॉपरनिकस ने सिद्ध किया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र पृथ्वी न होकर सूर्य है। खगोल-विद्या में इसे सूर्य-केन्द्रिक सिद्धान्त (Heleo-centric Theory) कहते हैं। खगोल-विद्या में इसे कॉपरनिकस की क्रान्ति कहते हैं। काण्ट ने भी दर्शन के क्षेत्र में कॉपरनिकस जैसी क्रान्ति उपस्थित की। उन्होंने स्पष्ट रूप में देखा कि यदि ज्ञान के लिए आनुभविक सोपपाधिकता (Empirical Conditionality) के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो ज्ञान असम्भव हो जायगा। यही कारण है कि उन्होंने ज्ञान को सम्भव बनाने के लिए **अतीन्द्रिय सोपपाधिकता** (Transcendental Conditionality) में विश्वास कर लिया। यह ठीक है कि इसके लिए काण्ट को 'अज्ञेयवाद, (Agnosticism) का दोष भागी बनना पड़ा पर ज्ञान को सम्भव बनाने के लिए इस मूल्य को चुकाने के सिवा उनके पास कोई विकल्प नहीं था। ज्ञान की प्राप्ति के लिए काण्ट ने इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि को अधिक महत्व दिया। इस सन्दर्भ में उनकी इस उक्ति कि "**बुद्धि प्रकृति को नियमित करती है**" का विशेष महत्व है।"[2]

शुद्ध बुद्धि की समीक्षा की प्रमुख समस्या

(Main Problem for the Critique of Pure Reason)

शुद्ध बुद्धि की परीक्षा की प्रमुख समस्या थी : अनुभव-निरपेक्ष संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य किस प्रकार सम्भव हैं ?[3] इन तर्क-वाक्यों की यह विशेषता होती है कि इनमें सत्यता, सार्वभौमता एवं अनिवार्यता सभी गुण पाए जाते हैं। किन्तु अनुभव-निरपेक्ष संश्लेषणात्मक वाक्यों पर विचार करने के पहले हमें उन परिस्थितियों पर विचार कर लेना आवश्यक है जिन्होंने काण्ट के दर्शन के निर्माण में सहायता पहुँचाई।

संश्लेषणात्मक एवं अनुभव-निरपेक्ष वाक्य के निर्माण में काण्ट को प्रथम प्रेरणा थेलीज (Thales) से मिली। थेलीज ने कहा कि यदि हमें त्रिभुज की विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त करना है तो इसके लिये हमें किसी आनुभविक त्रिभुज के निरीक्षण करने की आवश्यकता नहीं है वरन् केवल आवश्यकता इस बात की है कि हम त्रिभुज

1. "Hume aroused me from my dogmatic slumber."
2. काण्ट, "Understanding makes nature."
3. "How are apriori Synthetic Judgments possible ?"

के उस प्रत्यय को प्रस्तुत करें जिसका कि हमने प्रागनुभविक रूप में अपने मस्तिष्क में निर्माण कर रखा है। पुनः, किसी आनुभविक त्रिभुज में हम यह देखें कि हमारे मानक त्रिभुज का यह आनुभविक त्रिभुज किस सीमा तक प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार जब गेलीलियो (Galileo) यह पता लगाना चाहता था कि शून्यक (Vacuum) में सिक्का और पंख एक साथ ही पृथ्वी पर गिरते हैं तो इसके लिये उसे किसी वस्तु के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि प्रकृति में शून्यक कहीं है ही नहीं। इन प्रयोगों से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि प्रकृति के पास शिष्य बनकर नहीं जाती; वह न्यायाधीश के समान प्रश्न पूछती है और उसका उत्तर देने के लिये प्रकृति को बाध्य करती है।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि काण्ट ने अपने संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों के द्वारा किस प्रकार बुद्धिवाद एवं अनुभववाद के बीच समन्वय स्थापित किया। काण्ट वाक्यों को पहले दो भागों में विभाजित करते हैं; पुनः उनमें एक को दुबारा दो भागों में विभाजित करते हैं। उनका वाक्यों का सम्पूर्ण वर्गीकरण निम्न प्रकार का है—
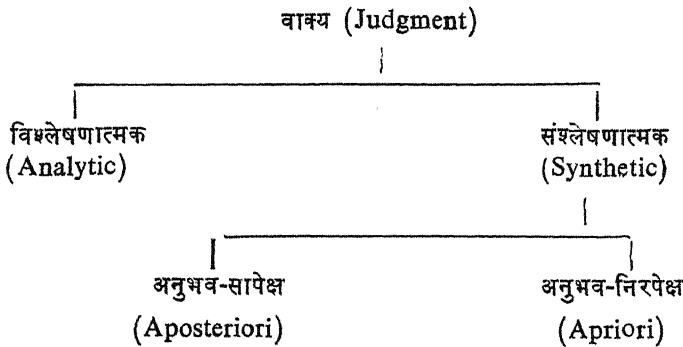
विश्लेषणात्मक वाक्य वे वाक्य हैं जिनमें विधेय उद्देश्य के भीतर पहले से ही विद्यमान होता है। इसमें विधेय का उद्देश्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। इसमें विधेय उद्देश्य के विषय में कोई नवीन बात नहीं बताता; वह उद्देश्य में निहित विचारों का मात्र विश्लेषण करता है। उदाहरण के लिए "पिण्ड विस्तृत होता है" (Body is extended), विश्लेषणात्मक वाक्य का उत्तम उदाहरण है। इसके विपरीत, **संश्लेषणात्मक वाक्य** वे वाक्य हैं जिनमें विधेय उद्देश्य के भीतर पहले से ही विद्यमान नहीं होता। इसमें विधेय सदा उद्देश्य के बाहर होता है यद्यपि वह उद्देश्य के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्धित अवश्य रहता है। यहाँ विधेय उद्देश्य के विषय में कोई नवीन सूचना अवश्य प्रदान करता है। उदाहरण के लिये "पिण्ड भारी है" (Boby has weight) संश्लेषणात्मक वाक्य का उत्तम उदाहरण है।

इसके बाद संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य को काण्ट दो भागों में विभाजित करते हैं—प्रथम अनुभव-सापेक्ष वाक्य तथा द्वितीय अनुभव-निरपेक्ष वाक्य।

संश्लेषणात्मक अनुभव-सापेक्ष वाक्य वे वाक्य हैं जिनमें विधेय उद्देश्य की सीमा के बाहर तो होता ही है, साथ-साथ वह वाक्य पूर्ण रूप से अनुभव पर आश्रित होता है। उदाहरण के लिये "अग्नि जलाती है" (Fire burns) यह वाक्य संश्लेषणात्मक होने के साथ-साथ अनुभवाश्रित भी है क्योंकि बिना अनुभव के हमें इस वाक्य का बोध नहीं हो सकता।

संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य वे वाक्य हैं जिनमें विधेय उद्देश्य की सीमा के बाहर तो होता है, पर वह अनुभवाश्रित न होकर अनुभव से विलकुल स्वतंत्र होता है। उदाहरण के लिये "प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है" (Every event must have its cause) संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य का एक उत्तम दृष्टान्त है। यह संश्लेषणात्मक वाक्य है क्योंकि कारण का प्रत्यय घटना या कार्य के प्रत्यय से बिलकुल पृथक् है। कारण का प्रत्यय कार्य के प्रत्यय में उसी प्रकार शामिल नहीं है जिस प्रकार कि विस्तार का प्रत्यय पिण्ड के प्रत्यय में शामिल होता है। पुनः, यह वाक्य संश्लेषणात्मक होते हुये भी अनुभव-सापेक्ष नहीं है। प्रत्येक अनुभव-सापेक्ष वाक्य संश्लेषणात्मक होता है पर प्रत्येक संश्लेषणात्मक वाक्य अनुभव-सापेक्ष नहीं होता। "प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्व होता है" यह वाक्य अनुभव-सापेक्ष इसलिये नहीं है कि स्वयं बहुत से अनुभव इस पर आश्रित हैं तथा इस वाक्य में जो अनिवार्यता और सार्वभौमता पाई जाती है वह अनुभव-सापेक्ष वाक्यों में मिलना असम्भव है। यह स्पष्ट है कि किसी वाक्य की अनिवार्यता और सार्वभौमता केवल बुद्धि से ही प्राप्त होती है। इसीलिए ऐसे वाक्यों को काण्ट ने संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य कहा है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त वाक्यों में हम किन वाक्यों को ज्ञान की श्रेणी में स्थान देंगे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि काण्ट उसी वाक्य को ज्ञान की श्रेणी में रखेगा जिसके भीतर सत्यता, सार्वभौमता व अनिवार्यता के गुण पाये जाते हों। इसी मापदण्ड के आधार पर उपर्युक्त वाक्यों की हम परीक्षा करेंगे। विश्लेषणात्मक वाक्य को ज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें सार्वभौमता व अनिवार्यता होने के बावजूद सत्यता नहीं पाई जाती। इसी प्रकार संश्लेषणात्मक अनुभव-सापेक्ष वाक्यों को भी ज्ञान की संज्ञा नहीं दे सकते क्योंकि उनमें सत्यता होते हुये भी सार्वभौमता व अनिवार्यता नहीं पाई जाती। काण्ट के अनुसार उसी वाक्य को हम ज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं जिसके भीतर सत्यता, सार्वभौमता व अनिवार्यता तीनों गुण पाये जाते हों। इस कसौटी पर केवल संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य (Synthetic apriori judgments) ही खरे उतरते हैं। ये वाक्य हमारे ज्ञान की वृद्धि करते हैं और साथ-साथ इनमें सार्वभौमता व अनिवार्यता के गुण भी पाये जाते हैं। काण्ट के अनुसार ज्ञान का यही आदर्श है।

संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों द्वारा काण्ट ने अनुभववाद और बुद्धिवाद के बीच समन्वय स्थापित करने का भी प्रयत्न किया है। जहाँ तक कोई वाक्य संश्लेषणात्मक है उसका किसी न किसी रूप में अनुभव से अवश्य संबंध होगा क्योंकि प्रत्येक आनुभविक वाक्य संश्लेषणात्मक होता है। इसी प्रकार जहाँ तक कोई वाक्य अनुभव-निरपेक्ष है वह प्रागनुभविक (Apriori) अवश्य होगा अर्थात् वह बुद्धि

पर आश्रित होगा। इस प्रकार संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य द्वारा काण्ट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद के बीच लगातार संघर्ष की स्थिति को समाप्त किया।

अनुभव-निरपेक्ष संश्लेषणात्मक वाक्य किस प्रकार सम्भव है ?

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अनुभव-निरपेक्ष संश्लेषणात्मक वाक्य किस प्रकार सम्भव है ? (How are apriori synthetic judgments possible ?) शुद्ध बुद्धि की समीक्षा की यही प्रमुख समस्या है। काण्ट के अनुसार दो ऐसे विज्ञान हैं जिनके वाक्य संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य हैं : प्रथम गणित और दूसरा भौतिकी। इन विज्ञानों के अस्तित्व में काण्ट अविश्वास नहीं करते। वे इन विज्ञानों को उसी प्रकार स्वीकार कर लेते हैं। इनके विषय में प्रश्न केवल इतना है कि वे हैं तो किस प्रकार हैं ? काण्ट इन बातों को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

1. शुद्ध गणित किस प्रकार सम्भव है ? (How is pure mathematics possible ?)

2. शुद्ध भौतिकी किस प्रकार सम्भव है ? (How is pure physics possible ?) गणित और भौतिकी के संश्लेषणात्मक एवं अनुभव-निरपेक्ष वाक्यों में काण्ट ज्यों के त्यों विश्वास कर लेते हैं पर यही बात तत्व-विज्ञान (Metaphysics) के विषय में लागू नहीं होती। तत्व-विज्ञान ऐसा विज्ञान नहीं है कि उसके विषय में सभी लोग सहमत हों। अतः, तत्व-विज्ञान की सम्भाव्यता (Possibility) पर काण्ट अवश्य विचार करते हैं। इसे वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

3. **क्या तत्व विज्ञान सम्भव है ?** (Is a science of metaphysics possible ?) यही काण्ट की प्रमुख समस्या है जिसका उन्होंने शुद्ध बुद्धि की परीक्षा में वर्णन किया है।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि शुद्ध बुद्धि की समीक्षा किसी मत का प्रतिपादन नहीं करती वरन् वह केवल शुद्ध बुद्धि की समीक्षा करती है। यह हमारे ज्ञान में विस्तार नहीं करती। इसका काम बुद्धि के स्वभाव का परीक्षण है और इसकी त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न है। इस प्रकार इसका महत्व केवल निषेधात्मक ही है। शुद्ध बुद्धि की समीक्षा का सम्बन्ध उस अतीन्द्रिय ज्ञान (Transcendental Knowledge) से है जो **वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता बल्कि उस ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है कि हमें वस्तुओं का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है।** यह प्रयत्न अनुभव-निरपेक्ष ही हो सकता है। काण्ट के अतीन्द्रिय दर्शन (Transcendental Philosophy) का प्रमुख उद्देश्य ज्ञान की संरचनात्मक योजना (Architectonic Plan) का उद्घाटन करना है। इसमें काण्ट ने आनुभविक तत्व (Empirical Element) को दूर रखा है जिससे कि उसकी वैधता में किसी भी प्रकार का अन्तर न पड़े

अतीन्द्रिय दर्शन के दो भाग हैं : प्रथम भाग में उन तत्वों या अवयवों का वर्णन है जो ज्ञान के मूलाधार हैं। इसे काण्ट ने **अवयवों का मत** (Doctrine of Elements) का नाम दिया है। द्वितीय भाग में उस विधि का वर्णन मिलता है

जिसके प्रयोग से ज्ञान का निर्माण होता है। काण्ट ने इसे **विधि का मत** (Doctrine of Method) कहा है। मानवीय ज्ञान की दो शाखाएँ हैं: प्रथम संवेद्यता (Sensibility) और द्वितीय बुद्धि (Understanding)। एक के द्वारा बाह्य वस्तुएँ प्रदत्त होती हैं और दूसरी के द्वारा वस्तुएँ परिकल्पित होती हैं। इस पर हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

संवेदनालंब-समीक्षा

(Transcendental Aesthetic)

अब तक इस बात पर विचार किया गया कि संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य को ही ज्ञान की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। यहाँ इस बात का विवेचन किया जायगा कि ये संश्लेषणात्मक अनुभव-निरपेक्ष वाक्य किस प्रकार सम्भव हैं। ऐसे वाक्यों की सम्भावना पर ही शुद्ध बुद्धि की समीक्षा में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

शुद्ध बुद्धि की समीक्षा नामक ग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग का नाम 'संवेदनालंब समीक्षा' है, द्वितीय भाग का नाम 'बोधालंब-समीक्षा' (Transcendental Analytic) है एवं तृतीय भाग का नाम 'प्रज्ञालंब-समीक्षा' (Transcendental Dialectic) है। प्रथम संवेदनालंब-समीक्षा पर विचार किया जायगा।

संवेदन का अर्थ हमारी संवेद्यता का बाह्य वस्तुओं से संस्कारों के ग्रहण करने की क्षमता है। वह प्रत्यक्ष जो संवेदन के माध्यम से किसी बाह्य वस्तु की ओर संकेत करता है, आनुभविक प्रत्यक्ष (Empirical Perception) कहते हैं। ऐसे प्रत्यक्ष के निरुपाधिक विषय को काण्ट ने 'तथ्य' (Phenomenon) कहा है। "तथ्य के उस अवयव को जिसकी संवेदन के साथ संगति पाई जाती है, मैं द्रव्य कहता हूँ तथा उस अवयव को जिसके द्वारा तथ्य के विभिन्न अंशों में विन्यास कायम किया जाता है, स्वरूप या आकार कहते हैं।"[1]

वह स्वरूप या आकार जिसके द्वारा संवेदनाओं के बीच विन्यास स्थापित किया जाता है, स्वयं संवेदन नहीं हो सकता। तथ्य का द्रव्य हमें बाहर से अनुभव द्वारा प्राप्त होता है। यह अनुभव-सापेक्ष (Aposteriori) है किन्तु उसका स्वरूप जो संवेदनाओं से पृथक् है, अनुभव-निरपेक्ष (Apriori) है। इसीलिए इसको सम्वेदनों से पृथक् कर अध्ययन किया जा सकता है।

संवेद्यता (Sensibility) के विशुद्ध स्वरूप को विशुद्ध प्रत्यक्ष (Pure Perception) कहते हैं। यदि किसी पिण्ड के ज्ञान में बुद्धि-प्रदत्त एवं सम्वेदन-प्रदत्त सामग्रियों को पृथक् कर लिया जाय तो जो अवशेष रहेगा वही विशुद्ध प्रत्यक्ष होगा।

---

1. संवेदनालंब-समीक्षा, "That element in the phenomenon which corresponds to sensation I call the matter, while that element which makes it possible that the various determinations of the phenomenon should be arranged in certain ways relatively to one another is its form."

काण्ट के अनुसार संवेद्यता के ये साँचे प्रागनुभविक होते हैं जो सम्वेदन या किसी विषय-वस्तु की अनुपस्थिति में भी आत्मा में विद्यमान रहते हैं। काण्ट ने इन्हें देश-काल कहा है।

देश और काल इन्द्रिय-सम्वेदन और बुद्धि-विकल्प के बीच दो द्वार हैं। इन्द्रिय सम्वेदन इन्हीं द्वारों से होकर बुद्धि-विकल्पों तक पहुँचते हैं। देश और काल कोई बाह्य पदार्थ नहीं है, ये हमारे ही मानसिक चश्मे हैं जिनके माध्यम से हम बाह्य वस्तुओं को देखते हैं। लॉक, बर्कले और ह्यूम के अनुसार हमारी आत्मा संवेदना ग्रहण करती है। किन्तु काण्ट के अनुसार हमारी आत्मा सक्रिय होकर बाह्य संवेदनाओं को केवल ग्रहण ही नहीं करती वरन् उन्हें व्यवस्थित व नियमित भी करती है।

देश-काल का तात्विक प्रतिपादन
(Metaphysical Exposition of Space-Time)

संसार की सारी वस्तुयें दिक्कालपरिच्छिन्न हैं। देश-काल के बिना हम किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। काण्ट ने देश-काल का तात्विक प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

देश-काल का प्रत्यय कोई **आनुभविक प्रत्यय** (Empirical Conception) नहीं है जिसे हमने अनुभव से व्युत्पन्न किया है। देश-काल के प्रत्यय अनुभव पर इसलिये आश्रित नहीं हैं क्योंकि स्वयं अनुभव देश-काल के प्रत्ययों पर आश्रित है। जब अनुभव स्वयं देश-काल पर आधारित है तो देश-काल अनुभव पर किस प्रकार आधारित हो सकते हैं। बाह्य अनुभव देश-काल दोनों पर आश्रित है पर आन्तरिक अनुभव केवल काल पर आश्रित है।

2. देश-काल अनिवार्यतः **प्रागनुभविक विज्ञान** (Apriori Idea) हैं जो प्रत्येक बाह्य प्रत्यक्ष में अन्तर्निहित होते हैं। देश-काल के प्रत्यय के बिना हमें बाह्य वस्तुओं का ज्ञान हो ही नहीं सकता। देश और काल की कल्पना बिना बाह्य वस्तुओं के की जा सकती है पर बाह्य वस्तुओं की कल्पना बिना देश-काल के नहीं की जा सकती। इसीलिये देश और काल बाह्य वस्तुओं या आन्तरिक अनुभूतियों के ज्ञान की प्रागपेक्षाएँ (Preconditions) हैं। बाह्य एवं आन्तरिक अनुभूतियों की प्रागपेक्षाएँ होने के कारण ही काण्ट ने इन्हें प्रागनुभविक कहा है।

3. देश-काल न **विमर्शात्मक** (Discursive) है और न **सामान्य प्रत्यय** (General Conception) ही है। ये **विशुद्ध प्रत्यक्ष** (Pure Perception) हैं। हमें केवल एक अखण्ड देश और काल का ही ज्ञान होता है। ऐसा नहीं है कि पहले हमें आंशिक देश-काल (विभिन्न-खण्डों) का अनुभव होता है और तत्पश्चात् उन्हें संयुक्त कर हम एक पूर्ण देश-काल का निर्माण कर लेते हैं क्योंकि देश-काल के आंशिक खण्ड पूर्ण देश-काल के न तो पहले हैं और न बाद में हैं; वे उनके भीतर विद्यमान हैं। देश-काल के आंशिक खण्ड अखण्ड देश-काल के ही परिसीमित रूप हैं। अतः आंशिक खण्डों में अखण्ड देश-काल का प्रत्यय पूर्व-निहित होता है। इसीलिये काण्ट ने देश-काल के प्रत्यय को प्रागनुभविक कहा है। इसी प्रकार देश-काल का प्रत्यय कोई सामान्य

प्रत्यय भी नहीं है जिसे हमने आंशिक देश-काल को प्रत्यक्ष करके सामान्यीकरण (Generalisation) द्वारा निर्मित किया है। इसका कारण यह है कि बिना अखंड देश-काल के प्रत्यय के आंशिक खंडों का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। इसीलिये काण्ट कहते हैं कि देश काल के प्रत्यय न तो विमर्शात्मक प्रत्यय हैं और न सामान्य प्रत्यय ही। वे **विशुद्ध प्रत्यक्ष** हैं।

4. देश-काल हमारी चेतना के समक्ष एक **अनन्त वितान** (Magnitude) के **रूप में उपस्थित** होता है। सामान्य देश और सामान्य काल का विशिष्ट देश और विशिष्ट काल के साथ सामान्य और विशेष का सम्बन्ध नहीं है वरन् पूर्ण और अंश का सम्बन्ध है। पूर्ण देश-काल के भीतर आंशिक देश-काल अनन्त रूप में अवस्थित रहते हैं। इसीलिये काण्ट के अनुसार देश-काल प्रानुभविक प्रत्यय हैं। प्रत्यय विशिष्ट प्रत्यक्षों को अपने अन्तर्गत (Under) रखता है किन्तु देश-काल विशिष्ट प्रत्यक्षों को अपने भीतर (Within) समाहित करता है।

देश-काल का अतीन्द्रिय प्रतिपादन

(Transcendental Exposition of Space-Time)

काण्ट ने देश-काल के तात्विक प्रतिपादन के साथ-साथ एक अतीन्द्रिय प्रतिपादन भी प्रस्तुत किया है। देश-काल के अतीन्द्रिय प्रतिपादन का अर्थ यह है कि यद्यपि देश-काल सम्बन्धी सभी तर्क-वाक्य अनुभव से प्रारम्भ होते हैं पर ज्योंही हमें उन तर्क-वाक्यों का ज्ञान हो जाता है वे अनुभव से स्वतन्त्र होकर प्रागनुभविक हो जाते हैं क्योंकि वे सम्भाव्य सत्य न होकर अनिवार्य और निदर्शात्मक होते हैं। यह तभी सम्भव है जब कि देश-काल के प्रत्यय अभुभव-जन्य न होकर आत्मा में पहले से ही विद्यमान हों। यही देश-काल का अतीन्द्रिय प्रतिपादन है।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि देश-काल के प्रत्यय मानसिक हैं पर ये कल्पनामात्र नहीं हैं। मानसिक होते हुये भी इनके भीतर वस्तुनिष्ठ वैधता (Objective Validity) पाई जाती है। देश-काल के कारण ही गणित-शास्त्र की प्रतिज्ञाएँ संश्लेषणात्मक एवं अनुभवनिरपेक्ष होती हैं तथा उनमें सार्वभौमता व निश्चयात्मकता पाई जाती है। रेखागणित देश के प्रत्यय पर निर्भर है; अंकगणित काल के प्रत्यय पर निर्भर है तथा गति-विज्ञान (Mechanics) देशकाल दोनों पर निर्भर है।

बोधालंब-समीक्षा

(Transcendental Analytic)

ज्ञान के निर्माण के लिये इंद्रिय-संवेदनों का देश और काल द्वारा व्याकृत होना ही पर्याप्त नहीं है। देश और काल के माध्यम से होकर संवेदनों का बुद्धि तक पहुँचना तथा वहाँ पहुँचने पर बुद्धि-विकल्पों के साँचे में ढलकर ज्ञान के रूप में परिणत होना भी आवश्यक है। इसके लिए बुद्धि-विकल्पों का परीक्षण आवश्यक है। काण्ट ने बोधालंब-समीक्षा में इन्हीं बुद्धि-विकल्पों का विस्तृत विवेचन किया है।

ज्ञान-प्राप्ति के मूलतः दो स्रोत हैं : संवेदन (Sensation) और संप्रत्ययन (Conception)। ये दो प्रक्रियाएँ मानवीय मस्तिष्क की दो शक्तियों के द्वारा संपादित होती हैं : प्रथम संवेद्यता (Sensibility) और द्वितीय बुद्धि (Understanding) द्वारा। संवेद्यता से काण्ट का तात्पर्य आत्मा की उस ग्रहणशीलता (Receptivity) से है जिसके द्वारा वह बाह्य संस्कारों को प्राप्त करती है। इसके विपरीत, बुद्धि से कान्ट का तात्पर्य आत्मा की उस नैसर्गिक शक्ति या स्वतःप्रवर्तिता (Spontaneity) से है जिसके द्वारा वह विज्ञानों को बाह्य तथ्यों की सहायता के बिना ही स्वयं उत्पन्न करती है।

संवेद्यता के बिना किसी वस्तु को ग्रहण नहीं किया जा सकता तथा बुद्धि के बिना किसी वस्तु की परिकल्पना नहीं की जा सकती। इन दोनों शक्तियों में किसी को भी एक दूसरे से श्रेष्ठतर नहीं कहा जा सकता। दोनों में अन्योन्याश्रय या परस्पर-निभरता पाई जाती है। हमारे प्रत्ययों को ऐन्द्रिक बनाने की उतनी ही अनिवार्यता है जितनी हमारी संवेदनाओं को बोधगम्य बनाने की अनिवार्यता है। बुद्धि स्वयं किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती तथा इन्द्रियाँ स्वयं किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकतीं। ज्ञान इन्द्रिय और बुद्धि दोनों की संयुक्त क्रिया का परिणाम होता है।

अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र

(Transcendental Logic)

काण्ट ने दो प्रकार के तर्क-शास्त्र की चर्चा की है : प्रथम आकारिक तर्कशास्त्र (Formal Logic) और द्वितीय अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र (Transcendental Logic)। आकारिक तर्क-शास्त्र केवल रूपात्मक होने हुए भी उसका अनुभवजगत से सम्बन्ध होता है, किन्तु अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र का अनुभव-जगत की वस्तुओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसका सम्बन्ध केवल विशुद्ध विज्ञानों से ही होता है। यह विशुद्ध विज्ञानों (Pure Concepts) की उत्पत्ति, सीमा और वस्तुनिष्ठ प्रामाणिकता (Objective Validity) से सम्बन्धित होता है।

जिस प्रकार संवेदनालंब-समीक्षा में हमने सवेद्यता (Sensibility) को अन्य वस्तुओं से पृथक करके देखा था, उसी प्रकार बुद्धि-विकल्पों को जानने के लिए बुद्धि (Understanding) को अन्य वस्तुओं से पृथक् करना होगा। वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए इस विशुद्ध तत्व का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब कि बाह्य तथ्यों की संवेदना हमें पहले ही प्राप्त हो गई हो। अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र का वह भाग जो ज्ञान के उन विशुद्ध तत्वों का अनुसन्धान करता है जिनके अभाव में कोई वस्तु हमारे चिन्तन का विषय नहीं हो सकती, बोधालम्ब समीक्षा (Transcendental Analytic) कहा जाता है। यह सत्य या याथार्थ्य का तर्कशास्त्र (Logic of Truth) है क्योंकि कोई भी ज्ञान इसे बाधित नहीं कर सकता। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इस तर्कशास्त्र की सत्यता और प्रामाणिकता तभी तक निश्चित रहती है जब तक कि इसका प्रयोग अनुभव की सीमा के भीतर किया जाता है। ज्योंही हम बुद्धि के आकारिक विकल्पों का प्रयोग अगोचर और अनुभवातीत वस्तुओं के लिए करने लगते हैं, तो हमारे मस्तिष्क में कई प्रकार के अतीन्द्रिय भ्रम (Transcendental Illu-

sions) उत्पन्न हो जाते हैं। बुद्धि के इस प्रयोग या दुष्प्रयोग को द्वन्द्वन्याय (Dialectic) कहते हैं। इस प्रकार अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र का द्वितीय भाग जो अतीन्द्रिय भ्रमों की आलोचना करता है, द्वन्द्वन्याय कहलाता है। इसे द्वन्द्व-न्याय इसलिए नहीं कहते कि यह हमारे भीतर अतीन्द्रिय भ्रमों को उत्पन्न करता है बल्कि इसे द्वन्द्व-न्याय इसलिए कहते हैं कि यह बुद्धि और प्रज्ञा (Reason) की आलोचना प्रस्तुत करता है। यह बुद्धि और प्रज्ञा के उस मिथ्याभिमान एवं दम्भ का पर्दाफाश करता है जिसके द्वारा वे अतीन्द्रिय एवं अनुभवातीत वस्तुओं के ज्ञान का व्यर्थ दावा करते हैं।

बोधालम्ब समीक्षा के दो भाग हैं: प्रथम भाग बुद्धि के विकल्पों का उद्घाटन करता है जिसे काण्ट ने **प्रत्यय-समीक्षा** (Analytic of Concepts) नाम दिया है। इसका दूसरा भाग बुद्धि के निर्णयों का वर्णन करता है जिसे काण्ट **निर्णय-समीक्षा** (Analytic of Judgments) नाम देता है। इनका हम पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

प्रत्यय या विकल्प-समीक्षा

(Analytic of Conceptions)

विकल्प बुद्धि में उत्पन्न होते हैं तथा वे विशुद्ध एवं अमिश्रित होते हैं। विशुद्ध एवं अमिश्रित होने के कारण सभी विकल्प एकता के सूत्र में आबद्ध होते हैं। मूलभूत विकल्प एक ऐसा तन्त्र-बद्ध तत्व (Systematic Principle) है जिसके भीतर सभी बुद्धि के विकल्प समाहित होते हैं।

काण्ट ने बुद्धि को ज्ञान की अनुभवातीत शक्ति के रूप में परिभाषित किया है।[1] चूंकि बिना संवेद्यता के कोई प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है अतः बुद्धि प्रत्यक्ष प्राप्त करने की शक्ति नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त ज्ञान प्राप्त करने का दूसरा स्रोत संप्रत्यय ही होता है। अतः बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान संप्रत्ययों द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान **प्रत्यक्षात्मक** (Perceptive) न होकर **विमर्शात्मक** (Discursive) ही होता है। सभी प्रत्यक्ष इन्द्रियगत होने के कारण **प्रभावों** (Affections) पर आधारित होते हैं पर बौद्धिक ज्ञान **प्रक्रिया** (Functions) पर आधारित होते हैं। प्रक्रिया से यहाँ काण्ट का तात्पर्य बौद्धिक कार्य की उस एकता से है जिसके द्वारा विभिन्न प्रत्यय एक सामान्य सर्वोच्च प्रत्यय के भीतर समाहित किए जाते हैं। संप्रत्ययन विचारों की नैसर्गिकता पर आधारित होते हैं पर ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष संवेदनाओं की ग्रहणशीलता पर आधारित होते हैं।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि बुद्धि जो अपनी नैसर्गिक शक्ति के द्वारा प्रत्ययों को उत्पन्न करती है, उसकी उपयोगिता क्या है? काण्ट के अनुसार बुद्धि इन प्रत्ययों या विकल्पों के आधार पर बाह्य संवेदनाओं पर निर्णय (Judgment) देती है। प्रत्यक्ष द्वारा हमें वस्तुओं के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित होता है पर संप्रत्ययों द्वारा हमारा वस्तुओं के साथ परोक्ष सम्बन्ध ही स्थापित होता है। अतः, निर्णय "वस्तुओं

---

1. काण्ट, "Understanding is the non-sensuous faculty of knowledge."

का परोक्ष ज्ञान या ज्ञान का ज्ञान है।"[1] निर्णय के द्वारा बुद्धि ज्ञान की सामग्री में समन्वय स्थापित करती है। चूँकि बुद्धि के सभी कार्य निर्णयात्मक होते हैं, अतः बुद्धि को निर्णय-शक्ति का आधार माना जा सकता है।[2] बुद्धि विकल्पों के माध्यम से ही निर्णय देती है। अतः यदि हमें बुद्धि-विकल्प की यथार्थ जानकारी प्राप्त करनी है तो इसके लिये बुद्धि के द्वारा प्राप्त निर्णयों का विश्लेषण करना होगा। **विकल्प निर्णयों या तर्क-वाक्यों के विधेय** (Predicates) होते हैं। इन विधेयों का अनुसंधान कर हम विकल्पों का भलीभाँति अनुमान कर सकते हैं।

बुद्धि-विकल्पों का तात्विक निगमन

(Metaphysical Deduction of the Categories)

आकारिक तर्क-शास्त्र में निर्णयों या तर्क-वाक्यों को चार दृष्टियों से विभाजित किया गया है—

(क) परिमाण —

1. सर्वव्यापी (Universal)—सभी मनुष्य मरणशील हैं।
2. अंशव्यापी (Particular)—कुछ मनुष्य बुद्धिमान हैं।
3. एकव्यापी (Singular)—मोहन बुद्धिमान है।

(ख) गुण—

4. विधायक (Affirmative)—मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है।
5. निषेधात्मक (Negative)— जानवर एक विवेकशील प्राणी नहीं है।
6. अपरिमित (Infinite)—प्रत्येक घट एक अपट है।

(ग) सम्बन्ध—

7. निरुपाधिक (Categorical)—बालक चञ्चल होते हैं।
8. हेत्वाश्रित (Hypothetical)—यदि पानी बरसता है तो तुम्हारे कपड़े गीले हो जायेंगे।
9. वियोजक (Disjunctive)—बालक या तो बुद्धिमान है या मूर्ख है।

(घ) प्रकार —

10. सम्भावित (Problematic)—सम्भव है कि ईश्वर का अस्तित्व हो।
11. प्रकृत (Assertoric)— यह मनुष्य ईमानदार है।
12. अनिवार्य (Apodeictic)—प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है।

---

1. काण्ट, बोधालम्ब समीक्षा, "Judgment is the indirect knowledge of an object or the knowledge of knowledge."

2. Understanding is a faculty of judgment.

उपर्युक्त बारह प्रकार के तर्क-वाक्यों से बारह प्रकार के बुद्धि-विकल्प व्युत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार तर्क-वाक्यों का चार दृष्टियों से विभाजन कर प्रत्येक विभाजन के अन्तर्गत तीन तर्क-वाक्य आते हैं उसी प्रकार बुद्धि-विकल्पों का भी चार दृष्टियों से विभाजन कर प्रत्येक विभाजन के अन्तर्गत तीन-तीन बुद्धि-विकल्पों को समाहित किया गया है।

बुद्धि-विकल्पों की निम्न तालिका सारी बातों को स्पष्ट कर देती है—

(क) परिमाण—

1. एकता (Unity)
2. अनेकता (Plurality)
3. समग्रता (Totality)

(ख) गुण—

4. भाव (Reality)
5. अभाव (Negation)
6. परिसीमन (Limitation)

(ग) सम्बन्ध—

7. द्रव्य-गुण (Substance and Accident)
3. कारण-कार्य (Cause and Effect)
9. अन्योन्याश्रय (Reciprocity between the Active and the Passive)

(घ) प्रकार—

10. सम्भावना-असम्भावना (Possibility and Impossibility)
11. सत्ता-असत्ता (Existence & Non-Existence)
12. अनिवार्यता-यादृच्छिकता (Necessity and Contingency)

प्रत्येक विषय के ज्ञान में हम इन बारह बुद्धि-विकल्पों का उपयोग करते हैं। ये बारह विकल्प प्रत्येक ज्ञान या अनुभव की प्रागपेक्षाएँ हैं। इन विकल्पों को अनुभव-जन्य नहीं माना जा सकता क्योंकि स्वयं अनुभव इन बुद्धि-विकल्पों पर आश्रित होता है। अनुभवों से निगमित करने पर इनमें सिद्ध-साधन या चक्रक-दोष उत्पन्न हो जायगा। काण्ट ने इसे बुद्धि-विकल्पों का तात्विक निगमन कहा है क्योंकि इन्हें तर्क-वाक्यों के स्वभाव के आधार पर निगमित किया गया है। इन बारह विकल्पों के आधार पर काण्ट ने कुछ बड़े दिलचस्प निष्कर्ष निकाले हैं—

1. बारह विकल्पों में प्रथम छः विकल्पों को स्थैकिक (Mathematical) विकल्प कहते हैं जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष के विषयों के साथ होता है तथा शेष छः विकल्प गत्यात्मक (Dynamic) विकल्प कहलाते हैं जो वस्तुओं के अस्तित्व को, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को तथा वस्तुओं और बुद्धि के सम्बन्धों को बताते हैं।

2. ये बारह विकल्प चार विभागों में विभाजित हैं और प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत केवल तीन विकल्प आते हैं। इसका कारण यह है कि बुद्धि सदा द्विभाजन-सिद्धान्त (Principle of Dichotomy) के अनुसार कार्य करती है। इससे दो

विकल्प उत्पन्न होते हैं। इनमें तीसरा विकल्प प्रथम और द्वितीय विकल्पों के सम्मिश्रण से बनता है। किन्तु यह तीसरा विकल्प प्रथम एवं द्वितीय विकल्पों का केवल योग ही नहीं है; यह एक नवीन विकल्प है जो प्रथम एवं द्वितीय विकल्पों के समन्वय से निकला है।

(3) विकल्पों के इन चार विभागों से काण्ट ने चार बातों का खण्डन किया है—परिमाण से अणुवाद (Atomism) का, गुण से शून्यवाद (Nihilism) का, कारण-कार्य सम्बन्ध से संयोगवाद (Accidentalism) का तथा प्रकार से चमत्कारवाद (Super-naturalism) का खण्डन किया है।

(4) ये बारहों बुद्धि-विकल्प इन्द्रिय-संवेदनों को व्यवस्थित करके उन्हें ज्ञान का रूप प्रदान करते हैं। हमारे ज्ञान में जो सार्वभौमता और अनिवार्यता है वह इन्हीं विकल्पों द्वारा ही आती है। काण्ट के अनुसार बुद्धि-विकल्पों का यही तात्विक निगमन है।

बुद्धि-विकल्पों का अतीन्द्रिय निगमन

(Transcendental Deduction of the Categories)

काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों के तात्विक निगमन के साथ-साथ एक अतीन्द्रिय निगमन की भी चर्चा की है। वे अतीन्द्रिय निगमन को आनुभविक निगमन (Empirical Deduction) से पृथक् करते हैं। आनुभविक निगमन का तात्पर्य यह है कि कोई प्रत्यय अनुभव से किस प्रकार निष्कर्षित किया गया है। इसमें पहले अनुभव आता है और बाद में उसके आधार पर प्रत्यय निर्मित किये जाते हैं। इसके विपरीत, बुद्धि विकल्पों के अतीन्द्रिय निगमन (Transcendental Deduction) का तात्पर्य यह है कि किस प्रकार कोई बुद्धि-विकल्प प्रागनुभविक रूप में विषय वस्तुओं से सम्बन्धित होता है। तार्किक दृष्टि से इसमें बुद्धि विकल्प पहले आते हैं और वस्तुओं का अनुभव बाद में आता है क्योंकि जब तक हम बुद्धि-विकल्पों को बाह्य संवेदनाओं पर आरोपित नहीं करते तब तक कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय हो ही नहीं सकती। ये **बुद्धि-विकल्प हमारे सभी सम्भावित अनुभवों की प्रागनुभविक प्रागपेक्षाएँ हैं।** चूँकि ये विकल्प हमारे अनुभव को सम्भव बनाते हैं, इसी कारण प्रत्येक अनुभव के लिये अनिवार्य कहे जाते हैं। हमारे अनुभवों के विश्लेषण से जिनमें ये विकल्प पाए जाते हैं, इन विकल्पों को निगमित नहीं किया जा सकता क्योंकि अनुभव इन्हें केवल निर्दशित करते हैं।

यदि अनुभव का विश्लेषण किया जाय तो उसमें हमें सदा दो असमान या भिन्न तत्व प्राप्त होंगे : प्रथम **ज्ञान का द्रव्य** (Matter of Knowledge) जिसे हम ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाह्य संसार से प्राप्त करते हैं; द्वितीय **ज्ञान का स्वरूप** (Form of Knowledge) जिसे हम विचारों के माध्यम से आन्तरिक स्रोत से प्राप्त करते हैं। ज्ञान के स्वरूप को ही काण्ट ने बुद्धि-विकल्प कहा है जिसके द्वारा हम ज्ञान के द्रव्य या वस्तु-सामग्री के बीच व्यवस्था स्थापित करते हैं। इन्हें अनुभव से इसलिये व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वयं अनुभव इन बुद्धि-विकल्पों पर आश्रित होते हैं। अतः, इनकी उत्पत्ति का स्रोत अनुभव नहीं हो सकता; उसे अनुभव

से स्वतन्त्र होना चाहिए। इसी कारण बुद्धि-विकल्पों की उत्पत्ति के लिए काण्ट ने **अतीन्द्रिय निगमन** (Transcendental Deduction) की संज्ञा दी है।

अब काण्ट के समक्ष जो समस्या उत्पन्न होती है वह यह है कि यदि मान भी लिया जाय कि बुद्धि-विकल्पों का अतीन्द्रिय निगमन होता है तो नवीन प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि **विचार की आत्मनिष्ठ प्रागपेक्षाओं में वस्तुनिष्ठ वैधता किस प्रकार पाई जाती है ?**

उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिये हमारे समक्ष केवल दो विकल्प हैं जिनके द्वारा बुद्धि-विकल्पों एवं बाह्य वस्तुओं के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है: प्रथम विकल्प के अनुसार बुद्धि-विकल्प बाह्य वस्तुओं द्वारा उत्पन्न हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि-विकल्पों में वस्तुनिष्ठता की तो स्थापना हो जायगी किंतु उनमें अनिवार्यता एवं सार्वभौमता का अभाव बना रहेगा। द्वितीय विकल्प के अनुसार स्वयं बाह्य वस्तुएँ बुद्धि-विकल्पों द्वारा उत्पन्न हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि-विकल्पों में वस्तुनिष्ठता, अनिवार्यता एवं सार्वभौमता, सभी गुणों की स्थापना हो जाती है। काण्ट ने ज्ञान की सम्भाव्यता के लिये द्वितीय विकल्प को स्वीकार किया है क्योंकि बुद्धि-विकल्पों के बिना संसार की कोई वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। काण्ट के ही शब्दों में "वस्तुओं के प्रत्यय, सामान्यतया, सभी आनुभविक वस्तुओं की प्रागनुभविक प्रागपेक्षाएँ हैं। प्रागनुभविक प्रत्यय के रूप में बुद्धि-विकल्पों की वस्तुनिष्ठ वैधता इस तथ्य पर आधारित है कि जहाँ तक विचार के स्वरूप का प्रश्न है, उनके द्वारा ही कोई अनुभव सम्भव हो सकता है।[1]"

ह्यूम की कठिनाई यह थी कि वह कारण-कार्य जैसे अनिवार्य सम्बन्धों को इन्द्रियानुभव से निगमित करना चाहता था। जब उसने देखा कि इन अनिवार्य सम्बन्धों की स्थापना इन्द्रियानुभव के आधार पर नहीं हो सकती, उसने निष्कर्ष निकाल लिया कि ये सम्बन्ध काल्पनिक हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि उसका दर्शन आत्मघाती सन्देहवाद से पीड़ित हो गया। ह्यूम की कठिनाई का उत्तर देते हुए कान्ट कहते हैं कि कारण-कार्य सम्बन्ध इन्द्रियानुभव से प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु इससे यह सम्बन्ध काल्पनिक नहीं हो जाता। केवल इन्द्रियानुभव से किसी ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती। यदि बुद्धि-विकल्प बाह्य जगत को निर्धारित न करें तो हमें बाह्य जगत का कोई अनुभव हो ही नहीं सकता। बुद्धि-विकल्पों के बिना सार्वभौम व अनिवार्य ज्ञान की तो बात ही दूर है, यह बाह्य जगत भी हमारे अनुभव का विषय नहीं बन सकता। अतः यदि विशुद्ध इन्द्रियानुभव के आधार पर हम इन सामान्य विकल्पों को प्राप्त नहीं करते तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वे काल्पनिक हैं, हम उन्हें इन्द्रियानुभव से इसलिये प्राप्त नहीं करते क्योंकि वे अनुभव के आधार हैं। जिनके आधार पर अनुभव स्वयं सम्भावित होता है, वे अनुभव से

---

1. क्रिटीक ऑव प्योर रीजन ए 93·बी 126 "Concepts of objects in neral, thus underlie all empirical knowledge as its apiori condi ns. The objective balidity of the categories as apriori concepts therefore, on the fact, that so far as the form of thought is

निमगित नहीं किये जा सकते । काण्ट द्वारा बुद्धि-विकल्पों का यही अतीन्द्रिय निगमन (Transcendental Deduction) है ।

बुद्धि-विकल्पों का आत्मनिष्ठ निगमन

(Subjective Deduction of the Categories)

काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों के तात्विक एवं अतीन्द्रिय निगमन के साथ एक आत्म-निष्ठ निगमन की भी चर्चा की है। यदि चैतन्य परस्पर विरुद्ध अनेक अवस्थाओं में विघटित हो जिनके बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो तो ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती क्योंकि काण्ट परस्पर संयुक्त एवं सम्बद्ध अवयवों की समष्टि को ही ज्ञान कहता है। ज्ञान तभी सम्भव है जब कि बुद्धि की स्वाभाविकता (Spontaneity) का इन्द्रियों की ग्रहणशीलता (Receptivity) के साथ संयोग होता है। इसीलिये कहा जा सकता है कि प्रत्येक ज्ञान में तीन प्रकार का बौद्धिक संश्लेषण होता है —

1. प्रत्यक्ष में अवबोध का संश्लेषण (Synthesis of Apprehension in Perception),

2. कल्पना में पुनरभिव्यक्ति का संश्लेषण (Synthesis of Reproduction in Imagination),

3. संप्रत्ययों में प्रत्यभिज्ञा का संश्लेषण (Synthesis of Recognition in Concepts).

इन तीनों संश्लेषणों को मन की तीन विभिन्न शक्तियाँ सम्पादित करती हैं ये मानसिक शक्तियाँ क्रमश: प्रत्यक्ष (Perception), कल्पना (Imagination) और अवधारणा (Conception) हैं। इन तीन मानसिक शक्तियों को पृथक्-पृथक् नहीं समझना चाहिए। ये एक ही मन के तीन व्यापार हैं। इनके विषय में हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

1. **प्रत्यक्ष में अवबोध का संश्लेषण** (Synthesis of Apprehension in Perception)—हमारे विज्ञानों का कुछ भी स्रोत हो चाहे वे बाह्य वस्तुओं के प्रभाव के कारण हों या वे आन्तरिक कारणों से उत्पन्न हुए हों, चाहे वे प्रागनुभविक हों या अनुभव-सापेक्ष हों, आत्मा के रूपान्तरण के रूप में उन्हें आन्तरिक इन्द्रिय का विषय अवश्य होना चाहिए। अत:, सभी ज्ञान मूल रूप में 'काल' द्वारा अवच्छिन्न होना चाहिये क्योंकि 'काल' ही आन्तरिक इन्द्रिय का द्वार है। ज्ञान का प्रत्येक अवयव काल द्वारा व्यवस्थित, सम्बन्धित व क्रमागत होना चाहिए।

हमें प्रत्यक्ष के विभिन्न अवयवों की तब तक पूर्ण जानकारी नहीं हो सकती जब तक कि विभिन्न संस्कारों के आनन्तर्य में हमें 'काल' का बोध न हो। यदि प्रत्येक संस्कार का सम्बन्ध केवल एक ही क्षण तक सीमित होता तो वह केवल एक विशिष्ट इकाई का ही ज्ञान होता। प्रत्यक्ष के विभिन्न अवयवों को हम एक पूर्ण इकाई (Unity) के रूप में ग्रहण कर सकें, यह आवश्यक है कि मेरी आत्मा उन सबको एक पूर्ण इकाई के रूप में

(—●—●—●—●—)

ग्रहण करे। मान लिया कि क ख ग घ एक सरल रेखा (क ख ग घ) है जो क, ख, ग, घ इत्यादि अनेक बिन्दुओं के संयोग से निर्मित है। हम जानते हैं कि प्रत्यक्ष सदा क्षणिक इकाइयों का ही होता है। यदि प्रत्यक्ष में हमें केवल क, ख, ग, घ इत्यादि क्षणिक बिन्दुओं का ही पृथक्-पृथक् ज्ञान होता तो क ख ग घ को हम एक सरल रेखा के रूप में कभी भी न जान पाते। किन्तु हम जानते हैं कि क ख ग घ एक सतत सरल रेखा है जो अनन्त बिन्दुओं के संयोग से निर्मित हुई है। इस सतत सरल रेखा का ज्ञान हमें कैसे होता है? काण्ट के अनुसार हमें इस सतत सरल रेखा का ज्ञान प्रत्यक्ष में अवबोध के संश्लेषण द्वारा प्राप्त होता है। क ख ग घ के एक सरल रेखा के रूप में ज्ञान प्राप्त करने के लिये केवल क, केवल ख, केवल ग और केवल घ का ज्ञान ही अपेक्षित नहीं है वरन् इनके ऊपर क ख ग घ का ज्ञान भी अपेक्षित है। **विभिन्न विविक्त इकाइयों का ज्ञान आनुभविक है पर पूर्ण का ज्ञान प्रागनुभविक** है। इसी को काण्ट ने प्रत्यक्ष में अवबोध का संश्लेषण कहा है।

यहाँ अवबोध (Apprehension) और संश्लेषण (Synthesis) का अर्थ भली भाँति समझ लेना चाहिये। इसे अवबोध इस कारण कहते हैं कि इसमें पूर्ण प्रत्यक्ष का तात्कालिक ज्ञान होता है। इसी प्रकार इसे संश्लेषण इस कारण कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा ही प्रत्यक्ष के विभिन्न अवयव चैतन्य द्वारा संकलित किए जा सकते हैं। अवबोध का यह संश्लेषण प्रागनुभविक होना चाहिये जिससे कि हम प्रत्यक्ष के उन अवयवों को भी संश्लेषित कर सकें जो प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। यदि ऐसा न होता तो हमें देश-काल का अनुभव कभी भी नहीं हो सकता था।

2. **कल्पना में पुनरभिव्यक्ति का संश्लेषण** (Synthesis of Reproduction in Imagination)—हमारे भीतर एक ऐसा तत्व अवश्य होना चाहिये जो हमारे संस्कारों की पुनरभिव्यक्ति को सम्भव बनाता हो क्योंकि इसके बिना अनिवार्य संश्लेषणात्मक एकता सम्भव नहीं हो सकती। यह इसलिये भी आवश्यक है क्योंकि हमें केवल संवृत सत् का ही ज्ञान होता है, परमार्थ सत् का साधारण ज्ञान हमें नहीं हो सकता। संवृत सत् होने के कारण ज्ञान के विषय आन्तरिक इन्द्रिय के ही रूपान्तरण होते हैं। पुनरभिव्यक्ति (Reproduction) के बिना अनुभव असम्भव है। उदाहरण के लिये ऊपर वाले दृष्टान्त में : क ख ग घ सरल रेखा के ज्ञान में यदि पश्चात् क्षणिक बिन्दुओं के प्रत्यक्ष के आने के साथ पूर्व-प्रत्यक्ष अदृश्य हो जाते हैं तो हमें किसी पूर्ण वस्तु का कभी ज्ञान ही नहीं हो सकता। क ख ग घ का संश्लेषण उस अवस्था में कभी नहीं हो सकता जिसमें कि ख तक पहुँचने पर क का विस्मरण हो जाय या ग तक पहुँचते ही क और ख दोनों का विस्मरण हो जाय तथा घ तक पहुँचते क, ख और ग इन तीनों का विस्मरण हो जाय। अतः, यदि क ख ग घ का एक साथ पूर्ण रूप में प्रत्यक्ष करना है तो घ तक पहुँचने पर क, ख और ग की कल्पना (Imagination) द्वारा पुनरभिव्यक्ति अनिवार्य है। इस प्रकार क ख ग घ के प्रत्यक्ष में कल्पना द्वारा प्रदत्त पुनरभिव्यक्ति का भी संश्लेषण निहित है। अतः, पुनरभिव्यक्ति के संश्लेषण का अवबोध के संश्लेषण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों ज्ञान की अतीन्द्रिय शक्तियाँ हैं।

3. **संप्रत्ययों में प्रत्यभिज्ञा का संश्लेषण** (Synthesis of Recognition in Conception)—बिना संप्रत्यय या बुद्धि-विकल्प के कोई ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता और यह संप्रत्यय नियमतः एक सामान्य (Universal) ही हो सकता है। किसी अनिवार्य ज्ञान की यह अतीन्द्रिय प्रागपेक्षा है। इसमें हम प्रत्यक्ष के किसी विषय को सदा एक संप्रत्यय या विकल्प (Concepts) के माध्यम से ही जानते हैं। प्रत्यक्ष का प्रत्येक विषय किसी संप्रत्यय के द्वारा ही अर्थपूर्ण होता है। चूँकि ये बुद्धि-विकल्प हमारे प्रत्यक्षों के अधिष्ठान या प्रागपेक्षाएँ (Pre-conditions) हैं, अतः ये अनुभव-निरपेक्ष ही होंगे। इसी को काण्ट ने बुद्धि-विकल्पों का अतीन्द्रिय निगमन (Transcendental Deduction of Categories) कहा है। जो प्रत्यक्षों का आधार या अधिष्ठान है, वह स्वयं प्रत्यक्षों पर आधारित नहीं हो सकता। वह अतीन्द्रिय व अनुभव-निरपेक्ष ही होगा।

विशुद्ध समाकल्पन की अतीन्द्रिय मौलिक संश्लेषणात्मक एकता

(The Transcendental Original Synthetic Unity of Pure Apperception)

हम पहले ही देख चुके हैं कि काण्ट परस्पर संयुक्त एवं सम्बद्ध अवयवों की समष्टि को ज्ञान कहता है। किन्तु विषयों और वस्तुओं की सम्बद्धता और एकता तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उनके मूल में चैतन्य की एकता (Unity of Consciousness) न पाई जाती हो। चैतन्य की एकता के अभाव में वस्तुओं का अवबोध सम्भव ही नहीं हो सकता। इस मौलिक, विशुद्ध और कूटस्थ चैतन्य को काण्ट ने **अतीन्द्रिय-समाकल्पन** (Transcendental Apperception) की संज्ञा दी है। भारतीय वाङ्मय में इसे विशुद्धात्मा (Pure Self) कहते हैं। चैतन्य आत्मा का स्वभाव है अतः, यह अद्वय तत्व है। इसमें किसी प्रकार की अनेकता या नानात्व की कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मा सभी प्रकार के ज्ञान की प्रागनुभविक अपेक्षा है क्योंकि सभी ज्ञान आत्मा का ही ज्ञान होता है। विषयी या ज्ञाता के अभाव में विषय या ज्ञेय की कल्पना नहीं की जा सकती

काण्ट के अनुसार हमारे प्रत्येक विषय-चैतन्य (Object-Consciousness) के मूल में आत्म-चैतन्य (I-Consciousness) निहित रहता है, अन्यथा हमें किसी विषय का ज्ञान ही नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में : यदि प्रत्येक विषय-चैतन्य में आत्म-चैतन्य निहित न हो तो मुझे ऐसी वस्तु का ज्ञान होगा जिसका ज्ञान नहीं हो सकता जो वदतोव्याघात है। भारतीय दर्शन के मीमांसा-दर्शन में प्रभाकर ने अपने त्रिपुटी-प्रत्यक्षवाद में इसी बात की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार प्रत्येक विषय-वित्ति में अहं-वित्ति शामिल होती है जिसके अभाव में ज्ञान सम्भव ही नहीं हो सकता।

काण्ट की इस आत्मा के विषय में जो दूसरी बात ध्यान देने की है वह यह है कि आत्मा का ज्ञान एक विषयी या ज्ञाता का ज्ञान है; यह विषय या ज्ञेय का ज्ञान नहीं है। आत्म-ज्ञान एक सहज और स्वाभाविक ज्ञान है; यह कोई आगन्तुक ज्ञान

नहीं है।[1] इसी बात को स्पष्ट करने के लिये काण्ट ने आत्म-ज्ञान को **विशुद्ध समाकल्पन** (Pure Apperception) की संज्ञा दी है और आनुभविक समाकल्पन (Empirical Apperception) से इसका भेद स्पष्ट किया है। यह एक प्रकार की अपरोक्षानुभूति है। ह्यूम आत्मा को अपरोक्षानुभूति का विषय न मानकर प्रत्यक्ष का विषय मानता था। इसीलिये वह उसे प्राप्त न कर सका। जब उसने देखा कि वह आत्मा को प्रत्यक्ष के विषय के रूप में नहीं जान सकता तो उसने निष्कर्ष निकाल लिया कि आत्मा का अस्तित्व है ही नहीं। ह्यूम की इसी समस्या का समाधान करते हुए काण्ट कहते हैं कि आत्मा को प्रत्यक्ष द्वारा नहीं बल्कि अपरोक्षानुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है।

पुनः, आत्म-चैतन्य एक **मौलिक समाकल्पन** (Original Apperception) है। यह सभी ज्ञान का अधिष्ठान है पर इसका कोई अधिष्ठान नहीं है। यदि आत्मा को भी किसी अन्य चैतन्य का विषय मान लिया जाय तो इसमें अनवस्था-दोष (Fallacy of Infinite Regress) आ जायगा। आत्मा वह चरम बिन्दु है जहाँ सभी प्रत्यक्षों या ज्ञान का पर्यवसान होता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रख कर ही काण्ट ने आत्मा को मौलिक समाकल्पन माना है। इसके अतिरिक्त काण्ट ने आत्मा को एक **अतीन्द्रिय एकता** (Transcendental Unity) के रूप में स्वीकार किया है जिसके ऊपर सभी प्रकार के प्रागनुभविक ज्ञान आधारित हैं। प्रत्यक्ष में जो हमें विभिन्न विषयों का ज्ञान होता है वे मेरे ज्ञान कभी न होते यदि उनका सम्बन्ध किसी चेतन एकता से न होता। हमें इस अतीन्द्रिय एकता का ज्ञान भले ही न हो पर प्रत्येक ज्ञान के लिए इस अतीन्द्रिय एकता की अनिवार्य आवश्यकता होती है। यह वह एकता है जो विषयी-विषय के द्वैत से सर्वथा अतीत है। यह अधिष्ठान-चैतन्य (Foundational Consciousness) है।

उक्त चैतन्य के विभिन्न कार्यों का वर्णन करते हुए काण्ट कहते हैं कि आत्मा विभिन्न विषयों के बीच संश्लेषण का कार्य करती है। काण्ट के शब्दों में : "चूँकि मैं विभिन्न विषयों को जो मेरे समक्ष प्रस्तुत होते हैं, एक चैतन्य के भीतर सूत्रबद्ध कर सकता हूँ, इसी कारण मुझे यह अनुभव हो पाता है कि प्रत्येक विषय में चैतन्य समान है।"[2] समाकल्पन की विश्लेषणात्मक एकता तभी सम्भव है जब कि उसके पीछे संश्लेषणात्मक एकता विद्यमान हो। प्रत्यक्ष के सभी विषय मेरे हैं क्योंकि मैं उन सभी विषयों को अपने आत्म-चैतन्य में समाहित करने की क्षमता रखता हूँ। विषयों के ज्ञान में हमें इस आत्म-चैतन्य का स्पष्ट बोध भले ही न हो पर आत्म-चैतन्य प्रत्येक ज्ञान की प्रागपेक्षा है जिसके बिना ज्ञान सम्भव ही नहीं हो सकता। आत्मा जो सभी प्रत्यक्षों का अधिष्ठान है, स्वयं प्रत्यक्ष द्वारा गम्य नहीं है। इसका ज्ञान प्रागनुभविक (Apri-

---

1. काण्ट, The "I think" is an act of spontaneity, which cannot possibly be due to sense.

2. काण्ट "It is only because I am capable of combining in one consciousness the various determinations presented to me, that I can become aware that in every one of them, the consciousness is the same."

ori) है। यह सभी प्रकार के ज्ञान की पूर्व-मान्यता है। यहाँ काण्ट की आत्मा और अद्वैत वेदान्त की आत्मा की कल्पना में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है।

संक्षेप में : बुद्धि-विकल्पों के बिना हम किसी वस्तु के विषय में **विचार** नहीं कर सकते तथा संवेदनाओं के बिना हम किसी वस्तु के विषय में **ज्ञान** नहीं प्राप्त कर सकते। यथार्थ ज्ञान के लिए संवेदनाओं की उपस्थिति अनिवार्य है। ज्ञान के लिए विशुद्ध प्रत्यक्ष और विशुद्ध विकल्प दोनों की आवश्यकता है और ये दोनों प्रागनुभविक हैं। इन दोनों की समरूपता के विषय में दो ही विकल्प हैं : या तो प्रत्यक्ष संप्रत्ययों को निर्धारित करते हैं या संप्रत्यय प्रत्यक्ष को निर्धारित करते हैं। प्रथम विकल्प असम्भव है। अतः, संप्रत्यय ही प्रत्यक्षों को निर्धारित करते हैं।

सिद्धान्तों की समीक्षा

(Analytic of Principles)

बुद्धि के भीतर सामान्यतया दो प्रकार की शक्तियाँ पाई जातीं हैं : प्रथम नियमों की शक्ति (Faculty of Rules) और द्वितीय निर्णय-शक्ति (Faculty of Judgments)। बुद्धि नियमों की शक्ति के द्वारा केवल विशुद्ध विकल्पों का निर्माण करती है। पर अपनी निर्णय शक्ति के द्वारा बुद्धि यह देखने का प्रयास करती है कि क्या संसार में ऐसी कोई वस्तु है जो इन नियमों के अन्तर्गत आ सकती है? अथवा क्या संसार में ऐसी कोई वस्तु है जिसका इन नियमों के भीतर अन्तर्भाव (Subsumption) किया जा सकता है? आकारिक या सामान्य तर्क-शास्त्र (Formal or General Logic) में हम विषय वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि आकारिक तर्कशास्त्र का सम्बन्ध वस्तु (Matter) से न होकर केवल आकार (Form) से ही होता है। पर इसके विपरीत अतीन्द्रिय तर्क-शास्त्र (Transcendental Logic) उस विषय-वस्तु पर भी विचार करता है जिस पर हम बुद्धि के नियमों का प्रयोग करते हैं।

निर्णय-शक्ति के अतीन्द्रिय सिद्धान्त के भीतर दो बातें आती हैं :

1. **ऐन्द्रिक उपाधि** (Sensuous Condition)—यह वह उपाधि है जिसके अन्तर्गत ही बुद्धि के नियमों का प्रयोग किया जा सकता है। इसे विशुद्ध बुद्धि का आकृति कल्प (Schematism of the Pure Understanding) कहा जाता है।

2. **संश्लेषणात्मक निर्णय** (Synthetic Judgments)—दूसरे भाग में हम उन संश्लेषणात्मक निर्णयों का वर्णन करेंगे जो बुद्धि के विकल्पों के इन्द्रिय-संवेदनाओं पर आरोपित करने से उत्पन्न होते हैं। इन्हें विशुद्ध बुद्धि सिद्धान्त (Principle of Pure Understading) कहते हैं।

विशुद्ध विकल्पों के आकृति-कल्प

(Schematism of the Pure Concepts)

किसी वस्तु का किसी विकल्प के भीतर अन्तर्भाव (Subsumption) तभी हो सकता है जब कि वे दोनों सजातीय (Homogeneous) हों। पर हम देखते हैं कि विशुद्ध बुद्धि के विकल्पों एवं ऐन्द्रिक संवेदनों में विजातीय (Hetero-

geneous) सम्बन्ध पाए जाते हैं। अतः, दोनों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है ? अन्य विज्ञानों जैसे गणित या भौतिक शास्त्र में यह समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि उनमें प्रयुक्त विकल्पों और ऐन्द्रिक संवेदनाओं के बीच उतना विजातीय सम्बन्ध नहीं होता जितना वर्तमान स्थिति में पाया जाता है। अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि बुद्धिविकल्पों और ऐन्द्रिक संवेदनाओं के बीच ऐसी कोई वस्तु अवश्य होनी चाहिये जो इन दो परस्पर विरुद्ध और विजातीय तत्वों के बीच मध्यस्थता स्थापित करती हो। वही वस्तु इन दोनों के बीच मध्यस्थता स्थापित कर सकती है जिसके भीतर दोनों तत्वों के गुण विद्यमान हों। वह वस्तु विकल्पों की तरह विशुद्ध और संवेदनाओं की तरह ऐन्द्रिक (Sensuous) दोनों होनी चाहिए। उसी प्रकार उसे विकल्पों की तरह आभ्यन्तरिक (Inner) और बोधगम्य (Intelligible) एवं संवेदनाओं की तरह बाह्य और ऐन्द्रिक (Sensuous) दोनों होना चाहिए। काल (Time) एक ऐसा तत्व है जिसके भीतर ये सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं और वही बुद्धि विकल्पों एवं संवेदनाओं के बीच मध्यस्थता स्थापित कर सकता है। बाह्य संवेदनायें जब काल द्वारा निर्धारित हो जाती हैं तो वे बुद्धि विकल्पों के अधिक समीप आ जाती हैं। काण्ट ने 'काल' को अतीन्द्रिय आकृति-कल्प का नाम दिया है।

1· **परिमाण** (Quantity)—संख्या इसका आकृति-कल्प है।

एकता (Unity)—काल के सभी क्षण (All)

अनेकता (Plurality)—काल के अनेक क्षण (Some)

समग्रता (Totality)—काल का एक क्षण (One)

परिमाण का विकल्प कालश्रेणी (Time-Series) के आकृति-कल्प द्वारा अभिव्यक्त होता है।

2. **गुण** (Quality)

भाव (Reality)—काल में भाव (Being in time)

अभाव (Negation)—काल में अभाव (Not being in time)

परिसीमन (Limitation)—काल में कुछ भाव (Intensity of Sensation)

गुण का विकल्प काल-अन्तर्वस्तु (Time-Content) के आकृति-कल्प द्वारा अभिव्यक्त होता है।

3. **सम्बन्ध** (Relation)

द्रव्य-गुण (Substance-Accident)—परिवर्तनशील वस्तुओं के बीच कुछ अव्याहत वस्तु शेष रहती है। (Permanence in time)

कारण-कार्य (Cause-Effect)—कुछ वस्तुओं में अनिवार्य आनन्तर्य सम्बन्ध पाया जाता है। (Regular Succession in time)

अन्योन्याश्रय (Reciprocity)—कुछ गुण काल में एक साथ दिखाई पड़ते हैं। (Co-existence in time)

सम्बन्ध के विकल्प काल-क्रम (Time-Order) के आकृति-कल्प द्वारा अभिव्यक्त होते हैं।

4. **प्रकार** (Modality)

सम्भावना-असम्भावना (Possibility-Impossibility)—किसी एक समय में किसी वस्तु का अस्तित्व (Existence at any time)

सत्ता-असत्ता (Existence-Non-Existence)—किसी एक निश्चित समय में किसी वस्तु का अस्तित्व (Existence at a definite time)

अनिवार्यता-याहच्छिकता (Necessity-contingency)—सभी समयों में किसी वस्तु का अस्तित्व (Existence at all times)

प्रकार के विकल्प काल-बोध (Time-Comprehension) के आकृति-कल्प द्वारा अभिव्यक्त होते हैं।

बुद्धि के सिद्धान्त

सिद्धांतों की समीक्षा (Analytic of Principles) यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि संवेदनाओं के देश-काल के भीतर ग्रहण में ही बुद्धि के कार्य सन्निहित होते हैं। यह इस बात को दिखाने का प्रयत्न करता है कि प्रत्यक्ष के संस्थान (Forms of Intuition) में ही बुद्धि के सिद्धान्त (Principles of Understanding) पहले से ही विद्यमान होते हैं। विशुद्ध बुद्धि के आकृति-कल्प (Schematism of the Pure Understanding) वे ऐन्द्रिक उपाधियाँ हैं जिनके अन्तर्गत ही बुद्धि के नियमों का प्रयोग किया जा सकता है। इसके विपरीत, सिद्धान्तों की समीक्षा (Analytic of Principles) उन संश्लेषणात्मक निर्णयों का वर्णन है जो बुद्धि के विकल्पों को इन्द्रिय-संवेदनाओं पर आरोपित करने से उत्पन्न होते हैं। इन्हें बुद्धि के सिद्धान्त (Principles of the Understanding) कहते हैं।

बुद्धि के सिद्धान्त यह बताते हैं कि पदार्थों का प्रयोग अनुभव में कैसे और क्यों होता है? विकल्प और आकृति-कल्प स्वयं सिद्धान्त नहीं हैं। वे मात्र संप्रत्यय हैं। इन संप्रत्ययों के व्यवहार के विषय में जो सिद्धान्त हैं वे ही अनुभव की अनिवार्य प्रागपेक्षा हैं। इन सिद्धान्तों को काण्ट बुद्धि के सिद्धान्त कहते हैं।

बुद्धि के कुल आठ सिद्धान्त हैं जिन्हें चार भागों में विभाजित किया गया है। चार प्रकार के बुद्धि-विकल्पों के अनुसार चार प्रकार के बुद्धि के सिद्धान्त भी होते हैं।

1. परिमाण संवेदना के स्वयंसिद्ध सूत्र

(Quantity) —(Axioms of Intuition)

2. गुण—प्रत्यक्ष के पूर्वविधारण

(Quality)—(Anticipations of Perception)

3. सम्बन्ध—अनुभवों के सादृश्य
(Relation)—(Analogies of Experience)

4. प्रकार—सामान्य आनुभविक विचारों के अपेक्षित अभ्युपगम
(Modality) — (Postulates of Empirical Thought in General)

1. **संवेदना के स्वयंसिद्ध सूत्र** (Axioms of Intuition)—इस सिद्धान्त का स्वरूप निम्न है—

'सभी संवेद विस्तृत परिमाण हैं।'[1] इस सिद्धान्त का सम्बन्ध परिमाण से है। यह कहता है कि हमारे प्रत्यक्ष के जितने विषय होते हैं उनमें कुछ न कुछ मात्रा अवश्य होती है।

2. **प्रत्यक्ष के पूर्वावधारण** (Anticipations of Perception)—'समस्त संवृति में जो सत् संवेदन का विषय होता है वह गहन परिमाण वाला होता है अर्थात् उस परिमाण की कोटि या श्रेणी भी होती है।'[2]

बुद्धि के इस सिद्धान्त का सम्बन्ध गुण से है। हमारे संवेद या प्रत्यक्ष के विषयों में परिमाण के साथ उस परिमाण की एक कोटि भी होती है जो उसके पूर्ण अस्तित्व से लेकर शून्य अस्तित्व के बीच विचरण करती है। यही प्रत्यक्ष के पूर्वावधारण हैं।

3. **अनुभवों के सादृश्य** (Analogies of Experience)—'अनुभव केवल प्रत्यक्षों के किसी अनिवार्य सम्बन्ध के प्रतिनिधान द्वारा ही सम्भव है।'[3] बुद्धि के इस सिद्धान्त का सम्बन्ध (Relation) नामक विकल्पों से है। 'काल' की तीन वृत्तियाँ हैं, स्थिति (Duration), अनुक्रम (Succession) और सहभाव (Co-existence)। इस प्रकार प्रत्यक्षों के अनिवार्य सम्बन्ध के तीन रूप हो जाते हैं। इन तीनों रूपों को लेकर अनुभवों के तीन सादृश्य हो जाते हैं।

प्रथम सादृश्य—'संवृतियों के सभी परिवर्तनों में द्रव्य नित्य और शाश्वत होता है जिसकी मात्रा प्रकृति में न कभी बढ़ती है और न कम ही होती है।'[4]

---

1. काण्ट, "All intuitions are extensive quantities".
2. काण्ट, "In all phenomena, the Real, which is the object of sensation has intensive quantity i e. degree."
3. काण्ट, "Experience is possible only through the representation of a necessary connection of perceptions."
4. काण्ट, "In all changes of phenomena, the substance is permanent and its quantum is neither increased nor diminished in nature."

द्वितीय सादृश्य—'समस्त परिवर्तन कारण-कार्य-सम्बन्ध-नियम के अनुसार संचालित होते हैं।'[1]

तृतीय सादृश्य—'सभी द्रव्य जहाँ तक वे देश में एक साथ घटित होते हुए प्रत्यक्ष किए जा सकते हैं, अन्योन्याश्रय सम्बन्ध में स्थिर होते है।'[2]

अनुभवों के सादृश्य के समान सामान्य आनुभविक विचारों के अपेक्षित आधार-तत्व भी तीन हैं जो निम्न हैं :—

4. **सामान्य आनुभविक विचारों के अपेक्षित आधार-तत्व** (Postulates of all Empirical Thought)—बुद्धि के इस सिद्धान्त का सम्बन्ध प्रकार-वाचक विकल्पों एवं आकृति-कल्प से है।

प्रथम—'जिसकी अनुभव की आकारगत उपाधियों से समरूपता है, वह सम्भव है।'[3]

द्वितीय—'जो अनुभव को वस्तुगत उपाधियों से सम्बन्धित है, वह वास्तविक है।'[4]

तृतीय—'जो वास्तविक सत्ता से सम्बन्धित होते हुए अनुभव की सार्वभौम उपाधियों से निर्धारित है, वह अनिवार्य है।'[5]

यदि बुद्धि के उपर्युक्त सिद्धान्तों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि बुद्धि का प्रत्येक सिद्धान्त किसी न किसी आकार-योजना या आकृतिकल्प के प्रयोग का सिद्धान्त है। हम जानते हैं कि आकृति-कल्प के साथ संयुक्त होने पर ही कोई बुद्धि-विकल्प संवेदनाओं पर आरोपित किए जा सकते है। इस प्रकार बुद्धि, के सिद्धान्त आकृतियुक्त विकल्पों के प्रयोग के सिद्धान्त हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर ही आकृतियुक्त विकल्प हमारे अनुभव को सम्भव बनाते हैं।

संवृति और परमार्थ

(Phen on mena and Noumena)

हम पहले ही देख चुके हैं कि काण्ट के लिए वास्तविक ज्ञान का अर्थ संश्लेष-

---

1. काण्ट, 'All changes take place according to the law of connection of cause and effect.'

2. काण्ट, 'All substances in so for as they can be perceived as co-existent in space are always affecting each other reciprocally.

3. काण्ट, 'What agrees with the formal conditions af experience is possible.'

4. काण्ट, 'What is connected with the material conditions of experience (sensation) is real.'

5. काण्ट, 'That which, in its connection with the real is determined by universal conditions of experience is necessary.'

णात्मक प्रागनुभविक (Synthetic apriori) ज्ञान है जो संवेदनाओं और बुद्धि विकल्पों-दोनों के संयोग से निर्मित होता है। ज्ञान स्वलक्षण वस्तुओं से प्रारम्भ होकर संवेद-संस्थानों (Forms of Intuition) से आकृति-कल्प तक होते हुए बुद्धिविकल्पों तक पहुँचता है। बुद्धि-विकल्पों से प्रज्ञा के विज्ञानों द्वारा समन्वित होकर वह आत्मा तक पहुँचता है तब कहीं ज्ञान की प्राप्ति होती है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि काण्ट के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने के लिए संवेदनाओं की अत्यन्त आवश्यकता है अन्यथा हमारे ज्ञान में सत्यता कभी आ ही नहीं सकती। इसका अर्थ यह है कि जो वस्तुएँ असंवेद्य हैं अर्थात् जिन वस्तुओं की हमें संवेदना नहीं प्राप्त होतीं वे वस्तुएँ हमारे ज्ञान की सीमा के भीतर नहीं आ सकतीं। इस दृष्टिकोण से काण्ट के अनुसार हमारी संवेदनाओं के कारण स्व-लक्षण-वस्तुएँ (Things-in-themselves) अज्ञेय (Unknowable) हैं। सभी अतीन्द्रिय वस्तुएँ (Super-sensible Objects) अज्ञेय होनी चाहिए क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तुओं की संवेदना हमें प्राप्त नहीं हो सकती। जहाँ संवेदना नहीं होगी वहाँ ज्ञान भी नहीं होगा। हम वास्तव में वस्तुओं को इस प्रकार नहीं जानते जैसे कि वे हैं; हमें उनका ज्ञान संवेद-संस्थानों एवं बुद्धि-विकल्पों के साँचों के द्वारा ही प्राप्त होता है। जब तक हम संवेदनाओं के ऊपर संवेद-संस्थानों और बुद्धि-विकल्पों को आरोपित नहीं करेंगे, तब तक हमें ज्ञान की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। पर ज्योंही हम संवेदनाओं के ऊपर संवेद-संस्थानों और बुद्धि-विकल्पों का आरोपण करते हैं, परमार्थ का ज्ञान हमसे दूर चला जाता है। हम संवृति तक ही फँसे रह जाते हैं और परमार्थ के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। यह हमारी प्रमुख समस्या है। काण्ट ने इस समस्या को संवृति (Phenomena) और परमार्थ (Noumena) के भेद के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। इसके वास्तविक अर्थ को समझना हमारे लिए आवश्यक है।

काण्ट के अनुसार परमार्थ अज्ञेय है। इस अज्ञेयवाद को समझने के पहले 'ज्ञान' शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए। ज्ञान सदा निर्णयात्मक या परामर्शात्मक (Judgmental) होता है। ज्ञान की अभिव्यक्ति परामर्शों के माध्यम से होती है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जिस ज्ञान को हम परामर्शों के माध्यम से व्यक्त न कर सकेंगे उसे 'ज्ञान' की श्रेणी से निकाल दिया जायगा। इस दृष्टि से जब काण्ट परमार्थ को अज्ञेय कहता है तो उसके कहने का तात्पर्य यह नहीं होता कि परमार्थ के विषय में हमें पूर्ण अज्ञान है, उसके अज्ञेय कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि परमार्थ का ज्ञान निर्णयों या परामर्शों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता। हाँ, उसका ज्ञान निर्णय या परामर्शविहीन (Non-Judgmental) हो सकता है। प्रतिभानात्मक (Intuitive) ज्ञान इसी प्रकार का परामर्शविहीन ज्ञान होता है।

जिस प्रतिभानात्मक ज्ञान की ऊपर चर्चा की गई उससे काण्ट का तात्पर्य किसी बौद्धिक प्रतिभान (Intellectual Intuition) से नहीं है। बुद्धि के पास कोई प्रतिभान नहीं है। बुद्धि अन्तःप्रज्ञात्मक (Intuitive) न होकर केवल विमर्शात्मक (Discursive) ही है। यह पहले तत्व का विघटन करती है और पुनः उसे संगठित कर तत्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। पर तत्व को जानने की यह विधि उपयोगी नहीं हैं। कोरी बुद्धि, तत्व के विषय में केवल कल्पना कर सकती है; उसके ज्ञान में कोई सत्यता या प्रामाणिकता नहीं आ सकती। काण्ट के

अनुसार तत्व का ज्ञान न इन्द्रियानुभूति से हो सकता है और न बौद्धिक प्रतिभान से ही । तत्व का वास्तविक ज्ञान अपरोक्षानुभूति द्वारा ही हो सकता है जिसके लिए काण्ट ने अपने नीति-शास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण किया ।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में कुछ ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने काण्ट के अज्ञेयवाद का वास्तविक अर्थ न समझकर उसके विरुद्ध नाना प्रकार के आक्षेप लगाए हैं । विटगेन्स्टाइन (Wittgenstein) कहते हैं, "यदि हम चिन्तन की कोई सीमा निर्धारित करते हैं तो इसके लिए हमें सीमा के दोनों पार्श्वों का विचार करना होगा"।[1] इसी बात को ब्रैडले ने और स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है । वे कहते हैं, "वह मनुष्य जो यह सिद्ध करने के लिए तत्पर है कि तत्व-विज्ञान असम्भव है, वह एक विरोधी सिद्धान्त का प्रतिपादक तत्वविज्ञानी-बन्धु ही है ।"[2] यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जब काण्ट ने तत्वविज्ञान को असम्भव कहा था तो उसके कहने का यह अर्थ कदापि नहीं था कि तत्व को हम कभी जान ही नहीं सकते । तत्व-विज्ञान के असम्भव कहने का उसका तात्पर्य केवल इतना ही था कि निर्णयात्मक या परामर्शात्मक विधि से हम तत्व को नहीं जान सकते । हाँ ! इससे भिन्न विधियों द्वारा हम तत्व का अवश्य साक्षात्कार कर सकते हैं ।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के सिवा किसी अन्य दृष्टिकोण से अज्ञेयवाद की व्याख्या आत्मघाती होगी । यदि परमार्थ वस्तुतः अज्ञेय है तो हम यह भी नहीं जान सकते कि वह अज्ञेय है । यदि परमार्थ तक बुद्धि-विकल्पों की गति नहीं है तो हम कैसे कह सकते हैं कि परमार्थ वस्तुत: है पर वे अज्ञेय हैं ? परमार्थों के विषय में हमें कम से कम इतना ज्ञान तो अवश्य ही है कि उनकी सत्ता है, पर उन्हें हम नहीं जान सकते । उनके ऊपर हम भाव (Reality), अभाव (Negation) और परिसीमन (Limitation) नामक विकल्पों का प्रयोग करते ही हैं । ऐसी स्थिति में परमार्थों को पूर्ण रूप में अज्ञेय कैसे माना जा सकता है ? काण्ट इस समस्या का उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम किसी वस्तु के विषय में दो प्रकार से विचार कर सकते हैं ; प्रथम विधि रूप से और द्वितीय निषेध रूप से । विधि रूप ज्ञान सदा प्रत्यक्षों पर आधारित होता है । हम जानते हैं कि परमार्थ अतीन्द्रिय सत्ताएँ हैं ; अतः, विधि रूप में हमें उनका ज्ञान होना असम्भव है । हाँ, निषेध रूप में परमार्थों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । यहाँ निषेध का वास्तविक अर्थ ज्ञान की सीमा है । इस दृष्टि से अज्ञेयवाद का अर्थ हुआ : परामर्शात्मक ज्ञान की सीमा । ज्ञान को स्वयं अपनी सीमा का ज्ञान होता है और इसमें कोई विरोध नहीं है । परमार्थों का निषेध रूप ज्ञान 'नेति' 'नेति' का ज्ञान है । यह बताता है कि परमार्थों पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की कोई भी विशेषताएँ लागू नहीं होतीं; यह इस बात को भी बताता है कि परमार्थ देश और काल में नहीं हैं तथा निषेध रूप ज्ञान यह भी प्रदर्शित करता है कि यह अपरिवर्तनशील है । अतः, अज्ञेयवाद का अर्थ ज्ञान का आत्यन्तिक अभाव नहीं है । इसका वास्तविक अर्थ ज्ञान की

1. विटगेन्स्टाइन, "In order to draw a limit to thinking, we should have to think both sides of this limit."

2. ब्रैडले, आभास और सत्, पृ० 1, "A man who is ready to prove that metaphysics is impossible is a brother metaphysician with a rival theory of his own."

सीमा का ज्ञान है। अज्ञेयवाद की यह मान्यता है कि यद्यपि परमार्थों का हमें ज्ञान नहीं हो सकता पर वे बिलकुल अकल्पनीय नहीं हैं। परमार्थों या स्वलक्षण वस्तुओं की कल्पना एक **सीमान्त अवधारणा** (Limiting Concept) है। यह बुद्धि की सीमा का निर्धारण करती है, यह परमार्थों का निषेध नहीं करती।

जिस प्रकार काण्ट बाह्य परमार्थों के अज्ञेयवाद में विश्वास करते हैं उसी प्रकार वे आन्तरिक परमार्थ या आत्मा के अज्ञेयवाद में भी विश्वास करते हैं। यह ठीक है कि मुझे अपने अस्तित्व, अपनी प्रक्रियाओं एवं अपनी स्वतः प्रवर्तिता की सहजअनुभूति है, पर आत्म-चैतन्य एवं आत्मा का ज्ञान ये दोनों चीजें एक ही नहीं हैं। काण्ट के अनुसार, जिस वस्तु का हमें प्रत्यक्ष होगा उसी वस्तु का हमें ज्ञान प्राप्त हो सकता है। हमें आत्मा का प्रत्यक्ष होता नहीं। हम अपनी आत्मा को आन्तरिक अवस्थाओं के माध्यम से ही जानते हैं। हमारा प्रत्यक्ष आन्तरिक अवस्थाओं तक ही सीमित है। आत्मा अतीन्द्रिय है, अतः हमें उसका ज्ञान (परामर्शात्मक ज्ञान) प्राप्त नहीं हो सकता। अतः, ऐसी स्थिति में हमें आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मा अज्ञेय है। इस प्रकार तत्व-विज्ञान (Metaphysics) जो किसी अनुभवातीत सत्ता के ज्ञान प्राप्त कराने का दावा करता है, असम्भव है। तत्व-विज्ञान असम्भव है।

यहाँ एक बात और है जिस पर विचार कर लेना चाहिए। क्या वाह्य परमार्थों को हमारी संवेदनाओं का कारण माना जा सकता है? हम जानते हैं कि, कारण-कार्य बुद्धि-विकल्प है जिनकी गति संवृति तक ही सीमित है, परमार्थों तक उनकी पहुँच नहीं है। ऐसी स्थिति में स्व-लक्षण बाह्य पदार्थ हमारी संवेदनाओं के कारण नहीं हो सकते। बाह्य परमार्थ संवेदनाओं के मात्र अधिष्ठान (Substratum) हैं।

स्व-लक्षण वस्तुओं की तार्किक व्याख्या

काण्ट के बाद जितने भी दार्शनिक आए उन लोगों ने काण्ट द्वारा प्रतिपादित स्व-लक्षण वस्तुओं के प्रत्यय में किसी न किसी प्रकार के आत्म-व्याघात को देखा। दार्शनिकों की आलोचना का प्रमुख केन्द्र काण्ट का अज्ञेयवाद (Agnosticism) ही रहा है। वे यही कहते हैं कि एक ओर काण्ट बाह्य परमार्थों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और दूसरी ओर यह कहते हैं कि वे अज्ञेय है। यह एक प्रकार का बदतोव्याघात है। आधुनिक तर्क-शास्त्र (Modern Logic) का विचार है कि काण्ट की स्व-लक्षण वस्तुओं की कल्पना में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

आधुनिक तर्क-शास्त्र निम्न दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है—

(अ) हमारा सभी ज्ञान निर्णयात्मक या परामर्शात्मक होता है।[1]

(ब) अस्तित्व विधेय नही है।[2]

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त केवल आधुनिक तर्क-शास्त्र को ही मान्य नहीं हैं वे काण्ट को भी मान्य हैं। अतः, यदि इन सिद्धान्तों के आधार पर काण्ट के किसी

1. All our knowledge is judgmental.
2. Existence is not a predicate.

सिद्धान्त का परीक्षण किया जाता है तो इसमें कोई हानि नहीं होगी। काण्ट का यह मत कि स्वलक्षण वस्तुओं का अस्तित्व है और वे अज्ञेय हैं, उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों का साक्षात् परिणाम है।

सिद्धान्त (अ) कहता है कि यदि हमें स्वलक्षण वस्तुओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करना है तो हमें कम से कम ऐसे तर्क-वाक्य का ज्ञान होना चाहिए जिसका कोई स्व-लक्षण वस्तु तार्किक उद्देश्य (Logical Subject) हो और कोई गुण उसका तार्किक विधेय (Logical Predicate) हो। किन्तु काण्ट के अनुसार स्व-लक्षण वस्तुओं के विषय में हमें केवल इतनी ही जानकारी है कि उनका अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त उनके विषय में हमें कोई जानकारी नहीं है। ऐसी परिस्थिति में यदि हम स्व-लक्षण-वस्तुओं के सम्बन्ध में किसी तर्क-वाक्य का निर्माण करना चाहते हैं, तो वह तर्क-वाक्य ऐसा होगा जिसका कोई स्वलक्षण वस्तु उद्देश्य होगा और अस्तित्व (Existence) विधेय होगा। पर सिद्धान्त (ब) के अनुसार अस्तित्व विधेय हो ही नहीं सकता। उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्व-लक्षण वस्तुओं के विषय में हम किसी तर्क-वाक्य का निर्माण ही नहीं कर सकते। जब उनके विषय में किसी तर्क-वाक्य का निर्माण नहीं हो सकता, तो उनके विषय में कोई ज्ञान भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक ज्ञान वाक्यात्मक होता है। शायद काण्ट ने इसी दृष्टि से कहा था कि स्वलक्षण वस्तुएँ अज्ञेय हैं।

काण्ट के अज्ञेयवाद की, आधुनिक तर्क-शास्त्र के अनुसार, एक दूसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की जा सकती है। उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा कि स्व-लक्षण-वस्तुओं के विषय में यदि हम किसी वाक्य का निर्माण कर सकते हैं तो केवल यही कि उनका अस्तित्व है। "स्व-लक्षण वस्तुएँ अस्तित्ववान हैं", यही उसका स्वरूप होगा। आधुनिक तर्क-शास्त्र के अनुसार सभी अस्तित्ववादी तर्क-वाक्य सामान्य (General) तर्क-वाक्य होते हैं जो उद्देश्य-विधेय तर्क-वाक्यों से सर्वथा भिन्न होते हैं।[1] काण्ट के अनुसार ज्ञान वाक्यात्मक होता है और सभी तर्क-वाक्य उद्देश्य-विधेय रूप होते हैं। "स्व-लक्षण-वस्तुएँ अस्तित्ववान हैं" यह वाक्य काण्ट के अनुसार न वाक्य है और न ज्ञान ही क्योंकि यह उद्देश्य-विधेय वाक्य नहीं है। ऐसी स्थिति में स्वलक्षण वस्तुएँ अज्ञेय होने के सिवा और हो ही क्या सकती हैं। अतः, मेरा निष्कर्ष यह है कि स्वलक्षण वस्तुओं के अज्ञेय होने में कोई आत्म-व्याघात की बात नहीं दिखाई देती।

प्रज्ञालंब-समीक्षा

(Transcendental Dialectic)

काण्ट का समीक्षात्मक दर्शन ह्यूम के संशयवाद एवं लाइब्नित्स के रूढ़िवाद के विरोध में उत्पन्न हुआ था। ह्यूम के संशयवाद के विरोध में काण्ट ने कहा कि गणित और भौतिक शास्त्र में हमें केवल संश्लेषणात्मक ज्ञान ही नहीं होता वरन् वह अनिवार्य और प्रागनुभविक भी होता है। लाइब्नित्स के विरुद्ध काण्ट ने कहा कि केवल बुद्धि के आधार पर हमें किसी अतीन्द्रिय सत्ता के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। परिकल्पनात्मक तत्वविज्ञान (Speculative Metaphysics)

---

1. Stebbing, L. S., A Modern Introduction to Logic p, 80.

जो केवल बुद्धि के आधार पर अतीन्द्रिय जगत का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, असम्भव है। इस प्रकार काण्ट तत्व-विज्ञान की सम्भावना का निषेध करते हैं।

काण्ट ने बुद्धि एवं प्रज्ञा में भेद किया है। बुद्धि (Understanding) केवल उन्हीं विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकती है जिनका हमें प्रत्यक्ष होता है पर प्रज्ञा (Reason) प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय (Super-sensible) का भी ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। 'अतीन्द्रिय' का ज्ञान केवल 'विचार तक ही सीमित होता है, वह 'प्रत्यक्ष' का रूप धारण नहीं कर सकता। प्रज्ञा जब प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय जगत में प्रवेश करने का ढोंग करती है तो वह प्रत्यक्ष (Percept) और विचार (Thought) के बीच भेद करने में असमर्थ हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप वह नाना प्रकार की 'द्व्यर्थकताओं', 'अनेकार्थकताओं', 'अप्रामाणिक अनुमानों, एवं 'विरोधाभासों' में अपने को आबद्ध कर लेती है। अतीन्द्रिय तत्व-विज्ञान में यही सब होता है। बुद्धि विकल्प, जब तक उनका प्रयोग संवृति तक सीमित होता है, बिलकुल वैध हैं, पर ज्योंही हम उनका प्रयोग परमार्थ पर करने लगते हैं, वे अवैध हो जाते हैं। तत्व-विज्ञान जो अतीन्द्रिय सत्ता के विज्ञान होने का दावा करता है, **संवृति और परमार्थ के भेद को भूल कर बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग परमार्थों के ऊपर करने लगता** है। इसका परिणाम यह होता है कि यह अपने को नाना प्रकार के भ्रम-जाल में फँसा देता है। काण्ट ने इन भ्रमों को अतीन्द्रिय भ्रम (Transcendent Illusions) का नाम दिया है। आनुभविक भ्रम (Empirical Illusions) एवं अतीन्द्रिय भ्रम (Transcendent Illusions) में भेद है। आनुभविक भ्रम प्रत्यक्ष के क्षेत्र में कल्पना के दुष्प्रभाव के कारण उत्पन्न होता है जिससे हमारी निर्णय-शक्ति भ्रमित हो जाती है। इसमें बुद्धि के नियमों का कोई गलत प्रयोग नहीं होता। इसके विपरीत, अतीन्द्रिय भ्रम का सम्बन्ध उन सिद्धान्तों से होता है जिनका प्रत्यक्ष-जगत से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता पर फिर भी वे हमारे मन में ऐसा भ्रम उत्पन्न कर देते हैं मानों उनके द्वारा स्थापित निष्कर्ष उतने ही वैध हैं जैसा कि बुद्धि के द्वारा स्थापित निष्कर्ष वैध होते हैं। इन समस्त सिद्धान्तों को जिनका प्रयोग प्रत्यक्ष-जगत ही सीमित है काण्ट ने **लोकभूत** (Immanent) सिद्धान्त कहा है; इसके विपरीत उन सिद्धान्तों को जो प्रत्यक्ष की सीमा का अतिक्रमण करने का प्रयत्न करते हैं काण्ट ने **लोकातीत** (Transcendent) सिद्धान्त कहा है। लोकातीत सिद्धान्तों से काण्ट का तात्पर्य बुद्धि-विकल्पों के दोषपूर्ण प्रयोग से नहीं है जिसमें बुद्धि अपनी सीमित शक्ति का विचार न कर प्रत्यक्ष का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय जगत में प्रवेश करने का प्रयत्न करती है। इसे बुद्धि-विकल्पों का अतीन्द्रिय प्रयोग (Transcendental use) कहा जायगा। काण्ट ने लोकातीत (Transcendent) एवं अतीन्द्रिय (Transcendental) शब्दों के बीच भेद किया है। अपनी प्रज्ञालंब-समीक्षा द्वारा उन्होंने प्रज्ञा के लोकातीत सिद्धान्तों के मिथ्याभिमान को दूर करने का प्रयत्न किया है।

प्रज्ञा के लोकातीत सिद्धान्तों द्वारा उत्पन्न भ्रम अपरिहार्य होते हैं क्योंकि आनुभविक भ्रमों के समान इनका निराकरण नहीं किया जा सकता। ये स्वाभाविक और सहज हैं। प्रज्ञालम्ब-समीक्षा इन लोकातीत भ्रमों का अनुसंधान कर उनके वास्तविक स्वरूप का निरूपण करती है जिससे कि हम उनके वास्तविक स्वभाव को समझकर उनसे भ्रमित न हो सकें।

बुद्धि और प्रज्ञा

(Understanding and Reason)

काण्ट ने बुद्धि और प्रज्ञा में भेद किया है। बुद्धि का कार्य प्रत्यक्ष तक ही सीमित है पर प्रज्ञा प्रत्यक्ष का अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय जगत में प्रवेश करने का प्रयत्न करती है। बुद्धि विषयों के बीच एकीकरण स्थापित करती है, पर प्रज्ञा बुद्धि के व्यापारों के बीच एकीकरण को सम्भव बनाती है। बुद्धि के नियम वस्तु-जगत पर लागू होते हैं; वे प्रकृति का निर्माण करते हैं। अतः इन्हें **उपादानात्मक नियम** (Constitutive Principles) कहते हैं। इनके विपरीत, प्रज्ञा के नियम उपादानात्मक न होकर नियामक नियम (Regulative Principles) होते हैं। प्रज्ञा से उत्पन्न ज्ञान में सत्यता या यथार्थता नहीं होती क्योंकि प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्व प्रत्यक्ष द्वारा सत्यापित नहीं किए जा सकते। इन तत्वों का कोई इन्द्रिय-संवेदन नहीं होता, अतः इनके मौलिक पदार्थ वस्तु जगत में हैं या नहीं, इसकी हमें जानकारी नहीं हो सकती। प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्व वास्तविक न होकर सम्भाव्य ही होते हैं। सम्भाव्य होने के कारण, प्रज्ञा द्वारा स्थापित तत्वों के विषय में नाना प्रकार के परस्पर-विरोधी विचार उत्पन्न होते हैं जिन्हें 'द्वन्द्व' कहते हैं। इनका आगे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

बुद्धि के नियमों को किसी उच्चतर सिद्धान्तों के भीतर सन्निवेश करने की शक्ति को प्रज्ञा कहते हैं। यह बुद्धि के निर्णयों के बीच एकीकरण का प्रयास करती है। किन्तु ये उच्चतर सिद्धान्त बुद्धि के लिये केवल लाघव-न्याय के आत्मनिष्ठ नियम ही हैं जिनके द्वारा वह विकल्पों के प्रयोग को निम्नतम संभाव्य संख्या में घटित करने का प्रयास करती है।

प्रज्ञा विषय-वस्तुओं के नियम को निर्धारित नहीं करती और न तो विषयों के ज्ञान की ही व्याख्या करती है। इसका प्रमुख कार्य जिज्ञासा का निर्देशन करना तथा पूर्णता के उन आदर्शों को प्रस्तुत करना है जिन्हें हमारा ज्ञान कभी भी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सकता। **बुद्धि वस्तुगत जगत का संघटक (Constitutive) तत्व है जब कि प्रज्ञा वस्तुगत जगत के ज्ञान का नियामक (Regulative) तत्व है।**

(i) प्रज्ञा हमारी सभी मानसिक प्रक्रियाओं को एक सामान्य विज्ञान के अन्तर्भूत करने का प्रयत्न करती है जिसे वह **आत्मा** (Soul) का नाम देती है। बौद्धिक मनोविज्ञान इसी का अध्ययन करता है।

(ii) इसी प्रकार प्रज्ञा सभी भौतिक प्रक्रियाओं को **प्रकृति** (Nature) के अन्तर्भूत करती है। बौद्धिक संसृति-विज्ञान इसी का अध्ययन करता है।

(iii) अन्त में, प्रज्ञा हमारी सभी प्रक्रियाओं को चाहे वे मानसिक हों या भौतिक, एक महाविज्ञान **ईश्वर** (God) के अन्तर्भूत करती है। बौद्धिक ईश्वर-विज्ञान इसी का अध्ययन करता है।

संक्षेप में : आत्मा आत्मगत बौद्धिक व्यापारों का संस्थान है, प्रकृति वस्तुगत बौद्धिक विषयों का संस्थान है तथा ईश्वर इन दोनों संस्थानों का एक महासंस्थान है

जो मानसिक, भौतिक या अन्य सभी विषयों का समाहार प्रस्तुत करता है। प्रज्ञा का प्रत्येक संस्थान संग्रहालय मात्र नहीं है, वरन् एक इकाई भी है। उसमें संपूर्णता और एकता दोनों का समन्वय होता है।

प्रज्ञा के विज्ञान (Ideas) अनुभवातीत और लोकातीत (Transcendent) हैं, अनुभव में किसी दृष्टान्त द्वारा उनका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। अतः हम किसी प्रतिभा या प्रत्यक्ष रूप में निरपेक्ष समग्रता को प्रस्तुत नहीं कर सकते। विज्ञान हमारे समक्ष एक ऐसी समस्या को प्रस्तुत करता है जिसका कोई समाधान नहीं है। फिर भी इसकी उपयोगिता है क्योंकि यह बुद्धि को निर्देश देता है तथा हमारे ज्ञान में अधिक से अधिक समन्वय लाने का प्रयत्न करता है।

प्रज्ञा के विज्ञानों का वस्तु-जगत से साक्षात् सम्बन्ध न होकर परोक्ष सम्बन्ध ही होता है। इसीलिये इन विज्ञानों में अनिवार्यता और सार्वभौमता तो होती है पर सत्यता नहीं होती। इनका कार्य बुद्धि के सिद्धान्तों को संगठित कर एकता प्रदान करना है। इनका साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि के व्यापारों से ही होता है। संवेद्यता के साथ इनका परोक्ष सम्बन्ध होता है। विज्ञान बुद्धि के व्यापारों में एकता स्थापित करने के साथ उसके समक्ष संपूर्णता का आदर्श भी प्रस्तुत करते हैं।

बुद्धि और प्रज्ञा के बीच आगे भेद करते हुए काण्ट कहते हैं कि बुद्धि के विषय औपाधिक (Conditioned) हैं पर प्रज्ञा के विषय निरुपाधिक (Unconditioned) हैं। बुद्धि के विषय संवेदनाओं की अपेक्षा रखते हैं पर प्रज्ञा के विषयों का कोई निर्धारक तत्व नहीं है। वे अनुभवातीत और लोकातीत हैं जो अनुभव की सीमा का अतिक्रमण कर स्वतन्त्र रूप में विचरण करते हैं। उनकी संवादिता में प्रत्यक्ष जगत में कोई वस्तु नहीं होती। प्रज्ञा के विज्ञानों के स्वतन्त्र होने का यह तात्पर्य नहीं है कि वे हर प्रकार से स्वच्छन्द हैं; वे न तो अतन्त्र हैं और न परतंत्र हैं, वरन् वे प्रज्ञा के नैसर्गिक स्वभाव द्वारा उद्भूत होते हैं। चूँकि बुद्धि के व्यापार को वे संगठित करते हैं, अतः बुद्धि के साथ प्रज्ञा के विज्ञान का अनिवार्य सम्बन्ध होता है।

प्रज्ञा के आत्मा, प्रकृति एवं ईश्वर इन तीन विज्ञानों के आधार पर तीन प्रकार के शास्त्रों की स्थापना की गई है। आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए **बौद्धिक मनोविज्ञान** (Rational Psychology) की स्थापना की गई है। विराट प्रकृति जो सभी भौतिक प्रक्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करती है, की सत्ता को सिद्ध करने के लिए **बौद्धिक संसृति-विज्ञान** (Rational Cosmology) का निर्माण किया गया है। इनके अतिरिक्त ईश्वर जो आत्मा एवं प्रकृति के बीच समन्वय स्थापित करता है, उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए **बौद्धिक ईश्वरविज्ञान** (Rational Theology) की रचना की गई है। काण्ट के अनुसार बौद्धिक मनोविज्ञान, बौद्धिक संसृति-विज्ञान तथा बौद्धिक ईश्वरविज्ञान जो आत्मा, प्रकृति तथा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का मिथ्याभिमान करते हैं, वास्तव में इन तत्वों की सत्ता को सिद्ध करने में सदा असफल रहेंगे। आत्मा, प्रकृति और ईश्वर तीनों अतीन्द्रिय सत्ताएँ हैं जहाँ बुद्धि की गति नहीं है। जब वहाँ तक बुद्धि की गति ही नहीं है तो बुद्धि द्वारा उनके विज्ञान की रचना ही किस प्रकार की जा सकती है? बुद्धिगम्य न होते हुये भी यदि बुद्धि इन सत्ताओं के विषय में किसी तर्क की प्रतिष्ठा

करती है तो उनके सम्बन्ध में द्वन्द्वों की सृष्टि अवश्य होगी। बुद्धि द्वारा उत्पन्न द्वन्द्वों की विशेषता यह होती है कि उनके पक्ष और विपक्ष दोनों में समान बल होता है जिसके कारण यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसका स्वीकरण किया जाय और किसका निराकरण किया जाय। परिणामस्वरूप उपर्युक्त तीनों विज्ञान विरोधों के जाल में बुरी तरह फँस जाते हैं। तीनों शास्त्रों में उत्पन्न इन विरोधों को काण्ट ने तीन पृथक नाम दिये हैं। बौद्धिक मनोविज्ञान में उत्पन्न विरोधों को काण्ट ने **तर्काभास** (Paralogisms) की संज्ञा दी है; बौद्धिक संसृति-विज्ञान के विरोधों को उन्होंने **विप्रतिषेध** (Antinomies) नाम दिया है तथा बौद्धिक ईश्वर-विज्ञान को **व्याघात** (Contradictions) नाम दिया गया है। इन तीनों विरोधों के नामकरण में भले ही भेद हो पर उनका भाव लगभग एक ही है और वह है परस्पर विरोधी तर्क।

बौद्धिक मनोविज्ञान के तर्काभास

(Paralogisms of Rational Psychology)

जब हम किसी निष्कर्ष की विषय-वस्तु पर ध्यान दिए बिना ही उसके औपचारिक दोषों का विचार करते हैं तो उसे तर्काभास (Paralogisms) कहा जाता है। अतीन्द्रिय तर्काभास का कारण अतीन्द्रिय ही होता है। मानवीय प्रज्ञा के स्वभाव में ही निहित होने के कारण यह अपरिहार्य होता है, पर इसका समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

"अहं चिन्तयामि" (I think) या आत्म-चैतन्य हमारे सभी ज्ञान व विचारों का आधार होता है। जब तक हम सभी विचारों और विज्ञानों को एक ही चैतन्य के भीतर समाहित नहीं कर लेते तब तक वे (मेरे) विचार नहीं कहे जा सकते। यद्यपि यह अधिष्ठान-चैतन्य आनुभविक चैतन्य से सर्वथा स्वतन्त्र है फिर भी यह प्रतिनिधान-शक्ति (Faculty of Representation) के भीतर दो विषयों में विभेद करने में सहायक होता है : अहं (I) जो आन्तरिक इन्द्रिय का विषय है जिसे आत्मा (Soul) कहा जाता है तथा इदं या शरीर जो बाह्य इन्द्रियों का विषय होता है। 'अहं' जो सभी प्रकार के चिन्तन का कर्ता है, मनोविज्ञान का विषय है।

आत्म-चैतन्य जो सभी प्रकार के विषयों और विषय-ज्ञान का आधार है, स्वयं इस द्वैत से आबद्ध नहीं हो सकता। स्वयं अतीन्द्रिय होने के कारण कोई आनुभविक विधेय इस पर लागू नहीं हो सकते। इस पर केवल अतीन्द्रिय विधेय ही लागू किए जा सकते हैं। यदि आत्मा के ऊपर हम आनुभविक विधेय आरोपित करते हैं तो उसकी बौद्धिक विशुद्धता नष्ट हो जाती है। इतना होते हुए भी मानव-स्वभाव की विशेषता है कि वह अतीन्द्रिय आत्मा के ऊपर आनुभविक विकल्पों को आरोपित करता है जिससे चिन्तन में कई प्रकार की त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। हम आत्मा के ऊपर निम्न चार प्रकार के बुद्धि-विकल्पों को आरोपित करते हैं —

1. आत्मा एक द्रव्य है।
2. गुण की दृष्टि से वह **निरवयव** (Simple) है।
3. उन विभिन्न काल-क्षणों में जिनमें इसकी सत्ता रहती है, इसकी संख्यात्मक

एकात्मकता बनी रहती है। अर्थात् इसमें अनेकता न होकर एकता (Unity) है।

4. देश में सम्भाव्य विषयों के साथ इसका सम्बन्ध है।

विशुद्ध मनोविज्ञान के सभी प्रत्यय उपर्युक्त चार तत्वों के संयोग से निर्मित होते हैं। यह द्रव्य जो कि आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय का विषय है, अभौतिकता (Immateriality) के प्रत्यय को उत्पन्न करता है, उसकी सरलता अक्षयता (Incorruptibility) के प्रत्यय को उत्पन्न करता है; उसकी एकता व्यक्तित्व (Personality) के प्रत्यय को तथा तीनों प्रत्यय संयुक्त रूप में आध्यात्मिकता (Spirituality) के प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं; देश में सम्भाव्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध अमरत्व (Immortality) के प्रत्यय को उत्पन्न करता है।

उपर्युक्त चार प्रत्ययों के आधार पर काण्ट ने अतीन्द्रिय मनोविज्ञान के चार तर्काभासों (Paralogisms) का वर्णन किया है। ये तर्काभास हमारे मन में यह विचार उत्पन्न करते हैं मानों उनके आधार पर हम आत्मा के विज्ञान को खड़ा कर रहे हैं किन्तु वह बुद्धि का एक भ्रम ही है। आत्मा के विषय में हम यह भी नहीं कह सकते कि वह एक प्रत्यय (Concept) है; इसके विषय में हम अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि यह एक विशुद्ध चैतन्य है जो सभी प्रत्ययों का अधिष्ठान है। आत्मा हमारे सभी विचारों का अतीन्द्रिय उद्देश्य है जिसके विचार विधेय हैं।[1] इसके अतिरिक्त आत्मा के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। उपर्युक्त चार प्रकार के निष्कर्षों को बौद्धिक मनोविज्ञान चार तर्कों से सिद्ध करने का प्रयास करता है जिनको काण्ट ने निम्न चार तर्काभासों के नाम से अभिहित किया है—

(1) द्रव्यत्व का तर्काभास (Paralogism of Substantiality)

(2) सरलता का तर्काभास (Paralogism of Simplicity)

(3) व्यक्तित्व का तर्काभास (Paralogism of Personality)

(4) काल्पनिकता का तर्काभास (Paralogism of Ideality)

इन तर्काभासों पर हम पृथक्-पृथक् रूप में विचार करेंगे।

(1) द्रव्यत्व का तर्काभास

(Paralogism of Substantiality)

काण्ट ने इस तर्काभास को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

'वह, जिसका प्रतीक हमारे सभी निर्णयों का निरपेक्ष उद्देश्य है और इसलिए जिसका प्रयोग किसी अन्य वस्तु के निरूपण के लिए नहीं किया जा सकता, एक द्रव्य है।

---

1. काण्ट "By this I, or he, or it, which thinks, nothing is represented beyond a transcendental subject of thoughts that are its predicates."

मैं, एक चिन्तशील सत्ता के रूप में अपने सभी सम्भाव्य निर्णयों का निरपेक्ष उद्देश्य हूँ तथा मेरे इस प्रतीक का प्रयोग किसी अन्य वस्तु के विधेय के रूप में नहीं किया जा सकता।

अतः, मैं एक चिन्तनशील सत्ता (आत्मा) के रूप में एक द्रव्य हूँ।'

हम अतीन्द्रिय तर्कशास्त्र में पहले ही देख चुके हैं कि विशुद्ध बुद्धि-विकल्पों, विशेषकर द्रव्य के बुद्धि-विकल्प का स्वयं में कोई वस्तुनिष्ठ अर्थ नहीं होता जब तक कि वे ऐन्द्रिक संवेदनाओं पर आश्रित न हों। हम भली भाँति जानते हैं कि अतीन्द्रिय सत्ता होने के कारण आत्मा की संवेदना हमें प्राप्त नहीं हो सकती। वैसे तो हम औपचारिक रूप में किसी भी वस्तु के लिए कह सकते हैं कि वह द्रव्य है जो गुणों या विधेयों से भिन्न है। ऐसी परिस्थिति में आत्मा को द्रव्य मानने से मनोविज्ञान को कोई लाभ नहीं पहुँचता।

अब, यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि आत्मा को द्रव्य कहने की कुछ उपयोगिता है तो वह उपयोगिता केवल यही हो सकती है कि आत्मा नित्य और अविनाशी है जो उत्पत्ति और विनाश दोनों से अतीत है। पर यदि विचार किया जाय तो 'द्रव्य' के प्रत्यय से उसकी नित्यता निगमित नहीं की जा सकती। अतः इस अर्थ में भी आत्मा को 'द्रव्य' मानने से कोई लाभ नहीं निकलता।

एक तीसरी कठिनाई जो उपर्युक्त हेत्वानुमान में हमें दिखाई देती है, वह यह है कि साध्य-वाक्य में 'उद्देश्य' (Subject) का अर्थ 'नित्य द्रव्य' है तथा पक्ष-वाक्य में 'उद्देश्य' का अर्थ 'अविषय' है। 'उद्देश्य' शब्द की इस द्वयर्थकता के कारण यह तर्क दूषित हो गया है। इसी सम्बन्ध में एक और बात ध्यान देने की है और वह यह है कि यहाँ तार्किक उद्देश्य (Logical Subject) एवं तात्विक उद्देश्य (Metaphysical Subject) को अभिन्न माना गया है जो सर्वथा दोषपूर्ण है।

(2) सरलता का तर्काभास

(Paralogism of Simplicity)

काण्ट ने इस तर्काभास को निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

'वह, जिसका कार्य अनेक वस्तुओं के कार्य का समवर्तन (Concurrence) नहीं माना जा सकता, सरल है।

अब, आत्मा, चिन्तनशील "मैं" ऐसी ही वस्तु है।

अतः, आत्मा सरल है।'

प्रत्येक मिश्रित द्रव्य अनेक द्रव्यों का संघात होता है और मिश्रित द्रव्य का कार्य उसके आंगिक द्रव्यों के पृथक् कार्यों का संघात होता है। ऐसा कार्य जो अनेक द्रव्यों के कार्यों के समवर्तन के कारण उत्पन्न हुआ हो, बाह्य कार्य ही हो सकता है किन्तु यही बात आन्तरिक विचारों पर लागू नहीं हो सकती। यदि कल्पना के लिए मान भी लिया जाय कि आत्मा एक मिश्रित द्रव्य है जो चिन्तन करती है तो आत्मा का प्रत्येक भाग चिन्तन-प्रक्रिया में प्रतिबिम्बित होगा जिससे विचार का तारतम्य टूट

जायगा । अतः, आत्मा अनेक चिन्तन करने वाली इकाइयों का संघात कभी नहीं हो सकती । उसे अनिवार्यतः सरल या निरवयव होना चाहिए ।

यह प्रतिज्ञप्ति कि 'एक विचार किसी चिन्तनशील सत्ता की निरपेक्ष एकता का ही परिणाम हो सकता है' कोई विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति नहीं है क्योंकि किसी विचार की एकता विभिन्न द्रव्यो के विचारों के संकलिन संघात का परिणाम भी हो सकती है । अतः, यदि हम किसी चिन्तनशील सत्ता का अनुसंधान करना है तो उस सत्ता के स्थान पर हमें स्वयं को स्थानापन्न कर देना चाहिए क्योंकि वह सत्ता विषय न होकर विषयी ही है । किसी विषय के विषयी की निरपेक्ष एकता की माँग हम इसलिए करते हैं क्योंकि इसके अभाव में हम यह नहीं कह सकते कि "मैं चिन्तन करता हूँ ।" इसका कारण यह है कि यद्यपि विचारों का विभाजन और वितरण विभिन्न सत्ताओं में हो सकता है किन्तु "मैं" का इस प्रकार विभाजन और वितरण नहीं किया जा सकता ।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि आत्मा की सरलता "मैं चिन्तन करता हूँ" इससे निष्कर्षित नहीं होती, वरन् "मैं चिन्तन करता हूँ," इसमें आत्मा की सरलता पहले से ही सन्निहित रहती है । जिस प्रकार डेकार्ट्स का "चिन्तयामि, अतः, अस्मि", तर्क न होकर एक निर्विकल्प अनुभूति है, उसी प्रकार "मैं सरल हूँ" भी एक प्रकार की निर्विकल्प अनुभूति या समाकल्पन (Apperception) है । "मैं" के भीतर किसी प्रकार की बहुलता नहीं है; वह विशुद्ध तार्किक इकाई है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा एक अतीन्द्रिय विषयी (Transcendental Subject) है जो सरल इसलिए है क्योंकि यह सविकल्प नहीं है । आत्मा की सरलता की सार्थकता इस बात में भी निहित है कि आत्मा के इसी गुण के माध्यम से इसे हम बाह्य भौतिक जगत से पृथक् कर सकते हैं जो जटिल होने के कारण नश्वर है । इस अतीन्द्रिय विषयी को यदि हम आन्तरिक ज्ञानेन्द्रिय के विषय (Object) के रूप में प्रदर्शित करने की कोशिश करें जैसा बौद्धिक मनोविज्ञान करता है तो वह वास्तविक आत्मा कभी न होगी ।

सरलता के आधार पर आत्मा की अमरता को सिद्ध किया जाता है । किन्तु शंकराचार्य की तरह काण्ट ने भी दिखाया है कि वह सरलता जो अनुभूत है वह दैशिक ही हो सकती है । दैशिक होने के कारण उसका विभाजन हो सकता है । अतः, अनुभूत सरलता आत्मा की अमरता को सिद्ध नहीं करती । यही मनोविज्ञान का तर्काभास है ।

(3) व्यक्तित्व का तर्काभास

(Paralogism of Personality)

काण्ट ने इस तर्काभास को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है--

'वह जिसे विभिन्न समयों में अपनी संख्यात्मक एकता का ज्ञान है, अवश्य ही एक व्यक्ति होगा ।

अब, आत्मा को इसका ज्ञान है ।

अतः, आत्मा एक व्यक्ति है ।'

यदि अनुभव द्वारा हम किसी बाह्य वस्तु की संख्यात्मक एकता को जानना चाहते हैं तो हमें उस वस्तु के ऐसे शाश्वत तत्व पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो उसके विधेयों की अपेक्षा उद्देश्य मात्र हो। उसी प्रकार यदि हम आन्तरिक अनुभव द्वारा अपनी आत्मा की संख्यात्मक एकता को जानना चाहते हैं तो हमें आत्मा के उस शाश्वत तत्व पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो विभिन्न परिवर्तनों में एक अपरिवर्तनीय तत्व के रूप में बना रहता है। यही आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) की एकता है।

आत्म-चैतन्य द्वारा व्यक्ति की एकता स्पष्ट झलकती है। किन्तु यदि हम अपने को एक बाह्य द्रष्टा की दृष्टि से देखने की चेष्टा करते हैं, तो आत्मा की एकता नष्ट हो जाती है। बाह्य द्रष्टा आत्मा को काल में देखता है यद्यपि काल स्वयं आत्मा में निहित है। आत्म-चैतन्य की एकता सभी विचारों की औपचारिक प्रागपेक्षा है। आत्मा एक तार्किक इकाई (Logical Identity) है ! अतीन्द्रिय होने के कारण आत्मा को हम आन्तरिक प्रत्यक्षों में नहीं देख सकते। यही कारण है कि बौद्धिक मनोविज्ञान हमारे ज्ञान में किसी प्रकार की बृद्धि नहीं करता।

(4) काल्पनिकता का तर्काभास

(Paralogism of Ideality)

काण्ट ने इस तर्काभास को निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

'वह, जिसके अस्तित्व को बाह्य प्रत्यक्ष के कारण रूप में अनुमित किया जा सकता है, संदिग्ध अस्तित्व वाला ही होगा।

अब, सभी बाह्य प्रतीतियों का ऐसा स्वभाव होता है कि उनके अस्तित्व का अव्यवहित प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उन्हें हम बाह्य प्रत्यक्ष के कारण रूप में ही अनुमित कर सकते हैं।

अतः, बाह्य इन्द्रियों के सभी विषयों का अस्तित्व संदिग्ध है।'

काण्ट ने उपर्युक्त मत को प्रत्ययवाद या विज्ञानवाद (Idealism) की संज्ञा दी है क्योंकि यहाँ बाह्य वस्तुओं को काल्पनिक रूप में सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। इसका विरोधी सिद्धान्त द्वैतवाद (Dualism) या वस्तुवाद (Realism) है जिसमें बाह्य वस्तुओं के अनिवार्य अस्तित्व में विश्वास प्रगट किया गया है।

उपर्युक्त सिद्धान्त का मूल मन्तव्य यह है कि हमें केवल अपनी आत्मा के अस्तित्व का अपरोक्ष और असंदिग्ध ज्ञान हो सकता है। आत्मा से इतर वस्तुओं का हमें केवल परोक्ष या वैचारिक ज्ञान हीं हो सकता है जिसके कारण वह ज्ञान संभाव्य ही हो सकता है। किसी कार्य से कारण का अनुमान इस कारण भी अनिश्चित होता है कि एक कार्य अनेक कारणों का संयुक्त परिणाम हो सकता है। अतः, हमारे प्रतिबिम्बों का बाह्य वस्तुओं के साथ क्या सम्बन्ध है, इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना असम्भव ही होता है।

काण्ट ने इस सन्दर्भ में दो प्रकार के भेदों की स्थापना की है : प्रथम अतीन्द्रिय विज्ञानवाद (Transcendental Idealism) एवं आनुभविक विज्ञानवाद

(Empirical Idealism) के बीच तथा द्वितीय अतीन्द्रिय वस्तुवाद (Transcendental Realism) एवं आनुभविक वस्तुवाद (Empirical Realism) के बीच। अतीन्द्रिय विज्ञानवाद का अर्थ यह है कि बाह्य प्रतीतियाँ वास्तविक सत्ताएँ न होकर केवल प्रतिबिम्ब हैं जो बुद्धि के अतीन्द्रिय प्रत्ययों द्वारा निर्मित हैं। इसके विपरीत आनुभविक विज्ञानवाद का यह अर्थ है कि बाह्य वस्तुओं का आत्मा से स्वतन्त्र अस्तित्व होता है किन्तु उन बाह्य वस्तुओं की प्रतिलिपियाँ जो हमारी आत्मा में उत्पन्न होती हैं, बाह्य वस्तुओं का यथार्थ प्रतिनिधित्व नहीं करतीं (लॉक)। पुनः, अतीन्द्रिय वस्तुवाद (Transcendental Realism) के अनुसार देश और काल हमारी संवेद्यता के आकार नहींहै वरन् बाह्य प्रदत्त हैं जिनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। अतीन्द्रिय वस्तुवाद बाह्य अवभासों को स्वलक्षण वस्तुओं के रूप में स्वीकार करता है जिनका हमारी आत्मा एवं हमारी संवेद्यता से स्वतन्त्र अस्तित्व है। आनुभविक वस्तुवाद अनुभव के विषय को वास्तविक मानता है जिसकी हमें विशिष्ट परिस्थितियों में साक्षात् अनुभूति हो सकती है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन कोटियों में काण्ट की क्या स्थिति है? काण्ट के दर्शन को अतीन्द्रिय विज्ञानवाद एवं आनुभविक वस्तुवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। अतीन्द्रिय विज्ञानवाद एवं आनुभविक वस्तुवाद के बीच कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार हमारे प्रतिबिम्ब एक ओर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार वे बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को भी सिद्ध करते हैं। हमारा आत्म-चैतन्य, आत्मा एवं बाह्य वस्तुओं दोनों का अपरोक्ष साक्षी होता है। इसके लिए किसी प्रकार के अनुमान की आवश्यकता नहीं होती। हाँ, यह बात और है कि इन दोनों अवस्थाओं में हमें केवल प्रतिबिम्बों का ही ज्ञान होता है।

उपर्युक्त तर्क का निहितार्थ यह है कि हमें स्व-लक्षण वस्तुओं : आत्मा या बाह्य सत्ता का पारमार्थिक ज्ञान कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यदि कोई मनोविज्ञान या भौतिक विज्ञान किसी आत्मा या किसी जड़ तत्व के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करे और उनके सम्बन्ध में किसी विज्ञान की स्थापना करे तो वह अवास्तविक ही होगा।

बौद्धिक संसृति-विज्ञान के विप्रतिषेध
(The Antinomies of Rational Cosmology)

प्रज्ञा संसृति के सभी वस्तुनिष्ठ कारणों को एक चरम कारण (Ultimate Condition) या अननुबन्धित कारण (Unconditioned Cause) के रूप में घटित करना चाहती है। जगत की विभिन्न वस्तुओं और घटनाओं को देखकर हम एक ऐसी समग्र प्रकृति के विज्ञान का निर्माण कर लेते हैं जिस पर सम्पूर्ण संसृति आधारित है अथवा हम उस अननुबंधित कारण को संवृति (Phenomena) के बीच ही ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। दोनों स्थितियों में हम ऐसे वैश्विक विज्ञानों का निर्माण करते हैं जो परस्पर विरोधी निष्कर्षों को उत्पन्न करते हैं। काण्ट ने ऐसे निष्कर्षों को विप्रतिषेध, सत्प्रतिपक्ष या विरुद्धाव्यभिचारी (Antinomies) नाम दिया है। इन विप्रतिषेधों की विशेषता यह होती है कि परस्पर विरोधी होते हुए भी उनमें

समान प्रामाणिकता पाई जाती है। उनकी दूसरी विशेषता यह होती है कि अनुभव इन अर्थ-वितण्डाओं को न तो प्रमाणित कर सकता है और न अप्रमाणित ही। दोनों में समान प्रामाणिकता होती है।

मात्रा, गुण, सम्बन्ध और प्रकार के अनुसार चार सत्प्रतिपक्ष पाए जाते हैं। प्रत्येक सत्प्रतिपक्ष में एक पक्ष और दूसरा प्रतिपक्ष होता है।

प्रथम सत्प्रतिपक्ष :

पक्ष—जगत सादि है और साथ-साथ देश में सीमित है।

विपक्ष—जगत अनादि है तथा देश में सीमित नहीं है।

द्वितीय सत्प्रतिपक्ष :

पक्ष—जगत का प्रत्येक यौगिक द्रव्य सरल अवयवों से निर्मित हुआ है। सरल या यौगिक द्रव्यों के अतिरिक्त जगत् में अन्य कोई वस्तुएँ नहीं हैं।

विपक्ष—जगत् का कोई यौगिक द्रव्य सरल अवयवों से मिलकर निर्मित नहीं हुआ है तथा जगत् में कोई भी सरल द्रव्य नहीं है।

तृतीय सत्प्रतिपक्ष :

पक्ष—प्रकृति के नियमों में कारणता (Causality) ही ऐसा नियम नहीं है जिससे जगत् की सारी घटनाएँ नियमित की जा सकती हैं। इन घटनाओं की सम्यक् व्याख्या के लिये कारणता के साथ स्वातन्त्र्य (Freedom) को भी स्वीकार करना चाहिए।

विपक्ष—जगत् में कोई स्वातन्त्र्य नहीं है। जगत् की प्रत्येक घटना प्रकृति के नियमों के अनुसार ही घटित होती है।

चतुर्थ सत्प्रतिपक्ष :

पक्ष—एक अंग रूप में अथवा कारण-रूप में इस जगत् से सम्बन्धित एक पूर्णतः अनिवार्य सत्ता अवश्य है।

विपक्ष—इस जगत् में पूर्णतः अनिवार्य सत्ता का कहीं भी अस्तित्व नहीं है और न इसके कारण के रूप में इसके बाहर ही उसका अस्तित्व है।

उपर्युक्त चारों सत्प्रतिपक्षों में यदि हम एक ओर केवल पक्षों को संकलित करें तो उससे बुद्धिवाद की स्थापना होती है; इसी प्रकार विपक्षों को एक साथ संकलित करने पर अनुभववाद की स्थापना होती है। बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों को एक साथ रखकर काण्ट ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि दोनों सही नहीं हैं; वे एक दूसरे को निष्प्रभावित कर देते हैं। पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि सत्प्रतिपक्षों के ये पक्ष-विपक्ष किसी दार्शनिक चिन्तन के दोष के कारण उत्पन्न नहीं होते। ये प्रज्ञा के स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञा समस्त ब्रह्माण्ड को एक पूर्ण एकता में आबद्ध करना चाहती है, पर ऐसा करने में वह असफल रहती है क्योंकि उसे उसकी संवेदना प्राप्त नहीं होती। इन सत्प्रतिपक्षों की उत्पत्ति का दूसरा कारण यह है कि जो एकता

प्रज्ञा के लिए पर्याप्त है, वह बुद्धि की पहुँच के बाहर है तथा जो एकता बुद्धि के अनुकूल है वह प्रज्ञा के लिए तुच्छ है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि काण्ट इन सत्प्रतिपक्षों के विरोध की समस्या का किस प्रकार समाधान प्रस्तुत करता है ? काण्ट ने उपर्युक्त चारों सत्प्रतिपक्षों को दो भागों में विभाजित किया है : प्रथम दो सत्प्रतिपक्ष गणित-सम्बन्धी हैं और अन्तिम दो गति-विज्ञान सम्बन्धी सत्प्रतिपक्ष हैं। इन दो प्रकार के सत्प्रतिपक्षों की पृथक्-पृथक् विशेषताएँ हैं। प्रथम दो गणित-सम्बन्धी सत्प्रतिपक्षों के विषय में काण्ट कहता है कि उनके पक्ष और विपक्ष दोनों गलत हैं। अतः, उनके बीच कोई विरोधाभास नहीं है। प्रत्येक सत्प्रतिपक्ष का एक तीसरा विकल्प भी है जो दोनों में समन्वय स्थापित करता है और वह यह है कि जगत न देश में है और न काल में। जगत एक आभास है। अन्तिम दो गति-विज्ञान सम्बन्धी सत्प्रतिपक्षों के समाधान में काण्ट कहता है कि उनके पक्ष और विपक्ष में कोई वास्तविक विरोध नहीं है क्योंकि दोनों दो विभिन्न दृष्टिकोणों से कहे गए हैं। इनमें पक्ष **पारमार्थिक** (Noumenal) दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है तथा विपक्ष **व्यावहारिक** (Phenomenal) दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। दोनों अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य हैं।

सत्प्रतिपक्षों का विरोध यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि बौद्धिक संसृति-विज्ञान जो पक्ष-विपक्ष के द्वैत पर आधारित है, बिलकुल मिथ्या है।

बौद्धिक ईश्वर-विज्ञान के व्याघात
(Contradictions of Rational Theology)

प्रज्ञा सर्वप्रथम मानसिक प्रक्रियाओं को समाहित कर आत्मा के विज्ञान का निर्माण करती है; पुनः, वह सभी भौतिक प्रक्रियाओं के बीच एकता स्थापित करने के लिए जगत के विज्ञान का निर्माण करती है। अन्त में, आत्मा और जगत दोनों के विज्ञानों में संश्लेषण स्थापित करने के लिए प्रज्ञा एक सर्वोच्च या उच्चतम विज्ञान की कल्पना करती है जिसे ईश्वर का **विज्ञान** (Idea of God) कहते हैं।

काण्ट के अनुसार उपर्युक्त तीनों विज्ञान काल्पनिक विज्ञान हैं। वे किसी वस्तुनिष्ठ सत्ताओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते। पर इससे यह अर्थ नहीं निकाल लेना चाहिए कि वे बिलकुल ही अयथार्थ विज्ञान हैं। वे यथार्थ भी हो सकते हैं। उनके काल्पनिक कहने का भाव केवल इतना ही है कि आत्मा, जगत और ईश्वर इन तीनों सत्ताओं के अतीन्द्रिय होने के कारण प्रज्ञा द्वारा इनका वास्तविक ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकता। ईश्वर एक लोकातीत (Transcendent) सत्ता है जहाँ इन्द्रियों मन और बुद्धि की गति नहीं है। इस कारण ईश्वर की सत्ता का बुद्धि द्वारा न तो खण्डन किया जा सकता है और न मण्डन ही। इस बौद्धिक ईश्वर-विज्ञान की कल्पना एक भ्रम ही है।

बौद्धिक ईश्वरविज्ञान ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए तीन युक्तियाँ देता है : प्रथम सत्तामूलक (Ontological) युक्ति, द्वितीय विश्व-कारण (cosmological) युक्ति, एवं तृतीय भौतिक-धार्मिक (Physico-Theological) युक्ति। काण्ट के अनुसार ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने की ये सभी युक्तियाँ महत्व-

हीन हैं। ईश्वर तर्क का विषय नहीं है। उसे तर्क द्वारा सिद्ध करने के सभी प्रयत्न बेकार होंगे।

1. **काण्ट ने सत्तामूलक युक्ति** में निम्न दोष पाया है। इस युक्ति में ईश्वर की पूर्णता के विचार से उसकी सत्ता को सिद्ध किया गया है। किसी वस्तु के विचार मात्र से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो जाता। सौ डालर नोट की स्पष्ट अवधारणा से मेरी जेब में सौ डालर नोट नहीं आ जाता। इसी प्रकार ईश्वर के प्रत्यय से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। एक दूसरी बात की ओर काण्ट ने जो हमारा ध्यान आकर्षित किया है वह यह है कि उसके अनुसार अस्तित्व (Existence) कोई गुण नहीं है। सत्तामूलक युक्ति अस्तित्व को गुण मानकर चलती है। पर यह दोषपूर्ण है। सर्वप्रथम किसी वस्तु का अस्तित्व होना चाहिए। उसके बाद ही उसमें किसी गुण की स्थापना की जा सकती है। यदि अस्तित्व को भी गुण मान लिया तो अनवस्था-दोष अवश्य उत्पन्न हो जायगा। यह युक्ति दोषपूर्ण है।

2. इसी प्रकार काण्ट **विश्व-कारण-युक्ति** को भी दोषपूर्ण मानते हैं। इसमें ईश्वर को सम्पूर्ण विश्व का कारण माना गया है। पर यहाँ कठिनाई यह है कि ईश्वर एक अतीन्द्रिय सत्ता है जिस पर कारणता नामक विकल्प आरोपित नहीं किया जा सकता। कारण मानने पर ईश्वर को व्यावहारिक जगत की वस्तु मानी जायगी जो ठीक नहीं है। दूसरे, ईश्वर एक पूर्ण सत्ता है। पूर्ण सत्ता किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। ऐसी स्थिति में कारण-कार्य का भाव ही कैसे उत्पन्न हो सकता है? विश्व-कारण युक्ति हमें एक उभयतोपाश (Dilemma) की ओर अग्रसर करती है—

(अ) यदि ईश्वर कारण-कार्य शृंखला की एक कड़ी है तो वह कभी भी पारमार्थिक नहीं कहा जायगा।

(ब) यदि ईश्वर कारण-कार्य शृंखला की एक कड़ी नहीं है तो वह जगत का कारण हो ही नहीं सकता। उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण काण्ट निष्कर्ष निकालते हैं कि ईश्वर की सत्ता को किसी युक्ति के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता।

3. उपर्युक्त दोनों युक्तियों की तरह **भौतिक-धार्मिक** युक्ति भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने में असफल रहती है। यह युक्ति संसार की व्यवस्था और स्वभाव को देख कर एक परम-सत्ता के अस्तित्व का अनुमान करती है। जगत के भीतर हम जो व्यवस्था, क्रम, सौन्दर्य और विधान देखते हैं, उससे हम यह निष्कर्ष निकाले बिना नहीं रह सकते कि इसकी सृष्टि किसी बुद्धिमान सत्ता ने की है। यह सृष्टि किसी पूर्ण सत्ता द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है। वह सत्ता ईश्वर है।

(1) भौतिक-धार्मिक युक्ति की आलोचना करते हुए काण्ट कहते हैं कि यह युक्ति किसी बहुत बड़े बुद्धिमान प्राणी की सत्ता सिद्ध करती है; यह पूर्ण ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं करती। (2) दूसरे, उपर्युक्त युक्ति सादृश्य-अनुमान (Argument from Analogy) पर आधारित है। जिस प्रकार मनुष्य कुर्सी, मेज और घर का निर्माण कर लेता है उसी प्रकार ईश्वर ने इस सृष्टि का निर्माण किया है। पर हम जानते हैं कि **सादृश्य-अनुमान** से किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष की प्राप्ति नहीं हो

सकती । (3) उपर्युक्त युक्ति में तीसरा दोष यह है कि यह उपादान कारण, स्वरूप कारण, शक्ति-कारण एवं लक्ष्य-कारण के भेद पर आधारित है । अतः, इस युक्ति द्वारा अधिक से अधिक एक विश्व-कर्मा (World-Architect) की ही सिद्धि होती है, इससे किसी जगत-स्रष्टा की सिद्धि नहीं होती जो उपादान, स्वरूप, शक्ति और लक्ष्य कारण सब कुछ है । (4) भौतिक-धार्मिक युक्ति में चौथा दोष यह है कि यह जहाँ तक आनुभविक वस्तुओं के चरम-कारण का अनुसंधान करती है, इसमें और विश्व-कारण (Cosmological) युक्ति में कोई अन्तर नहीं है । इन्द्रियानुभव के आधार पर हम किसी अतीन्द्रिय वस्तु की स्थापना नहीं कर सकते । (5) जब हम ईश्वर को भौतिक जगत का कारण मानते हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम कारणता नामक बुद्धि-विकल्प को एक अतीन्द्रिय सत्ता पर प्रयोग कर रहे हैं जो स्वीकार्य नहीं है । बुद्धि-विकल्पों का प्रयोग अनुभव की परिधि के भीतर ही किया जा सकता है । भौतिक-धार्मिक युक्ति इस नियम का उल्लंघन करती है ।

उपर्युक्त सभी कारणों के आधार पर काण्ट निष्कर्ष निकालता है कि हम युक्तियों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं कर सकते । पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि काण्ट ईश्वर के अनस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं । तर्क-बुद्धि न तो ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करने में सक्षम है और न उसके अनस्तित्व का प्रतिपादन करने में समर्थ है । अतीन्द्रिय ईश्वरवाद की केवल निषेधात्मक उपयोगिता है । यह ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद दोनों की समीक्षा करता है । ईश्वरवाद के विरोध में यह कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व होते हुए भी हम उसे नहीं जान सकते । अनीश्वरवाद के विरोध में यह कहता है कि नैतिक चेतना के द्वारा हमें ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है । काण्ट कहता है कि मनुष्य द्वारा निःश्रेयस की प्राप्ति का महत्व तभी हो सकता है जब कि एक ऐसा पुरुष हो जिसने निःश्रेयस की सिद्धि कर ली हो । निःश्रेयस की सिद्धि करने वाला पुरुष ही ईश्वर है ।

काण्ट के दर्शन की समीक्षा

काण्ट एक महान दार्शनिक थे । ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में जितना विस्तृत, पुष्ट एवं पूर्ण दर्शन उन्होंने स्थापित किया वह श्लाघनीय ही कहा जायगा । ज्ञान-मीमांसा के सभी सूक्ष्मतम पहलुओं पर काण्ट ने विस्तृत विचार प्रस्तुत किया है । स्वलक्षण वस्तुओं, संवेदनाओं, देश-काल, आकृति-कल्प, संश्लेषण-सिद्धान्त, बुद्धि-विकल्प, बुद्धि के सिद्धान्त एवं अतीन्द्रिय आत्मा तथा प्रज्ञा के विज्ञानों का जितना सूक्ष्म व सम्यक् विश्लेषण काण्ट ने उपस्थित किया उतना अन्यत्र मिलना असम्भव ही है । ह्यूम के संशयवाद ने भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान एवं ईश्वर-विज्ञान इन तीनों की नींव हिला दी थी । काण्ट ने पुनः इन विज्ञानों में मनुष्य की आस्था को स्थापित किया । उन्होंने घोषित किया कि निश्चयात्मक ज्ञान सम्भव है । वह संवृत्यात्मक ज्ञान भले ही हो, पर अपने क्षेत्र में वह निश्चयात्मक ज्ञान ही कहा जायगा ।

ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में काण्ट की दूसरी महान देन यह है कि उन्होंने ज्ञान के **आनुभविक अनुबन्धिता** (Empirical Conditionality) के स्थान पर **अतीन्द्रिय अनुबंधिता** (Transcendental Conditionality) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । उन्होंने अनुभव किया कि यदि ज्ञान की आनुभविक अनुबंधिता को स्वीकार कर लिया

जाता है तो हम ह्यूम के संशयवादी निष्कर्षों से अपने को नहीं बचा सकते । यदि निश्चयात्मक ज्ञान की प्रतिष्ठा करनी है तो ज्ञान के क्षेत्र में अतीन्द्रिय अनुबंधिता का कोई दूसरा विकल्प नहीं है काण्ट ने यही किया भी । उसने बताया कि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए आत्मा की ओर से संवेद्यता के संस्थान, बुद्धि के विकल्पों, प्रज्ञा के विज्ञानों एवं आत्मा की आवश्यकता होती है एवं बाह्य संसार की ओर से स्वलक्षण वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है । इस प्रकार काण्ट ने ज्ञान के दो-ध्रुवीय (Bipolar) स्वभाव को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया । किन्तु ये दो ध्रुव आनुभविक न होकर अतीन्द्रिय हैं । स्वलक्षण वस्तुओं में विश्वास करने के कारण काण्ट दृष्टिसृष्टिवाद (Subjective Idealism) के दोष से तथा आत्माओं में विश्वास करने के कारण वे भौतिकवाद के दोष से बच गए हैं । प्रत्येक ज्ञान के लिए द्रष्टा और दृश्य दोनों की आवश्यकता होती है ।

काण्ट के दर्शन पर आक्षेप करते हुए कुछ विचारक कहते हैं कि यदि ज्ञान में ज्ञेय प्रदत्त वस्तु नहीं है बल्कि आत्मा के अतीन्द्रिय विकल्पों द्वारा निर्मित (Constructed) है तो फिर यथार्थ और अयथार्थ प्रत्यक्ष का भेद ही मिट जायगा । पर यह आक्षेप काण्ट के दर्शन के अज्ञान के कारण है । जब काण्ट कहते हैं कि "बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है", तो वे बुद्धि शब्द का प्रयोग किसी मनोवैज्ञानिक या ज्ञानमीमांसीय अर्थ में नहीं करते । यदि बुद्धि शब्द का प्रयोग किसी मनोवैज्ञानिक या ज्ञानमीमांसीय अर्थ में किया जाय तो यह केवल गलत ही नहीं होगा, वरन् व्याघातक भी माना जायगा । बुद्धि या जीवात्मा इन अतीन्द्रिय विकल्पों का स्रोत नहीं हो सकती क्योंकि स्वयं जीवात्माएँ इन अतीन्द्रिय विकल्पों पर आश्रित हैं । ज्ञान के अतीन्द्रिय अनुबन्धों को मानसिक कहना "अतीन्द्रिय विस्थापन के दोष" (Fallacy of Transcendental Dislocation) में फँसा जाना होगा । बुद्धि विकल्पों का वास्तविक स्रोत जीवात्मा नहीं वरन् विशुद्ध आत्मा या परमात्मा है । तभी उनके भीतर वस्तुनिष्ठ वैधता पाई जाती है । जीवात्माओं एवं स्वलक्षण वस्तुओं दोनों को ईश्वर उत्पन्न करता है । इस प्रकार काण्ट का दर्शन दृष्टिसृष्टिवाद न होकर वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद (Objective Idealism) है जहाँ सभी कुछ ईश्वर के ऊपर आश्रित है ।

काण्ट के दो सुप्रसिद्ध शिष्यों एडवर्ड केयर्ड (Edward Caird) और एच० जे० पेटन (H. J. Paton) ने काण्ट के दर्शन की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की है । केयर्ड ने काण्ट के दर्शन की विज्ञानवादी व्याख्या प्रस्तुत की है । इसके विपरीत पेटन ने वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत की है । केयर्ड शिकायत करते हैं कि काण्ट का दर्शन एक ओर ज्ञाता और ज्ञेय के भेद को मिटा देता है तो दूसरी ओर इस भेद को अन्त तक कायम रखता है । वे कहते हैं, "एक ओर कहा जाता है कि चैतन्य से स्वतन्त्र सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है, तो दूसरी ओर चैतन्य से स्वतन्त्र सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है ।"[1]

पर ऊपर केयर्ड द्वारा जो काण्ट की आलोचना प्रस्तुत की गई है वह ठीक नहीं है । केयर्ड ने यहाँ चैतन्य (Thought) शब्द का गलत अर्थ लगाया है । यहाँ चैतन्य का तात्पर्य किसी व्यक्ति के चैतन्य से न होकर परम चैतन्य से है । अतः, यदि कोई

1. केयर्ड, क्रिटिकल फिलॉसॉफी, पृ० 550 ।

वस्तु चैतन्य पर आश्रित है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह प्रदत्त (Given) नहीं हो सकती। यदि प्रदत्त के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया जाय तो प्रत्यक्ष और भ्रम में अन्तर ही नहीं रह जायगा। हमारी समझ से पेटन द्वारा काण्ट की व्याख्या केयर्ड की व्याख्या से कहीं अधिक संतुलित है। पेटन कहते हैं, "जगत् एक प्रदत्त है। वह हमारी बुद्धि या कल्पना की उपज नहीं है।"[1] स्वलक्षण वस्तुएँ हमारे प्रत्यक्षों के कारण भले ही न हों पर वे प्रत्यक्ष के अतीन्द्रिय अनुबन्ध अवश्य हैं। स्वलक्षण-वस्तुओं का अस्तित्व काण्ट के दर्शन के लिए अत्यावश्यक है।

काण्ट के अनुसार मनुष्य में बौद्धिक संवेदना या प्रतिभान (Intellectual Intuition) की शक्ति नहीं है जिससे कि वह स्वलक्षण वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सके। पर इसके आधार पर एक ऐसे अतिमानव की कल्पना की जा सकती है जिसके भीतर बौद्धिक संवेदना की शक्ति विद्यमान हो। वह ज्ञान कल्पनापोह या निर्विकल्प-प्रत्यक्ष ज्ञान होगा। जहाँ तक सीमित मानवों का प्रश्न है उनके लिए स्वलक्षण वस्तुएँ तार्किक संभावनाएँ (Logical Possibilities) मात्र हैं। जहाँ तक ज्ञान के विषय को हमारी बुद्धि निर्मित करती है वे संवृति मात्र ही हैं। वास्तविक ज्ञान तो वह होगा जिसे हमारी चेतना केवल प्रकाशित करती है, उसकी रचना नहीं करती। काण्ट चैतन्य के रचना-सिद्धान्त (Construction-Theory) में विश्वास न कर प्रकाशन-सिद्धान्त (Revelation-Theory) में विश्वास करते हैं। इसी कारण काण्ट स्वलक्षण-वस्तुओं को ही एकमात्र पारमार्थिक तत्व स्वीकार करते हैं।

काण्ट के दर्शन के बाद किसी भी दार्शनिक को यह कहने का साहस नहीं हो सकता कि ज्ञान की उत्पत्ति केवल प्रागनुभविक विज्ञानों से ही हो सकती है या केवल संवेदनाओं से ही हो सकती है। काण्ट के अनुसार ज्ञान वह साकल्य (Whole) है जिसमें सामान्य और विशिष्ट दोनों तत्वों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अतः काण्ट के बाद विषयी और विषय का द्वैत सम्भव नहीं हो सकता। यह ठीक है कि प्रारम्भ में काण्ट ने स्वयं अपने दर्शन के अनिवार्य अपादनों को नहीं समझा, पर इससे उनके दर्शन का महत्व कम नहीं हो जाता। विषयी और विषय के सापेक्ष होने पर यह निष्कर्ष निकालना आसान हो जाता है कि दोनों एक ही आधारभूत तत्व की निष्पत्तियाँ हैं। इस प्रकार काण्ट का दर्शन **वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद** (Objective Idealism) की ओर अग्रसर होता है।

काण्ट के दर्शन में जो थोड़ी बहुत त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं जैसे उसका अज्ञेयवाद और संवृतिवाद, वे उसके द्वैतवाद (Dualism) के कारण उत्पन्न हुई हैं। काण्ट ने अपनी ज्ञान-मीमांसा के प्रारम्भ में ही जो जीवात्मा और स्वलक्षण-वस्तुओं के बीच द्वैत स्थापित कर दिया था उससे अज्ञेयवाद के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती थी। आत्मा और प्रज्ञा, प्रज्ञा और बुद्धि, बुद्धि और संवेद्यता, संवेद्यता और संवेदना तथा संवेदना और स्वलक्षण वस्तुओं के बीच जो काण्ट ने द्वैत स्थापित कर दिया था उससे अज्ञेयवाद के सिवा अन्य किसी वस्तु की उत्पत्ति हो ही नही सकती थी। काण्ट ने अपनी प्रथम समीक्षा (Critique) मे स्व-लक्षण वस्तुओं को

1. Paton, Kant's Metaphysics of Experience, Vol. I. p. 70.

भौतिक माना था। किन्तु जब उन्होंने देखा कि चित् और अचित् के द्वैत से ज्ञान की समस्या का सम्यक् समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता तो तृतीय समीक्षा में उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि स्वलक्षण-वस्तएँ (Ding an Sich) भौतिक न होकर चेतन सत्ताएं हैं। जब तक काण्ट उन्हें भौतिक मानता रहा, तब तक ज्ञान की समस्या का समाधान हो ही नहीं सकता था।

संक्षेप में : "प्रज्ञा के उपेक्षक काण्ट ने पुरोहित बनकर विशुद्ध ज्ञाता के साथ इन्द्रिय-संवेदना को वैवाहिक सूत्र में बाँध दिया था। इस 'अनुचित सम्बन्ध' से द्वैतवाद और 'अज्ञेयवाद' रूपी दो वर्ण-संकर उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने न केवल अपने पिता के विशुद्ध नाम को ही कलंकित किया है किन्तु उस पुनीत पुरोहित पर भी कलंक के छींटे मारे हैं जिसने इनके माता-पिता को एक सूत्र में बाँधने का दुःसाहस किया। इन दोषों के होने पर भी काण्ट की कीर्ति महनीय और उनकी महत्ता व्यापक है।"[1]

— — —

1. डा० शर्मा, चन्द्रधर, पाश्चात्य दर्शन, पृ० 187

2

जर्मन विज्ञानवाद

(German Idealism)

फिक्टे, शेलिंग और हेगल

(Fichte, Schelling and Hegel)

हमने काण्ट के दर्शन में देखा कि उसमें स्वलक्षण-वस्तुओं की कल्पना सबसे अधिक दोषपूर्ण कल्पना थी। यद्यपि काण्ट ने उसे पूर्ण रूप में अज्ञेय नहीं माना था फिर भी उसके समकालीन एवं परवर्ती दार्शनिकों ने स्व-लक्षण-वस्तुओं को अपनी आलोचना का प्रमुख विषय चुना। सर्वप्रथम स्व-लक्षण-वस्तुओं की कल्पना एक अमूर्त विचार के रूप में प्रकट होती है। पुनः, वह प्रज्ञा का एक अनिवार्य विज्ञान बन जाता है, एक नियामक विज्ञान जो आत्मा, जगत और ईश्वर के माध्यम से विभिन्न वस्तुओं के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है; अन्त में, स्वलक्षण-वस्तुएँ स्वातन्त्र्य (Freedom), व्यावहारिक प्रज्ञा (Practical Reason) और संकल्प-शक्ति (Will) का रूप धारण कर लेती हैं। काण्ट स्वीकार करते हैं कि हमारे अन्दर बौद्धिक-प्रतिभान नहीं है जिसके द्वारा हम स्वलक्षण वस्तुओं का निर्विकल्प ज्ञान प्राप्त कर सकें। हाँ, नैतिक चैतन्य और सौन्दर्यानुभूति के द्वारा हम तत्व का साक्षात्कार अवश्य कर सकते हैं। काण्ट ने आस्था (Faith) में भी विश्वास प्रकट किया था। उसका दर्शन मस्तिष्क और हृदय दोनों को एक साथ संतुष्ट करने की क्षमता रखता था। जर्मन दार्शनिकों को यह बात अधिक पसन्द आई। हम काण्ट के दर्शन में ही संकेत कर चुके हैं कि उसका दर्शन निरपेक्ष विज्ञानवाद (Absolute Idealism) की स्पष्ट भूमिका तैयार करता है। निरपेक्ष विज्ञानवाद जर्मन दार्शनिकों का प्रिय विषय रहा है। इसी के परिणामस्वरूप काण्ट के उत्तरवर्ती विज्ञानवाद की उत्पत्ति हुई जिसके फिक्टे, शेलिंग और हेगल गणमान्य प्रतिनिधि हैं।

काण्ट के उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने एक साथ अनुभव किया कि काण्ट की सभी कठिनाइयों का एकमात्र कारण उसका आत्मा और स्वलक्षण-वस्तुओं का द्वैत था। इस द्वैतवाद को अस्वीकार कर उन्होंने अद्वैत-रूप चैतन्य को ही एकमात्र तत्व माना। चैतन्य एक आत्म-निर्धारक आध्यात्मिक प्रक्रिया है जो दर्शन की सारी समस्याओं को सुलझाने की शक्ति रखती है। यह आत्म-निर्धारक आध्यात्मिक शक्ति हमारे ज्ञान में एकता स्थापित करती है, बुद्धि-विकल्पों को संगटित करती है, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रज्ञा के बीच समन्वय स्थापित करती है तथा यान्त्रिकवाद (Mechanism) और प्रयोजनवाद (Teleology) के द्वैत को दूर करने में सहायक होती है। दर्शन एक निरपेक्ष विज्ञान है। तथ्यों के आनुभविक ज्ञान से ही वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि ज्ञान का अर्थ तत्व की सक्रिय, सजीव, संश्लेषणात्मक व

आध्यात्मिक प्रक्रिया का ज्ञान है तो इसकी सिद्धि ऐसे आनुभविक ज्ञान द्वारा नहीं हो सकती जिसकी गति परमार्थ तक न होकर केवल संवृति तक ही सीमित है। इस विषय में फिक्टे, शेलिंग और हेगल तीनों एक मत हैं।

सर्वप्रथम हम फिक्टे के दर्शन पर विचार करेंगे।

1. फिक्टे (Fichte)

फिक्टे का जीवन-वृत्त (1762-1814)—जॉन गाटलीब फिक्टे (Johann Gottlieb Fichte) का जन्म जर्मनी के एक गरीब बुनकर-परिवार में सन् 1762 में हुआ था। वे असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति थे। बचपन में उनकी प्रतिभा देखकर एक धनी व्यक्ति ने उनकी शिक्षा की व्यवस्था कर दी। सर्वप्रथम उन्होंने जेना और लीपजिग विश्वविद्यालयों में धर्म-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की। पर गरीबी के कारण बीच-बीच में उन्हें अपना अध्ययन बन्द कर देना पड़ता था। कुछ दिनों तक गृह-शिक्षक के रूप में जब वे कुछ द्रव्य एकत्रित कर लेते थे, पुन: अध्ययन-कार्य आरम्भ कर देते थे। सन् 1790 में कुछ विद्यार्थियों ने उनसे काण्ट के दर्शन को पढ़ने की जिज्ञासा प्रकट की जिसके कारण उन्हें काण्ट के समीक्षात्मक दर्शन को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। काण्ट के दर्शन ने उनके जीवन में क्रान्ति पैदा कर दी और उनके जीवन की दिशा का निर्देश किया। 1794 में वे जेना विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त किए गए। वहीं उन्होंने अपने नवीन विज्ञानवाद की स्थापना की जो सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में सुधार करने का दावा करता है। उनकी 'श्रुति-परीक्षा' (Critique of All Revelation) नामक रचना को देखकर काण्ट पर्याप्त प्रभावित हुए और उसके प्रकाशन की व्यवस्था भी करा दी।

अपने जेना के कार्य-काल में फिक्टे ने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें ज्ञान का विज्ञान (Science of Knowledge), प्राकृतिक अधिकार (Natural Right) एवं नीति-विज्ञान सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उनके निबन्ध 'दैवी जागतिक व्यवस्था में हमारे विश्वास के आधार' (On the Ground of our Belief in a Divine World Order) जिसमें उन्होंने ईश्वर और जगत के बीच तादात्मय-सम्बन्ध स्थापित किया था, के कारण उनके विरुद्ध अनीश्वरवाद का आक्षेप लगाया गया। इस आक्षेप के कारण फिक्टे ने जेना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर के पद का परित्याग कर दिया और फिर बर्लिन चले गए जहाँ उन्होंने एक विश्व-विद्यालय की स्थापना की।

फिक्टे केवल दार्शनिक ही नहीं थे वरन् एक महान चरित्रवान, वक्ता और देशभक्त भी थे। जब नेपोलियन ने जर्मनी पर आक्रमण किया तो फिक्टे ने अपनी सशक्त वाणी और लेखनी के द्वारा जर्मन-नवयुवकों में उत्कट और प्रखर देश-भक्ति की भावना को जागरित किया जिसके कारण नेपोलियन की सेना को पीछे हटना पड़ा। उनके ऐसे सभी भाषण 'जर्मन राष्ट्र को सम्बोधन' (Address to the German Nation) नामक पुस्तिका में संकलित किए गए। उनका सारा परिवार देश-भक्ति से ओत-प्रोत था। जब फिक्टे की पत्नी अस्पताल में युद्ध के घायल सैनिकों की सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं, उन्हें संक्रामक रोग हो गया जिनसे यह रोग फिक्टे को भी लग गया। इस संक्रामक रोग के कारण युद्ध-काल में ही 1784 में उनकी मृत्यु हो गई।

मौलिक तत्व का स्वरूप

फिक्टे के दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त उनके संकल्प-स्वातन्त्र्य का विचार है। उनके अनुसार आत्मा संसार की अन्य वस्तुओं में से एक वस्तु नहीं है अथवा आत्मा किसी कारण-कार्य श्रृंखला की कोई कड़ी नहीं है। **आत्मा एक स्वतन्त्र आत्मनिर्धारक प्रक्रिया** (Self-determining Activity) है। यही वास्तविक सत्ता है। यह जीवन, चैतन्य, ज्ञान, व्यवहार तथा सभी अनुभव-जगत का आधार है। आत्मा ही सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक बुद्धि के बीच समन्वय स्थापित करती है। आत्म-तत्व स्वप्रकाश और स्वयं-ज्योति है। यह स्वतःसिद्ध है, इसकी सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। आत्मा चित्शक्ति रूप है और चैतन्य संकल्प-रूप है। अपनी चित्शक्ति के कारण ही आत्मा चैतन्य और आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) दोनों रूपों में प्रकट होती है। आत्म-चैतन्य में आत्मा स्वयं अपने को विषयी और विषय रूप में विभाजित कर अपने द्वारा ही अपना ज्ञान कराती है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आत्मा तो ज्ञाता है, वह ज्ञेय कैसे बन सकती है? इससे सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न भी है। आत्मा ही एकमात्र तत्व है और वह ज्ञाता-रूप है पर बिना ज्ञेय के अस्तित्व के ज्ञाता का ज्ञातृत्व कैसे सार्थक हो सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए फिक्टे कहते हैं कि आत्मा स्वयं अपने आपको अपनी संकल्प-शक्ति से अनात्मा रूप में प्रकट करती है तथा अनात्मा को अपना ज्ञेय मानकर अपना ज्ञातृत्व सिद्ध करती है। विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, जीव और अजीव तथा चित और अचित दोनों एक ही आत्म-तत्व के दो विभिन्न रूप हैं। एक ही आत्म-तत्व के दो फलक होने के कारण आत्मा और अनात्मा में कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं है। आत्मा स्वयं अपनी स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति के कारण अपने को **परिसीमित** कर जीव और जगत के रूप में प्रकट होती है, क्योंकि इसी परिसीमन के माध्यम से ही वह जीव-जगत की खण्डता व अपनी अखण्डता का ज्ञान प्राप्त करती है। चूँकि जीव-जगत का यह भेद अस्थायी, कल्पित व अतात्विक है, अतः उनके बीच समन्वय होना अनिवार्य है। यह आत्म-चैतन्य या स्वसंवेदन में सिद्ध होता है। आत्म-चैतन्य में विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक होकर परमात्म-रूप हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा को स्वानुभूति प्राप्त होती है।

मौलिक तत्व का ज्ञान

अब हमारे समक्ष प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम मौलिक तत्व का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? फिक्टे के अनुसार नैतिक नियम (Moral Law) के माध्यम से ही हम तत्व-साक्षात्कार कर सकते हैं। काण्ट की तरह फिक्टे भी स्वीकार करते हैं कि विमर्शात्मक बुद्धि (Discursive Understanding) के द्वारा हमें तत्व का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। पर हमारा जीवन केवल विमर्शात्मक चिन्तन तक ही सीमित नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो कारण-कार्य-श्रृंखला में आबद्ध प्रकृति से हमें कभी मुक्ति ही नहीं मिलती। पर बात ऐसी नहीं है। हमारे पास स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति से उत्पन्न एक ऐसा **बौद्धिक प्रतिभान** विद्यमान है जो विश्व में निहित प्रयोजन का ज्ञान प्राप्त करा देता है जिसके द्वारा हम प्रकृति के नियतिवाद से अपने को मुक्त करने में सफल हो जाते हैं। संकल्प-स्वातन्त्र्य, **नैतिक नियम एवं कर्तव्य-भावना** को तुष्ट करने से ही हमें तत्व-ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष इस स्वातन्त्र्य की

प्राप्ति का एक व्यावहारिक साधन है। संकल्प-स्वातन्त्र्य की सार्थक अभिव्यक्ति के लिए **बाह्य प्रतिरोध** अनिवार्य है। जब तक हम बाह्य प्रतिरोध का सफलतापूर्वक निराकरण नहीं कर लेते तब तक हम स्वतन्त्र कैसे कहे जा सकते हैं। इस प्रकार जीवात्मा और जगत दोनों सापेक्षिक सत्ताएँ हैं और अभिव्यक्ति के लिए दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता है। विमर्शात्मक चिन्तन द्वारा नहीं वरन् नैतिक आदर्शों के अनुशीलन से ही तत्व-साक्षात्कार किया जा सकता है। इस प्रकार फिक्टे के दर्शन को **नैतिक विज्ञानवाद** (Ethical Idealism) की संज्ञा दी जा सकती है।

बाह्य जगत

फिक्टे एक निरपेक्ष विज्ञानवादी दार्शनिक हैं। वे आत्मा को ही एकमात्र तत्व मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा के बाहर किसी भौतिक वस्तु या स्व-लक्षण वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आन्तरिक मानसिक चैतन्य के आधार पर हम बाह्य भौतिक वस्तुओं की व्याख्या कैसे कर सकते हैं? भौतिक जगत की व्याख्या के लिए फिक्टे ने **परिच्छेद या परिसीमन** (Limitation or Determination) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अपनी स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति के कारण परमात्म-तत्व अपने को परिसीमित करके एक ओर जीवात्मा (Ego) के रूप में और दूसरी ओर अनात्म (Non-Ego) **वस्तु-जगत** के रूप में अभिव्यक्त होता है। परमात्म-तत्व अपने को परिसीमित करके जीव और जगत के रूप में क्यों प्रकट होता है, फिक्टे के अनुसार इसकी सैद्धान्तिक व्याख्या नहीं की जा सकती। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि यदि परमात्म-तत्व अपने को परिसीमित करके जीव और जगत के रूप में प्रकट न करे तो उसकी सार्थकता चरितार्थ ही नहीं हो सकती। जीव और जगत् जो परमात्म-तत्व से उत्पन्न हैं, भिन्न भले हों पर वे एक दूसरे से विरुद्ध नहीं हैं। अतः, उनकी भिन्नता में समन्वय होना अनिवार्य है। यह समन्वय सिद्ध आत्मा (Realised Ego) के रूप में होता है। यहाँ जीवात्मा (Ego-in-itself) पक्ष (Thesis) है; जगत (Ego-outside-itself) विपक्ष (Anti-thesis) है तथा सिद्ध आत्मा (Ego-in-and-for-itself) संपक्ष (Synthesis) है। पक्ष, विपक्ष और संपक्ष तीनों एक ही आत्मा की स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति के परिणाम हैं। आत्मा के बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

आत्मा की उपर्युक्त द्वन्द्वात्मक (Dialectical) गति के आधार पर फिक्टे ने तीन नियमों की स्थापना की है: तादात्म्य (Identity), विरोध (Contradiction) और पर्याप्त कारण (Sufficient Reason)। इन्हीं को क्रमशः सत्ता (Reality), निषेध (Negation) और सीमा (Limitation) कहा जा सकता है। ये तीनों नियम आत्मचैतन्य के भीतर ही कार्य करते हैं। आत्मा अपने को परिसीमित करके जगत को उत्पन्न करती है, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि जगत भ्रम है। जगत उतनी ही वास्तविकता है जितनी कि आत्मा। जगत के भ्रमहोने का प्रश्न तब उत्पन्न होता जब कि आत्मा से स्वतन्त्र स्वलक्षण वस्तुओं (Things-in-themselves) का अस्तित्व होता। स्वलक्षण वस्तुओं के अभाव में जगत को भ्रम कभी नहीं कहा जा सकता।

वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद
(Objective Idealism)

जब फिक्टे यह कहते हैं कि जगत की उत्पत्ति आत्म-चैतन्य से होती है, लोग बड़ी आसानी से इसे आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद (Subjective Idealism) समझ कर

फिक्टे के ऊपर दोषारोपण प्रारम्भ कर देते हैं। किन्तु जब फिक्टे जगत को आत्मा से उत्पन्न करते हैं तो यह आत्मा जीवात्मा न होकर विशुद्धात्मा (Pure Ego) होती है। विशुद्ध आत्मा जीवात्मा और बाह्य जगत दोनों का तात्विक व तार्किक अधिष्ठान है। साधारण ज्ञान द्वारा नहीं वरन् बौद्धिक प्रतिभान द्वारा ही हमें इसका ज्ञान प्राप्त हो सकता है। काण्ट ने प्रज्ञा को इस प्रकार के ज्ञान से वंचित कर दिया था पर फिक्टे प्रज्ञा द्वारा इस प्रकार के ज्ञान को सम्भव मानते हैं। जगत का आधार जीवात्मा न होकर परमात्मा (God) है। इस प्रकार फिक्टे का दर्शन न दृष्टिसृष्टिवाद है और न आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद ! यह विशुद्ध वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद (Objective Idealism) है। एक ही सार्वभौम आध्यात्मिक तत्व जीवात्माओं और जगत की वस्तुओं को एक ही सूत्र में बाँधे हुए है। आत्माएँ और वस्तुएँ एक ही तत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। यह आध्यात्मिक तत्व कोई स्थैतिक द्रव्य नहीं है वरन् एक सजीव, सक्रिय आत्मनिर्धारक प्रक्रिया है जो संसार की विभिन्न वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार फिक्टे ज्ञानमीमांसीय वस्तुवाद के स्थान पर तत्वमीमांसीय विज्ञानवाद में विश्वास करते हैं। उन्होंने अपने दर्शन को **वास्तविक विज्ञानवाद** (Real Idealism) की संज्ञा दी है।

सार्वभौम असीम चैतन्य किस प्रकार अपने को जीवात्माओं और बाह्य वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त करता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए फिक्टे कहते हैं जिस प्रकार प्रकाश सामने अवरोध आने पर पहले बिखर जाता है और पुनः अपने स्रोत की ओर लौट पड़ता है, ठीक उसी प्रकार सार्वभौम चैतन्य प्रथम अपने को परिसीमित कर अनेक आत्माओं और वस्तुओं के रूप में प्रकट होता है और पुनः समन्वित होकर आत्म-चैतन्य का रूप धारण कर लेता है। ये सारी प्रक्रियाएँ नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही की जाती हैं। इसके अतिरिक्त इनका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है। जीवात्मा के भीतर ऐसी क्षमता है कि वह बाह्य प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करके सार्वभौम तत्व प्राप्त कर सकता है क्योंकि जीवात्मा अन्ततः परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है।

2 फ्रेडरिक विल्हम जोज़ेफ शेलिंग

(Friedrich Wilhelm Joseph Schelling)

(1775–1854)

जीवन-वृत्त—शेलिंग जर्मन विज्ञानवाद के दूसरे गणमान्य दार्शनिक हैं। इनका जन्म जर्मनी के लियोनबर्ग नगर में हुआ था। वे अत्यन्त प्रतिभाशाली छात्र थे। सर्वप्रथम उन्होंने ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय में दर्शन एवं धर्मशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की। कुछ दिनों तक शेलिंग ने व्यक्तिगत शिक्षक के रूप में विद्यार्थियों को पढ़ाया और सन् 1798 में वे जेना विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र के आचार्य नियुक्त किये गये। वे हेगल के सहपाठी और मित्र थे। जब म्यूनिख में विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, शेलिंग वहाँ दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त किए गये। बाद में वे बर्लिन चले गये। उस समय योरोप में स्वच्छन्दवादी (Romantic) प्रवृत्ति बड़ी तेजी से बढ़ रही थी और शेलिंग ने भी इसमें अपना योगदान किया। वे विज्ञान-परिषद (Academy of Sciences) और शिल्प परिषद (Academy of Plastic Arts) के अध्यक्ष भी थे।

रचनाएँ—शेलिंग की सभी कृतियों का संग्रह चौदह भागों में प्रकाशित हुआ है जिन्हें उनके पुत्र ने सम्पादित किया है। 'मानवीय स्वातन्त्र्य' (On Human Freedom) एवं 'विश्व के युग' (Ages of the World) इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

शेलिंग एक रहस्यवादी दार्शनिक थे। उन पर ब्रूनो, स्पिनोजा, काण्ट और फिक्टे के दर्शनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ब्रूनो और स्पिनोजा से उन्होंने विकासवाद की शिक्षा ग्रहण की तथा काण्ट और फिक्टे से उन्होंने वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद का पाठ पढ़ा। शेलिंग के दर्शन को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम काल में उन्होंने प्रकृति (Nature) और आत्मा (Spirit) का विवेचन किया है। द्वितीय काल में फिक्टे के प्रभाव के कारण विशिष्टाद्वैत की स्थापना हुई है। तृतीय और अन्तिम काल में भावात्मक रहस्यवाद (Positive Mysticism) का विकास हुआ है। इन तीनों फलकों का पृथक्-पृथक् विवेचन आवश्यक है।

प्रकृति-दर्शन
(Philosophy of Nature)

फिक्टे और शेलिंग के दर्शनों में पर्याप्त समानताएँ पाई जाती हैं। दोनों ही इस बात में एकमत हैं कि आत्मा और अनात्मा में या चित् और अचित् में कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं है। दोनों ही एक तृतीय परम तत्व की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। यह परम तत्व निरपेक्ष चैतन्य स्वरूप है जिसमें क्रियाशीलता, जीवन-शक्ति और संकल्प सब कुछ पाया जाता है। यह एक आत्म निर्धारक क्रिया-शक्ति है जो विभिन्न रूपों में अपने को अभिव्यक्त करती है। परम-तत्व की चित्शक्ति आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) रूप है जिसमें आत्मा और अनात्मा का समन्वय पाया जाता है। तत्व अद्वैत रूप नहीं वरन् विशिष्टाद्वैत रूप है।

उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी फिक्टे और शेलिंग के विचारों में कुछ मौलिक भेद पाया जाता है। प्रथम भेद तो यही है कि जिस परम तत्व को फिक्टे आत्मा (Ego) कहता है उसी परम तत्व को शेलिंग ने प्रकृति (Nature) नाम दिया है। पर 'प्रकृति' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि शेलिंग का परम तत्व जड़ रूप है। फिक्टे की आत्मा और शेलिंग की प्रकृति दोनों चैतन्य रूप हैं और दोनों जीवात्मा और जगत के अधिष्ठान हैं। दोनों के बीच तीसरा भेद यह है कि फिक्टे के लिए जगत एक बन्धन या अवरोध है, पर नैतिक प्रगति के लिए यह आवश्यक भी है क्योंकि जगत का अतिक्रमण करके ही मनुष्य नैतिक प्रगति कर सकता है। फिक्टे की अभिधारणा थी कि "**प्रकृति हमारे कर्तव्य का आधार है**।"[1] पर जगत के विषय में शेलिंग का विचार इससे भिन्न है। उनके अनुसार प्रकृति नैतिक प्रगति का अवरोधक नहीं वरन् सहायक है। वास्तव में जगत स्वयं आत्म-स्वरूप है। आत्मा से भिन्न जड़ का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब जगत आत्म-स्वरूप है, वह आत्मा की प्रगति में अवरोध कैसे उत्पन्न कर सकती हैं। आत्मा और प्रकृति का तादात्म्य स्थापित करते हुए शेलिंग कहते हैं—"**प्रकृति दृश्य आत्मा है और आत्मा अदृश्य प्रकृति है**।"[2] जब आत्मा और

1. "Nature is the material of our duty."
2. "Nature is visible spirit and spirit is invisible natute."

प्रकृति दोनों का स्वभाव एक है तो उनमें विरोध की कल्पना ही किस प्रकार की जा सकती है। दोनों के बीच चौथा भेद यह है कि फिक्टे की चैतन्य की कल्पना बड़ी सीमित है। वह चैतन्य का अर्थ चेतन चैतन्य (Conscious Intelligence) से लेता है। पर शेलिंग की चैतन्य की कल्पना पर्याप्त विस्तृत है। वे चैतन्य के भीतर दार्शनिकों के आत्म-चैतन्य से लेकर अचेतन, मूल-प्रवृत्त्यात्मक तथा उद्देश्यमूलक प्रक्रियाओं को भी समाहित करते हैं। दोनों में पाँचवाँ भेद यह है कि फिक्टे के दर्शन में जीवात्मा और जगत के बीच पक्ष और विपक्ष का भेद है पर शेलिंग के दर्शन में आत्मा जगत का ही एक विकसित रूप है। जहाँ फिक्टे द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectical Process) में विश्वास करते हैं, वहीं शेलिंग विकास की प्रक्रिया (Evolutionary Process) में विश्वास करते हैं। स्पिनोज़ा के दर्शन के समान यहाँ विस्तार और चैतन्य निरपेक्ष तत्व के समानान्तर गुण नहीं हैं वरन् वे विकास-प्रक्रिया के दो भिन्न सोपान हैं। जड़ एक प्रकार का सुप्त चैतन्य है। वनस्पतियों में प्राणशक्ति तथा पशुओं में चैतन्य का विकास पाया जाता है। मनुष्यों में चैतन्य का अधिकतम विकास पाया जाता है जो स्व-चैतन्य रूप होता है। वैसे ईश्वर या परमात्मा (World Soul) में चैतन्य की पराकाष्ठा पाई जाती है जहाँ पूर्ण समन्वय पाया जाता है। शेलिंग का यही विकासवाद है।

आत्मा का दर्शन

(Philosophy of Mind)

शेलिंग द्वारा प्रस्तुत आत्मा का दर्शन उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'अतीन्द्रिय विज्ञानवाद का निकाय' (System of Transcendental Idealism) में विस्तारपूर्वक दिया गया है। इसमें विभिन्न कालों में आत्म-चैतन्य का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। प्राथमिक संवेदनाएँ किस प्रकार सर्जनात्मक कल्पना और अनुचिन्तन (Reflection) से होते हुए निरपेक्ष संकल्प-शक्ति का रूप धारण कर लेती हैं, इनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जिस प्रकार फिक्टे के दर्शन में निरपेक्ष आत्मा स्वयं को सीमित कर एक ओर जीवात्मा और दूसरी ओर जगत का निर्माण करती है, ठीक उसी प्रकार शेलिंग के दर्शन में **निरपेक्ष बुद्धि** (Absolute Reason) **सर्वप्रथम** अपने को परिसीमित कर बाह्य **अचेतन प्रकृति** (Inorganic Nature) का निर्माण करती है और इसके बाद आत्म-चैतन्य की प्राप्ति के लिए **जीवात्माओं** (Organic Nature) का निर्माण करती है। फिक्टे से शेलिंग का भेद स्पष्ट है। फिक्टे के दर्शन में प्रथम जीवात्मा और बाद में बाह्य प्रकृति की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत, शेलिंग के दर्शन में प्रथम बाह्य प्रकृति की और बाद में जीवात्मा की उत्पत्ति होती है। बाह्य प्रकृति जीवात्मा के मन में इन्द्रिय-संवेदनाएँ, बुद्धि-विकल्प एवं आत्म-चैतन्य को उत्पन्न करती है। शेलिंग के अनुसार जीवात्मा को संकल्प-स्वातन्त्र्य एवं आत्म-बोध की प्राप्ति के लिए समाज एवं संघटित राज्य की भी आवश्यकता होती है। समाज और संगठित राज्य में हमारी स्वार्थपूर्ण एवं वासनामय भावनाओं का स्वतः उदात्तीकरण हो जाता है और हम नैतिकता के उच्च शिखर पर आसीन हो जाते हैं। आत्म-चैतन्य की उच्चतम अवस्था हमें कला में दिखाई देती है। कलाकार की सर्जनात्मक प्रतिभा प्रकृति की सर्जनात्मक प्रक्रिया का अनुकरण करके निरपेक्ष तत्व की प्रक्रिया का बोध करती है। यहाँ निरपेक्ष तत्व स्वयं अपनी सर्जनात्मक शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर

आत्म-चैतन्य की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। फिक्टे के अनुसार नैतिकता मनुष्य की श्रेष्ठतम प्रक्रिया है पर शेलिंग के अनुसार कला मनुष्य का उच्चतम आदर्श है।

प्रकृति और आत्मा दोनों में विकास **त्रिक नियम** (Triadic Law) के अनुसार होता है। प्रकृति में क्रमशः जिन रूपों का विकास होता है, वे ये हैं—आकर्षण, विकर्षण और गुरुत्वाकर्षण; चुम्बक, विद्युत और रासायनिकता; संवेदन, प्रतिवेदन और प्रजनन। आत्मा में विकास के निम्न सोपान हैं : इन्द्रिय-संवेदन, प्रत्यक्ष और बुद्धि-विकल्प। ये सभी आत्मा की चित्शक्ति के धर्म हैं। इन सब की पराकाष्ठा कलात्मक अनुभूति में पाई जाती है।

रहस्यवाद
(Mysticism)

शेलिंग का दर्शन एक प्रकार का सर्वेश्वरवाद (Pantheism) है जिसमें विश्व को एक सजीव, विकासमान **जैविक इकाई** (Organic Unity) माना गया है। इसमें विषयी और विषय, स्वरूप और द्रव्य तथा आदर्श और यथार्थ सभी अवियोजनीय रूप में पाए जाते हैं। इसमें एकता में अनेकता और अनेकता में एकता पाई जाती है। इसमें अंश का ज्ञान अंशी के ज्ञान के बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता; इसी प्रकार अंशी का ज्ञान भी अंशों के ज्ञान के बिना नहीं प्राप्त किया जा सकता।

अब यहाँ हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस जैविक इकाई का ज्ञान हमें कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके उत्तर में शेलिंग कहते हैं कि **चूंकि जगत बौद्धिक या चेतन है, अतः इसे बुद्धि के द्वारा भलीभाँति जाना जा** सकता है। उनका ज्ञान का आदर्श यह है कि जिस प्रकार विश्व एक अंगी है जिसके अनेक अंग पाए जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में भी हम एक ऐसे **तन्त्रबद्ध साकल्य** (Systematic Whole) का निर्माण कर सकते हैं जिसमें प्रत्येक वाक्य की सत्यता उस तन्त्र के अन्य वाक्यों एवं तन्त्र की सत्यता पर आधारित होती है। यहाँ उन्होंने स्पिनोजा की रेखागणित की पद्धति को मान्यता दी है। पर आगे चलकर शेलिंग ने अनुभव किया कि कुछ प्रागनुभविक (Apriori) स्वयंसिद्धियों पर आधारित तन्त्रबद्ध ज्ञान के आधार पर तत्व का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। स्वयंसिद्धियाँ यादृच्छिक होती हैं; उनमें किसी प्रकार की अनिवार्यता नहीं पाई जाती। यदि हम स्वातन्त्र्य और स्व-निर्धारक तत्व को सिद्ध करना चाहते हैं तो हमें स्वयं स्व-निर्धारक सजीव तत्व बनना होगा। इस स्वातन्त्र्य और स्व-निर्धारक सजीव तत्व का ज्ञान सहज अनुभूति या **बौद्धिक प्रतिभान** (Intellectual Intuition) द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। सजीव तत्व का ज्ञान स्थैतिक और निर्जीव विकल्पों के माध्यम से नहीं प्राप्त किया जा सकता है। शेलिंग के अनुसार "**प्रक्रिया का ज्ञान प्रक्रिया के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।**"[1]

ऊपर जिस प्रतिभान की चर्चा की गई उसका स्पष्ट अर्थ समझ लेना आवश्यक है। पहले शेलिंग ने इसका नाम बौद्धिक प्रतिभान रखा। बाद में उन्होंने उसे **कलात्मक अनुभूति** (Artistic Intuition) का नाम दिया। इस परिवर्तन का कारण

1. "Activity can be comprehended only by activity."

यह है कि प्रथम शेलिंग के लिए तत्व का आदर्श रूप आत्म-चैतन्य या आत्म-अनुचिंतन था जिसका साक्षात्कार बौद्धिक प्रतिभान द्वारा किया जा सकता है। बाद में उन्होंने तत्व को एक कलात्मक कृति के रूप में देखा जिसकी प्राप्ति कलात्मक या धार्मिक अनुभूति द्वारा ही की जा सकती है। कलात्मक, धार्मिक या सौन्दर्यानुभूति के द्वारा जीव और जगत् के द्वैत से ऊपर उठकर समन्वयात्मक ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है।

जार्ज विल्हम फ्रेडरिक हेगल
(Georg Wilhelm Friedrich Hegel)
(1770—1831)

जीवन-वृत्त—हेगल का जन्म जर्मनी के स्टटगार्ट नगर में 1770 में हुआ था। ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय में उन्होंने धर्म-विज्ञान एवं दर्शन की शिक्षा ग्रहण की। अध्ययन समाप्त करने के बाद उन्होंने कुछ समय तक गृहशिक्षक के रूप में स्विटजरलैण्ड और फ्रैंकफर्ट में काम किया। 1805 में हेगल जेना विश्वविद्यालय में शेलिंग के सहयोगी नियुक्त किए गये। जेना में युद्ध के कारण उनको अध्यापक का पद त्याग देना पड़ा। कुछ वर्षों तक उन्होंने बैम्बर्ग नगर में एक पत्न का संपादन किया। इन सारी असुविधाओं और परिवर्तनों के बावजूद हेगल के दार्शनिक चिन्तन में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न नहीं हुआ। 1816 में हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय में उन्हें दर्शन के प्रोफेसर-पद पर कार्य करने के लिए आमंत्रित किया गया। दो वर्ष बाद फिक्टे की मृत्यु के कारण उन्हें बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इस समय से लेकर मृत्यु तक अपनी रचनाओं और दार्शनिक विचारों के कारण वे पूरे जर्मनी के दार्शनिक जगत् का नेतृत्व करते रहे। सन् 1831 में हैजे के कारण उनकी मृत्यु हो गयी।

रचनाएँ—हेगल एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। उन्होंने दर्शन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 1807 में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आत्मा की आभासिकी' (Phenomenology of Spirit) प्रकाशित की। 1812 से 1816 तक वे तर्क-शास्त्र (Logic) के प्रणयन में व्यस्त रहे। इन दोनों पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने दर्शन के इतिहास, सौन्दर्यशास्त्र, धर्म-दर्शन, इतिहास-दर्शन इत्यादि विषयों पर जो व्याख्यान दिए हैं उन्हें उनके विद्यार्थियों ने उन्नीस भागों में प्रकाशित किया है। इन पुस्तकों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि हेगल में कितनी उच्चकोटि की प्रतिभा व सृजनात्मक शक्ति विद्यमान थी। उनके अनुसार प्रत्येक दार्शनिक निकाय में सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य विद्यमान होता है और सभी पूर्ववर्ती दार्शनिक उनके विचारों के किसी पहलू का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसीलिए प्रत्येक पूर्ववर्ती दार्शनिक 'तुतलानेवाला हेगल' (Lisping Hegel) कहा जाता था। हेगल के विचारों पर प्लेटो, एरिस्टॉटल, काण्ट, फिक्टे और शेलिंग का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार हेगल के परवर्ती दार्शनिक जैसे ब्रैडले, बोसांके एवं ग्रीन भी हेगल के दर्शन से पर्याप्त प्रभावित थे।

हेगल और उसके पूर्ववर्ती दार्शनिक

जर्मन मस्तिष्क प्रारम्भ से ही प्रज्ञावादी (Intellectualist) रहा है। काण्ट के दर्शन में थोड़े समय के लिए जर्मनी का प्रज्ञावाद, नीतिवाद (Moralism) में

परिवर्तित हो गया था। पर काण्ट के बाद ही व्यावहारिक बुद्धि की प्राथमिकता का परित्याग कर दिया गया और उसके स्थान पर सैद्धान्तिक बुद्धि को सभी प्रकार के अस्तित्व का आधार और केन्द्र माना गया।

लाइब्नित्ज और हेगल जर्मन प्रज्ञावाद के दो प्रतिनिधि दार्शनिक हैं। लाइब्नित्ज में जर्मन प्रज्ञावाद के आत्मनिष्ठ और मनोवैज्ञानिक पक्ष की प्रधानता है; इसके विपरीत, हेगल में वस्तुनिष्ठ और ब्रह्माण्डीय पक्ष की विशेषता है। लाइब्नित्ज ने आत्मा के प्रातिनिधिक स्वभाव के आधार पर उसी प्रकार के विश्व की अवधारणा का निर्माण किया; इसके विपरीत हेगल ने वैयक्तिक आत्माओं को सार्वभौम निरपेक्ष आत्मा की अभिव्यक्ति मात्र बताया। निरपेक्ष या तार्किक विज्ञान जो सर्वप्रथम अविकसित अवस्था में रहता है, पहले अचेतन प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त होता है और पुनः सामाजिक संस्थाओं, कला, धर्म और विज्ञान के द्वारा विकसित होकर मनुष्य में आत्म-चैतन्य के रूप में व्यक्त होता है।

प्रज्ञावाद (Intellectualism) का प्राथमिक प्रमेय है: "**विज्ञान की सिद्धावस्था ही सत् है तथा विज्ञान की विकासशील अवस्था को ही परिणाम कहते हैं।**"[1] इससे हम निम्न निष्कर्ष निगमित कर सकते हैं :—

1. निरपेक्ष चैतन्य एक ओर वस्तुओं को उत्पन्न करता है और दूसरी ओर प्रत्ययों और विज्ञानों को विकसित करता है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर वस्तु-जगत की उत्पत्ति होती है तो दूसरी ओर विज्ञान-जगत का निर्माण होता है। दर्शन का कार्य न केवल इन दोनों प्रकार के जगत में सहसम्बन्ध स्थापित करना है वरन् दोनों को सुसंगठित कर तन्त्रबद्ध करना भी है। मूल्यों के क्रम में किसी वस्तु का क्या स्थान है, इसका अनुसंधान करना भी दर्शन का एक प्रमुख कार्य है। यह संसार की वस्तुओं की कारणात्मक व्याख्या प्रस्तुत न कर प्रयोजनमूलक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

2. यदि संसार की सभी वस्तुएँ प्रज्ञा या चैतन्य की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं और प्रत्येक वस्तु प्रज्ञा का ही एक रूप है तो चैतन्य और सत्ता में कोई आत्यन्तिक भेद नहीं हो सकता। **चित् और सत् अथवा बोध और सत्ता दोनों एक हैं।**

3. यदि जगत और जगत की वस्तुएँ चैतन्य के विकासशील परिणाम हैं तो दर्शन एक प्रकार का विकासवाद है। संसार की प्रत्येक वस्तु का आदि और अन्त विज्ञान ही है; अतः प्रत्येक वस्तु बोध या विज्ञान स्वरूप है। दर्शन इसी विज्ञान के विविध रूपों एवं वस्तुओं के विकास-क्रम का सुसम्बद्ध अध्ययन करता है। अतः इसकी चरम परिणति **निरपेक्ष विज्ञानवाद** (Absolute Idealism) में ही सम्भव हो सकती है जहाँ सत्ता और बोध दोनों में तादात्म्य-सम्बन्ध पाया जाता है। अतः, हेगल का दर्शन एक प्रकार का विज्ञानवाद है, तादात्म्य का एक निकाय या तन्त्र है तथा विकास का आशावादी सिद्धान्त है।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हेगल का विज्ञानवाद फिक्टे, शेलिंग या अन्य विज्ञानवादी दार्शनिकों के दर्शन से किस प्रकार भिन्न है? सर्वप्रथम हम

1. "All being is thought realised, all becoming a development of thought."

काण्ट के विज्ञानवाद से प्रारम्भ करेंगे। हेगल काण्ट के इस विचार से बिलकुल सहमत हैं कि **बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती** है और बुद्धि के भीतर प्रकृति के निर्माण करने की वास्तविक शक्ति अतीन्द्रिय आत्मा से आती है। जिस प्रकार काण्ट के दर्शन में हमने देखा कि **ईश्वर जीवात्माओं** और **स्वलक्षण** वस्तुओं दोनों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार हेगल के दर्शन में निरपेक्ष चैतन्य आत्मा और जगत दोनों को उत्पन्न करता है। इन समानताओं के होते हुए भी दोनों के दर्शन में मौलिक भेद हैं। हेगल को सबसे बड़ी आपत्ति काण्ट के **'अज्ञेय स्वलक्षण** वस्तुओं' के सम्बन्ध में है। हेगल ने इस अज्ञेयवाद की कटु आलोचना की है। जब तत्व विज्ञानरूप है तो वह विज्ञान-गम्य अवश्य ही होगा। वे बुद्धि या प्रज्ञा की असीम शक्ति में विश्वास करते थे। यदि बाह्य स्वलक्षण वस्तुएँ वास्तव में अज्ञेय हैं तो हम यह भी कहने के अधिकारी नहीं हैं कि संसार में स्वलक्षण वस्तुओं का अस्तित्व है। काण्ट को स्वलक्षण वस्तुओं के विषय में कम-से-कम इतना ज्ञान तो अवश्य ही है कि उनकी सत्ता है; वे द्रव्य रूप हैं तथा वे हमारे संवेदनों के कारण हैं। इतना ज्ञान होने पर भी स्वलक्षण वस्तुओं को अज्ञेय कहना वदतोव्याघात है। वास्तव में चैतन्य या ज्ञान की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। इस प्रकार हेगल आत्माओं और स्वलक्षण वस्तुओं तथा संवृति और परमार्थ के द्वैत को समाप्त कर दोनों को एक ही तत्व के भीतर समाहित कर देते हैं। हेगल के अनुसार काण्ट के अज्ञेयवाद का एक दूसरा भी कारण था और वह कारण यह था कि काण्ट प्रज्ञा को केवल नियामक (Regulative) तत्व मानते थे; इसके विपरीत **हेगल** के लिए प्रज्ञा नियामक होने के साथ-साथ उपादानात्मक (Constitutive) भी है। ऐसा मानने पर ही हम अज्ञेयवाद के अजगर से मुक्त हो सकते हैं।

इसी प्रकार फिक्टे के दर्शन के साथ भी हेगल के दर्शन की समानता और विभिन्नता है। दोनों के अनुसार तत्व **आत्म-चैतन्य** (Self-Consciousness) रूप है जिसमें एकता और अनेकता, अभेद और भेद तथा आत्म और अनात्म का सम्बन्ध पाया जाता है। फिक्टे के आत्म-चेतन परमात्म-तत्व को, उनके तादात्म्य, विरोध और **परिसीमन** को, उनकी **पक्ष**, **विपक्ष** और **संपक्ष** की त्रयी को तथा उनके परमात्मा, जीवात्मा और अनात्मा के सिद्धान्त को हेगल ने किसी-न-किसी रूप में अवश्य स्वीकार कर लिया है। किन्तु फिक्टे की कुछ बातों को हेगल ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया। फिक्टे आत्मा की संकल्प-शक्ति को प्राथमिक मानते थे तथा अनात्म-जगत को प्रगति में बाधक समझ कर उसके अतिक्रमण में मानव-प्रगति की प्रतिष्ठा स्वीकार करते थे। हेगल ने फिक्टे की इन बातों को मान्यता नहीं दी। वे संकल्प-शक्ति की अपेक्षा बौद्धिक तत्व को विशेष महत्व देते थे। फिक्टे ने प्रकृति को आत्मा की अपेक्षा गौण स्थान तो दिया पर उनके भीतर साध्य-मूल्य न मानकर साधन-मूल्य ही माना। पर हेगल के अनुसार प्रकृति न तो आत्मा के समकक्ष है और न आत्मा के अधीनस्थ ही है वरन् निरपेक्ष तत्व के विकास-क्रम का एक सोपान है। आत्मा ही स्व-चैतन्य प्राप्त करने के लिए प्रथम प्रकृति के रूप में विकसित होती है।

फिक्टे के समान शेलिंग के साथ भी हेगल की समानताएँ एवं विभिन्नताएँ हैं। हेगल शेलिंग की इस बात से सहमत हैं कि जीवात्मा और प्रकृति दोनों का मूल स्रोत परम-तत्व है जो आत्म-चैतन्य रूप है। दोनों **विकासवाद** में विश्वास करते हैं। पर **इन समानताओं के साथ उनमें विभिन्नताएँ भी पाई जाती हैं।** शेलिंग का परम-तत्व

अद्वैत रूप है। यह वह "काल-रात्रि है जिसमें सब गायें काली दिखाई देती हैं।" इसके विपरीत हेगल का परम-तत्व "विशिष्टाद्वैत रूप है जिसमें द्वैत और अद्वैत दोनों पाया जाता है। फिक्टे और शेलिंग दोनों ने आत्म-तत्व के भीतर चैतन्य की अपेक्षा संकल्प-शक्ति को अधिक महत्व दिया था; किन्तु हेगल ने संकल्प-शक्ति को गौण और चित्-शक्ति को प्रधान माना। आत्म-साक्षात्कार के लिए फिक्टे ने **नैतिक** जीवन पर बल दिया, शेलिंग ने कलात्मक धार्मिक अनुभूति को मान्यता दी, किन्तु हेगल ने एकमात्र प्रज्ञा को ही सब कुछ समझा। वे किसी भी प्रकार के रहस्यवाद के घोर विरोधी हैं। विशिष्टाद्वैतवादी होने के कारण वे ऐसी शक्ति में विश्वास करते हैं जो नानात्व के ज्ञान के साथ उसमें अनुस्यूत एकता का भी बोध करा सके। ऐसी शक्ति प्रज्ञा (Reason) ही हो सकती है।

हेगल **प्रबोध-दर्शन** (Philosophy of Illumination) से विशेष प्रभावित थे। वे उसकी कठोर तर्क-पद्धति और वैज्ञानिक अनुसंधान-विधि से विशेष प्रभावित थे। वे प्रबोध-दर्शन के इस मत से सहमत हैं कि दर्शन प्रत्ययों का विज्ञान है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ प्रबोध-दर्शन अमूर्त प्रत्ययों का विज्ञान है वहाँ हेगल का दर्शन मूर्त प्रत्ययों (Concrete Concepts) का विज्ञान है। काण्ट और प्रबोध-दर्शन दोनों अमूर्त प्रत्ययों में विश्वास करने के कारण चित् और सत्, असीम और ससीम तथा ज्ञान और अज्ञान की समस्या को सुलझाने में सदा असफल रहे। हेगल ने चित् और सत् के भेद को दूर कर ज्ञान की समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

हेगल के पहले पाश्चात्य दर्शन में दो प्रकार के विचार प्रचलित थे: प्रथम विचारधारा के अनुसार तत्व को जानने का एकमात्र उपाय प्रतिभान है। यह एक प्रकार का साक्षात्, अव्यवहित ज्ञान है जिसमें हमें मूर्त तत्व-विशेष का ज्ञान प्राप्त होता है। इसे **प्रतिभान दर्शन** (Philosophy of Intuition) कहते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन में एक दूसरी भी विचारधारा थी जिसके अनुसार यदि हमें अपने ज्ञान में वैज्ञानिकता लानी है तो हमें व्यवहित (Mediate), अमूर्त (Abstract) एवं सार्वभौम (Universal) ज्ञान से ही संतोष करना होगा। इसे **अनुचिन्तन का दर्शन** (Philosophy of Reflection) कहते हैं। प्रथम प्रकार के ज्ञान द्वारा हमें मूर्त तत्व-विशेष का अव्यवहित ज्ञान तो अवश्य होता है पर इसमें अवैज्ञानिकता का दोष विद्यमान होता है। इसके विपरीत, दूसरे प्रकार के ज्ञान में वैज्ञानिकता का गुण तो विद्यमान होता है पर वह अमूर्त और व्यवहित ज्ञान ही होता है। इसके द्वारा हमें मूर्त तत्व का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। हेगल ऐसे दर्शन का निर्माण करना चाहते थे जिसमें प्रतिभान-दर्शन का **अव्यवहितत्व** और **मूर्तता** तो हो पर उसकी अवैज्ञानिकता का अभाव हो; इसी प्रकार वह दर्शन ऐसा हो जिसमें अनुचिन्तन के दर्शन की **वैज्ञानिकता** तो विद्यमान हो पर उसका **व्यवहितत्व** और **अमूर्तता** विद्यमान न हो। ऐसा दर्शन मूर्त विज्ञानों का दर्शन (Philosophy of Concrete Concepts) ही हो सकता है। यह दर्शन सामान्य और विशेष, असीम और ससीम, अद्वैत और द्वैत तथा अभेद और भेद सभी के बीच समन्वय स्थापित करता है। प्रतिभान-दर्शन केवल अभेद में विश्वास करता है; अनुचिन्तन का दर्शन भेद में विश्वास करता है। हेगल के मूर्त विज्ञानों का दर्शन भेदों में अनुस्यूत अभेद या द्वैत विशिष्ट अद्वैत का दर्शन है। इसे विशिष्टाद्वैत का दर्शन भी कह सकते हैं।

हेगल के मूर्त विज्ञानों के दर्शन के भीतर तीन प्रमुख बातें पाई जाती हैं :—

1. चिन्तन का साधन क्या है ?
2. चिन्तन का विषय क्या है ?
3. विरोध नियम का तार्किक स्वभाव क्या है ?

1 **चिन्तन का साधन**—चिन्तन का साधन न अनुचिन्तन है और न प्रतिभान वरन् परिकल्पना (Speculation) है। मूर्त विज्ञानों के द्वारा ही हम सत्ता का साक्षात्कार कर सकते हैं। मूर्त विज्ञानों का दर्शन आत्यन्तिक विरोध में विश्वास नहीं करता। यह साधारण विरोध को स्वीकार कर पक्ष-विपक्ष-संपक्ष के द्वारा उनके बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। प्रतिपक्षों की एकता असम्भव नहीं है वरन् विकास का परिणाम है।

2. **दर्शन का विषय**—दर्शन का विषय संवृत जगत न होकर निरपेक्ष तत्व है जो विरोधों के बीच से विकसित होकर मूर्त सामान्य का रूप धारण करता है। निरपेक्ष तत्व एक सजीव प्रक्रिया है और हम संसार में जो कुछ भी देखते हैं वह उसी निरपेक्ष तत्व की अभिव्यक्ति है।

3. **विरोध-नियम का तार्किक स्वभाव**—सभी तत्व विकासमान है और इस विकास की शक्ति निषेध (Negation) या विरोध (Contradiction) से आती है। निषेध के बिना न विकास सम्भव है और न जीवन ही। विरोधों के विलोपन की आवश्यकता नहीं है वरन् उन्हें समन्वित करने की आवश्यकता है। दो विरोधी विज्ञानों में समन्वय स्थापित कर हम एक तृतीय उच्चतर विज्ञान का निर्माण कर लेते हैं। यह तृतीय उच्चतर विज्ञान पुनः अपने विरोधी विज्ञान को उत्पन्न करता है और हम पुनः उनके बीच समन्वय स्थापित कर एक चौथे उच्चतर विज्ञान का निर्माण कर लेते हैं। इस प्रकार विरोध और समन्वय के द्वारा हम उच्चतम निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) तक पहुँचने में सफल हो जाते हैं।

तत्व-विज्ञान

(Metaphysics)

हेगल अमूर्त विज्ञानों में विश्वास न कर मूर्त विज्ञानों में विश्वास करते हैं। अतः, उनके दर्शन में तर्कशास्त्र (Logic) और तत्व-विज्ञान (Metaphysics) दोनों एक हैं। अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि वह तत्व क्या है जो जगत की सभी वस्तुओं को उत्पन्न करता है ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में हेगल का उत्तर है कि **निरपेक्ष विज्ञान** (Absolute Idea) ही वह मूलतत्व है जिसका सम्पूर्ण विश्व परिणाम है। तत्व चैतन्य-रूप है जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता। इस विषय में हेगल डेकार्ट्स और शंकराचार्य से पूर्ण सहमत हैं। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है, "**बोध ही सत्ता है और सत्ता ही बोध** है।"[1] समस्त विश्व में जो कुछ दिखाई देता है वह चैतन्य की ही अभिव्यक्ति है; चैतन्य से स्वतन्त्र किसी वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

---

1. "The rational is real and the real is rational."

यह चैतन्य और विज्ञान क्या है, इसे पूर्ण रूप से समझने के लिए इसके विविध पक्षों पर विचार करना आवश्यक है।

विज्ञान के विविध पक्ष

1. **विज्ञान मूर्त सामान्य है**—हेगल ने जिस चैतन्य या विज्ञान की कल्पना की है वह अमूर्त सामान्य नहीं है। अमूर्त सामान्य एक काल्पनिक विचार है। हम एक ऐसी सामान्य रेखा की कल्पना नहीं कर सकते जो न सरल हो और न वक्र। विशेषों से पृथक् सामान्य का कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार सामान्य से पृथक् विशेषों का कोई अस्तित्व नहीं है। सामान्य विशेषों में अनुस्यूत है। इसीलिए हेगल के विज्ञान मूर्त सामान्य (Concrete Universals) हैं।

2. **तत्व विशिष्टाद्वैत रूप है**—हेगल मात्र अभेद (Bare Identity) और मात्र भेद (Bare Difference) दोनों को काल्पनिक मानते हैं। अभेद सदा भेद से विशिष्ट रहता है। अभेद विशेष्य है और भेद विशेषण है। विशेष्य और विशेषण दोनों सदा एक साथ रहते हैं। अतः कोई वस्तु निर्गुण या निर्विशेष नहीं हो सकती। यहाँ हेगल का शंकराचार्य से भेद और रामानुजाचार्य से समानता है। हेगल और रामानुज दोनों भेदों में अनुस्यूत अभेद (Unity-in-Difference) में विश्वास करते हैं।

3. हेगल का **विज्ञान स्व-चैतन्य रूप है**—हेगल का चैतन्य शंकराचार्य के चैतन्य के समान विशुद्ध चैतन्य (Pure Consciousness) नहीं है। विशुद्ध चैतन्य या निर्विशेष चैतन्य एक अमूर्त कल्पना है। विज्ञान आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) रूप है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय, द्रष्टा और दृश्य तथा अभेद और भेद दोनों पक्ष सदा विद्यमान रहते हैं।

4. **विज्ञान एक तन्त्रबद्ध साकल्य है**—विज्ञान एक तन्त्रबद्ध साकल्य (Systematic Whole) है। यह अवयवी या अंगी है। बोसांके (Bosanquet) ने इसे **व्यक्ति** (Individual) नाम दिया है। यह विशेषण युक्त विशेष्य है।

5. **अवयवी और अवयवों में जीवित सम्बन्ध है**—अवयवी और अवयवों के बीच जीवित सम्बन्ध (Organic Relation) पाया जाता है। जीवित सम्बन्ध की तीन प्रागपेक्षाएँ हैं : पूर्ण अंशों को आपादित करता है, अंश पूर्ण को आपादित करते हैं तथा प्रत्येक अंश प्रत्येक दूसरे अंश को आपादित करता है। जहाँ ये तीन प्रागपेक्षाएँ विद्यमान होती हैं वहीं जीवित सम्बन्ध पाया जाता है। **तत्व ऐसा ही अवयवी** (Organism) है।

6. **तत्व अन्तर्यामी है**—ऊपर हम देख चुके हैं कि तत्व भेदों में अनुस्यूत अभेद है। वह अपने अवयवों, अंशों और अंगों में अन्तर्यामी (Immanent) रहता है। अवयवी अवयवों का मात्र समूह नहीं है, वह उनमें अनुस्यूत अभेद है। इसी अभेद तत्व से ही सारे भेद अनुप्राणित होते हैं। विज्ञान सभी व्यष्टियों में अन्तर्यामी समष्टि है। तत्व को अन्तर्यामी कहने का भाव यह है कि संसार की सभी वस्तुएँ इस विज्ञान को ही न्यूनाधिक्य रूप में अभिव्यक्त करती हैं।

7. **निरपेक्ष विज्ञान विकास की उच्चतम अवस्था है**—शेलिंग के समान हेगल भी विकासवादी दार्शनिक हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि हेगल के अनुसार निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) ही एकमात्र तत्व है। यह निरपेक्ष विज्ञान सर्वप्रथम अमूर्त विज्ञान (Abstract or Logical Idea) के रूप में प्रतीत होता है। चैतन्य का यह बिलकुल अभेद रूप है। पर हेगल के अनुसार भेद के बिना अभेद की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः चैतन्य का यह **अभेद रूप** (Idea-in-itself) अपूर्ण और मिथ्या ही कहा जायगा। बिना विषय के विषयी की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः, अपूर्ण अमूर्त विज्ञान पूर्णता प्राप्त करने के लिए बाह्य विषय या जड़-जगत का रूप धारण करता है। यह विज्ञान का **बाह्य रूप** (Idea-outside-itself) है जो भेदात्मक होता है। विज्ञान का यह बाह्य रूप या जड़-जगत चैतन्य से भिन्न नहीं है क्योंकि विज्ञानवादी होने के कारण हेगल चैतन्य से पृथक् किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। जड़ एक प्रकार का सुप्त चैतन्य है। यह सुप्त चैतन्य वनस्पति-जगत और पशु-जगत से होते हुए मानव-जगत में आकर आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) का रूप धारण कर लेता है। अब यह अमूर्त विज्ञान न होकर पूर्णतया मूर्त विज्ञान (Idea-in-and-for-itself) का रूप धारण कर लेता है। अमूर्त विज्ञान अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने के लिए ही पहले प्रकृति का रूप धारण करके अन्त में मूर्त विज्ञान का रूप धारण करता है। इस प्रकार क्रमशः हम निरपेक्ष पूर्ण विज्ञान तक पहुँचने में सफल हो जाते हैं।

द्वन्द्व-न्याय
(Dialectic)

हेगल के अनुसार निरपेक्ष सत् के भीतर एकता और अनेकता दोनों का समन्वय पाया जाता है। विशुद्ध एकता और विशुद्ध अनेकता के प्रत्यय काल्पनिक हैं। प्रथम तो हम विशुद्ध एकता की कल्पना कर ही नहीं सकते और यदि करते भी हैं तो उसकी कल्पना अनेकता के प्रत्यय के माध्यम से ही की जा सकती है। **विशुद्ध एकता विशुद्ध असत् है**। इसके भीतर अनेकता के अभाव में इसकी एकता का निर्धारण भी नहीं किया जा सकता। जो बात एकता के विषय में सही है वही अनेकता पर भी लागू होती है। दो इकाइयों के भीतर यदि कोई सामान्य उभयनिष्ठ तत्व नहीं है तो उनके भेद का भी निर्धारण नहीं किया जा सकता। सामान्य तत्व के अभाव में प्रत्येक वस्तु एक विशिष्ट स्वतन्त्र इकाई हो जाती है जिनके बीच किसी भी प्रकार के भेद का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अतः, अनेकता के बिना एकता और एकता के बिना अनेकता की कल्पना असम्भव है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि अभेद और भेद दोनों अभिन्न हैं। हेगल ने इसे निम्न प्रकार सिद्ध किया है :—"वह जो भेद से भिन्न है, अभेद है। भेद, इस प्रकार भेद और अभेद दोनों है। दोनों मिलकर भेद का निर्माण करते हैं। जिस प्रकार अभेद पूर्ण और अंश दोनों है, उसी प्रकार भेद पूर्ण और अंश दोनों है।"[1] अर्थात् भेद, भेद और अभेद दोनों है। भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध होते हुए भी एक दूसरे के भीतर सन्निहित हैं। **प्रतिपक्षों का तादात्म्य हेगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली का**

1. हेगल, Science of Logic, IV, पृ० 38।

प्राण है। यहाँ 'तादात्म्य' शब्द का अर्थ विशुद्ध तादात्म्य नहीं है, यहाँ तादात्म्य का अर्थ भेदता में अभेदता से है और अभेद भेद पर आश्रित है।

कुछ आलोचक यह कहते हैं कि प्रतिपक्षों के तादात्म्य का विचार आत्म-व्याघातक विचार है। जो ऐसा कहते हैं वे हेगल के दर्शन के गूढ़ विचारों को नहीं समझते। जब हेगल प्रतिपक्षों के तादात्म्य की बात कहते हैं तो उनका यह मन्तव्य नहीं होता कि दोनों प्रतिपक्षों में अविभेदित एकता (Undifferentiated Unity) है; उनके कथन का वास्तविक तात्पर्य यह है कि दोनों प्रतिपक्ष भिन्न रूपों में एक ही तत्व की अभिव्यक्ति करते हैं। हेगल के दर्शन की तात्विक बात यह है कि **जब तक दो वस्तुएँ भिन्न नहीं होतीं, तब तक उनके बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित ही नहीं किया जा सकता।** मान लीजिए, हम कहते हैं कि 'अ, ब है'। यदि अ और ब बिलकुल अभिन्न है तो 'अ, ब है' एक द्विरुक्ति (Tautology) मात्र होगा और यदि अ और ब बिलकुल भिन्न हैं तो 'अ, ब है' एक आत्म-व्याघातक (Self-Contradictory) वाक्य होगा। इन दोनों कठिनाइयों से हम तभी मुक्त हो सकते हैं जब कि हम मान लें कि अ और ब में भिन्नता और अभिन्नता दोनों विद्यमान है। हेगल का भी यही मन्तव्य है। विशुद्ध भिन्नता और विशुद्ध अभिन्नता दोनों अमूर्त प्रत्यय हैं। भिन्नता में अभिन्नता अथवा भेद में अभेद है। यही तात्विक वास्तविकता है।

प्रतिपक्षों के तादात्म्य की सम्भावना को हम तर्क-शास्त्र के आधार पर भी सिद्ध कर सकते हैं। आकारमूलक तर्क-शास्त्र वैसे तो चार प्रकार के विरोध में विश्वास करता है पर उनमें दो प्रमुख हैं : प्रथम वैपरीत्य (Contrariety) और द्वितीय व्याघात (Contradiction)। उदाहरण के लिए श्वेत और अ-श्वेत के बीच व्याघात है पर श्वेत और कृष्ण के बीच वैपरीत्य है। हेगल व्याघात-विरोध को वास्तविक विरोध नहीं मानते। भला श्वेत और अश्वेत-जिनके भीतर रूई, खरगोश, बादल, पुस्तकें इत्यादि तमाम वस्तुएँ आ जाती हैं—के बीच कैसा विरोध हो सकता है? वास्तविक भेद या विरोध वहीं हो सकता है जहाँ दो वस्तुओं के बीच कोई सामान्य तत्व विद्यमान हो। उदाहरण के लिए घोड़े और गधे में विरोध हो सकता है क्योंकि दोनों जानवर हैं; श्वेत और कृष्ण के बीच विरोध हो सकता है क्योंकि दोनों रंग हैं; इसी प्रकार मोहन और सोहन में विरोध हो सकता है क्योंकि दोनों मनुष्य हैं। **वास्तविक विरोध वहीं होता है जहाँ अभेदमूलक भेद हो।** अतः, हेगल के प्रतिपक्षों के तादात्म्य में पर्याप्त सार्थकता है।

हेगल के तर्क-शास्त्र में प्रतिपक्षों के तादात्म्य की उपलब्धि त्रिक-नियम (Triadic Law) के अनुसार होती है। इसके तीन अंग हैं—पक्ष (Thesis), प्रतिपक्ष (Anti-Thesis) और संपक्ष (Synthesis)। जगत् का विकास द्वन्द्वात्मक विधि (Dialecical Process) द्वारा सम्बद्ध होता है। इसमें संपक्ष पक्ष और प्रतिपक्ष का केवल गणितीय योग ही नहीं वरन् उनका उच्चतर समन्वय है। समन्वय में पक्ष और प्रतिपक्ष का विरोध शान्त हो जाता है। इसीलिए **समन्वय या संपक्ष को 'निषेध का निषेध' या 'विरोध का विरोध' कहते हैं।** इसी द्वन्द्वात्मक गति के अनुसार हम निम्नतर सत्ता से उच्चतर सत्ता की ओर अग्रसर होते हैं और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि हम निरपेक्ष तत्व (Absolute Reality) को प्राप्त नहीं कर लेते।

हेगल के तर्कशास्त्र की प्रथम त्रयी (Triad) ऐसे ही प्रतिपक्षों का तादात्म्य है : यह सत् (Being) और असत् (Nothing) का तादात्म्य है जिसे परिणाम (Becoming) कहते हैं। **'परिणाम' या 'संभवन' शब्द संसार के किसी नवीन पदार्थ (Category) को अभिव्यक्ति न कर या तो प्रतिपक्षों के तादात्म्य को व्यक्त करता है या उस गति को व्यक्त करता है जिससे संसार में विकास सम्भव होता है।** **म्योर** के शब्दों में : संभवन सम्पूर्ण तर्क का न्यूनतम मूलाधार है।[1] संभवन त्रयी का केवल एक घटक नहीं है; इसका प्रयोग सम्पूर्ण त्रयी के लिये किया गया है। 'सत्' और 'असत्' मिलकर जिस 'समन्वय' का निर्माण करते हैं वह 'संभवन' (Becoming) न होकर 'सगुण होना' (Being determinate) है, पर 'संभवन' शब्द का प्रयोग तर्क की सम्पूर्ण द्वन्द्वात्मक प्रणाली के लिए किया जाता है। प्रतिपक्षों की एकता से हेगल का तात्पर्य किसी विशुद्ध एकता से नहीं है वरन् उसके घटक तत्वों के सतत् विरोध की एकता से है। **'संभवन' चिन्तन की उस आत्म-विभेदीकरण** (Self-Differentiation) **की प्रक्रिया का परिणाम है जिसमें प्रत्येक वस्तु दो परस्पर विरोधी तान्तियों का समन्वय होती है।** यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि द्वन्द्वात्मक (Dialectical Becoming) कोई देशकालिक प्रक्रिया नहीं है; यह वह चेतन प्रक्रिया है जिसके द्वारा संसार में गति, प्रगति, जीवन, वृद्धि और विकास पाया जाता है।

हेगल के अनुसार प्रत्येक वस्तु या प्रत्यय में उसका विरोधी तत्व विद्यमान रहता है जिसके कारण न तो कोई वस्तु और न कोई प्रत्यय सदा एक रूप में नित्य या स्थिर रह सकता है। वस्तु एवं प्रत्यय में निहित उसका विरोधी तत्व सभी घटनाओं, परिवर्तनों एवं क्रान्तियों का संचालन करता है। उदाहरण के लिए सत् में ही उसका विरोधी तत्व असत् गर्भित होता है जो सत् को स्थैतिक न रखकर संभवन (Becoming) में परिणत करता है। यहाँ 'संभवन' सत् और असत् के योग से संभव हुआ है तथा असत् ही वह अवच्छेदक गुण है जो सत् की जाति को उसकी उपजाति 'संभवन' में परिणत कर देता है। हेगल के अनुसार जाति में ही अवच्छेदक गुण गर्भित रूप में निहित होता है और यदि उसे चिन्तन द्वारा व्यक्त कर दिया जाय, तो जाति में अवच्छेदक गुण के व्यक्त होने पर उसमें गर्भित उपजाति निर्गमित हो जाती है।

यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि स्पिनोज़ा ने कहा कि प्रत्येक विशेषीकरण निषेधीकरण है।[2] उदाहरण के लिए जब हम किसी वस्तु को 'लाल' कहते हैं तो उसमें हम एक गुण की तो स्थापना करते हैं पर साथ ही उसे हरे, पीले, नीले, सफेद इत्यादि अनेक गुणों से वंचित कर देते हैं। हेगल स्पिनोजा की उपर्युक्त बात को स्वीकार कर लेते हैं किन्तु साथ ही उसके प्रतिलोम नियम को भी स्वीकार कर लेते हैं : प्रत्येक निषेधीकरण विशेषीकरण है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक निषेध का कोई न कोई भावात्मक आधार अवश्य होता है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि 'यह पुस्तक लाल नहीं है' तो इसका तात्पर्य यही होता है कि चूँकि हम

---

1. Mure, G. R. G., A Study of Hegel's Logic, P. 341.
2. Every determination is negation.
3. Every negation is determination.

जानते हैं कि पुस्तक काली है, अतः वह लाल नहीं है। अतः, प्रत्येक निषेधीकरण विशेषीकरण होता है। हेगल के अनुसार निषेधीकरण में असीम शक्ति पायी जाती है जिसके कारण सम्पूर्ण विश्व में उन्मज्जन, विकास और नवोत्क्रान्ति पायी जाती है। यदि सत् में असत् छिपा न होता तो सत् से किसी प्रकार का विकास सम्भव नहीं होता।

विकास का वास्तविक अर्थ अमूर्त से मूर्त की ओर संक्रमण है। सत् और असत् की अपेक्षा संभवन अधिक मूर्त है। निम्न सत्ताओं की परम तत्व की ओर प्रगति गर्भित स्थिति से व्यक्त स्थिति की ओर पाई जाती है। इस प्रगति को हम निम्न तालिका से भली-भाँति प्रदर्शित कर सकते हैं :—
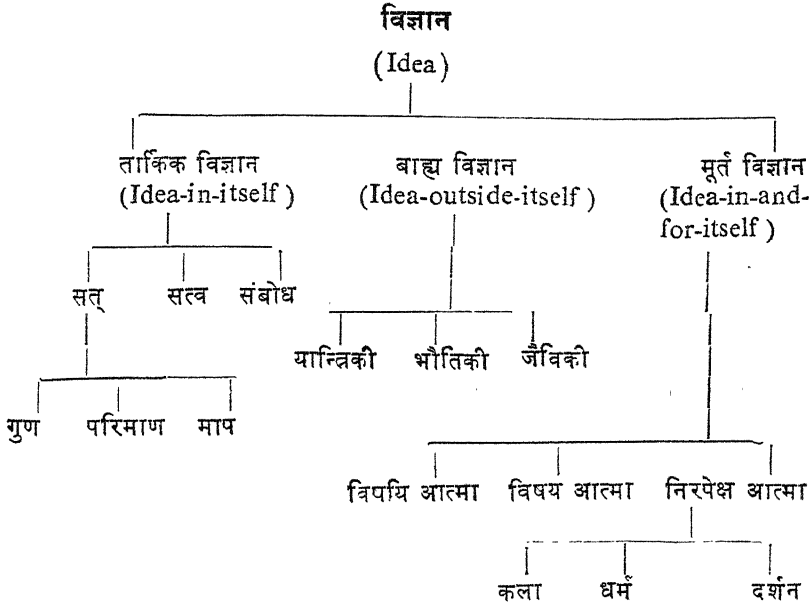
यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि चूँकि प्रथम विज्ञान की व्याख्या अन्तिम (निरपेक्ष) विज्ञान के आधार पर होती है, अतः अन्तिम विज्ञान सभी पूर्व विज्ञानों को स्पष्टतया अपने भीतर समाहित करता है। इस प्रकार प्रारम्भ में अन्त छिपा रहता है और अन्त में प्रारम्भ की पराकाष्ठा होती है। अब यदि मान लिया जाय कि मानव-इतिहास में परम तत्व अपने को अभिव्यक्त करता है, इतिहास के चिन्तन से परम तत्व के स्वरूप पर प्रकाश अवश्य पड़ेगा। किन्तु इतिहास परम तत्व की अभिव्यक्ति के क्रम में केवल एक पक्ष है। भविष्य के घटना क्रम में भी परम तत्व की अभिव्यक्ति पाई जायेगी। भूत भविष्य का साध्य रूप है तथा भविष्य भूत का सिद्ध रूप है। अतः, भविष्य, भूत की अपेक्षा, परम तत्व को अधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करेगा। इसीलिए कहा जाता है कि भविष्य भूत की अपेक्षा अधिक

यथार्थ होता है ।[1] यही कारण है कि हेगल **ने** मानव-इतिहास की मूल्यपरक व्याख्या प्रस्तुत की है ।

संक्षेप में : हेगल के द्वन्द्व-न्याय की निम्न तीन विशेषताएँ हैं : **प्रथम** यह सामान्यतः त्रयात्मक (Triadic) है; **द्वितीय** यह सत्तात्मक (Ontological) **और** संबोधात्मक (Notional) दोनों है । यह वस्तुओं एवं उनके स्वरूपों दोनों पर लागू होता है; **तृतीय**, द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) जो बिलकुल अमूर्त है से प्रारम्भ होकर माध्यमिक सोपानों से गुजरती हुई निरपेक्ष आत्मा (Absolute Spirit or Geist) जो बिलकुल मूर्त है, तक पहुँचती है । निरपेक्ष आत्मा सभी द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाओं का चरम लक्ष्य है । इसका स्वरूप **आत्म-चेतन बौद्धिकता** (Self-Conscious Rationality) का है जो सब सत्ताओं की पराकाष्ठा है ।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस द्वन्द्वात्मक संभवन के पीछे प्रवर्तक शक्ति कौन है ? हेगल के अनुसार **यह शक्ति निरपेक्ष चेतन तत्व** (Absolute) है **जो पक्ष, प्रतिपक्ष और संपक्ष तीनों का अधिष्ठान है ।** इस तत्व के अभाव में प्रगति या विकास बिलकुल असम्भव है । निरपेक्ष तत्व एक तन्त्रबद्ध साकल्य (Systematic Whole) है जिसका प्रत्येक विकल केवल साकल्य के द्वारा ही निर्धारित नहीं होता बल्कि वह उसके भीतर के अन्य विकलों के द्वारा भी निर्धारित होता है । प्रत्येक ससीम वस्तु असीम और अन्य ससीम वस्तुओं द्वारा निर्धारित होती है जिनसे उसका विरोध है । अतः **कोई ससीम वस्तु क्या है इसका निर्धारण उन अन्य ससीम वस्तुओं द्वारा ही होता है जो वह प्रथम ससीम वस्तु नहीं है ।** इसी संदर्भ में हेगल ने कहा था कि प्रत्येक वस्तु 'सत्' और 'असत्' इन दो विरोधों का समन्वय है । संसार की किसी वस्तु को परिभाषित करने में भी हम इस बात का विचार करते हैं कि उस वस्तु का अन्य वस्तुओं और पूर्ण से किस प्रकार का संबंध है । **निरपेक्ष पूर्ण चेतन तत्व** (Absolute) **से असम्बद्ध किसी गति, अगति या विकास का कोई अर्थ नहीं है ।**

हेगल का तर्कशास्त्र
(Hegel's Logic)

हेगल के तर्कशास्त्र का वर्णन उसकी दो पुस्तकों में प्राप्त होता है : प्रथम **तर्क-विज्ञान** (Science of Logic) में और द्वितीय **लघु तर्कशास्त्र** (Lesser Logic) जो हेगल के विश्वकोश (Encyclopaedia) का प्रथम भाग है । उसका लघु तर्कशास्त्र इतना सघन है कि तर्क-विज्ञान की सहायता के बिना उसके अर्थ को नहीं समझा जा सकता ।

हेगल के तर्कशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य विशुद्ध विज्ञान (Pure Idea) **का अध्ययन है ।** यह विशुद्ध विकल्पों या विचार-अवधारणाओं की एक ऐसी श्रेणी प्रस्तुत करता है जिसके माध्यम से तत्व का चित्रण किया जा सके । यह श्रेणी निम्नतम **प्रत्यय विशुद्ध सत्** (Pure Being) से प्रारम्भ होकर मध्यमवर्ती विकल्पों से गुजरते हुए उच्चतम प्रत्यय **निरपेक्ष विज्ञान** (Absolute Idea) पर समाप्त होती है । हेगल

1. Prophecy is truer than history.

ने यहाँ प्रत्ययों की जिस श्रेणी का वर्णन किया है वह द्वन्द्वात्मक: पक्ष-प्रतिपक्ष-संपक्ष की गति से अमूर्त प्रत्यय से मूर्त प्रत्यय की ओर अग्रसर होती है। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि हम निरपेक्ष विज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेते। तर्क की यह प्रक्रिया अमूर्त प्रत्ययों के बीच ही घटित होती है। यदि कभी हेगल इस प्रक्रिया को मूर्त प्रक्रिया का नाम देता है, तो इसका कारण केवल यही हो सकता है कि अमूर्त प्रत्यय क्रमश: द्वन्द्वात्मक गति द्वारा मूर्त प्रत्यय के रूप में परिणत हो जाता है।

हेगल के तर्कशास्त्र को तीन भागों में विभाजित किया जाता है : प्रथम सत् का सिद्धान्त (The Doctrine of Being), द्वितीय सत्व का सिद्धान्त (The Doctrine of Essence) और तृतीय संबोध का सिद्धान्त (The Doctrine of Notion)। इन विभागों का हम यहाँ संक्षेप में वर्णन करेंगे।

(1) सत् का सिद्धान्त
(The Doctrine of Being)

हेगल का तर्कशास्त्र विशुद्ध सत् के प्रत्यय से प्रारम्भ होता है जिसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि वह है और जिसके विषय में कुछ भी विधान नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में यह केवल उस **सत्** (That) की अनुभूति है जिसमें किम् (What) का आत्यन्तिक अभाव पाया जाता है। हेगल अपने तर्कशास्त्र को विशुद्ध सत् के प्रत्यय से इसलिए प्रारम्भ करता है क्योंकि यह एक सरलतम एवं सर्वाधिक अमूर्त (Abstract) प्रत्यय है जिसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या हम अपने मस्तिष्क में **विशुद्ध सत्** (Pure Being) के प्रत्यय का निर्माण कर सकते हैं जिसमें सभी प्रकार के सविशेष गुणों का अभाव पाया जाता है ? हेगल के अनुसार **विशुद्ध सत्** का प्रत्यय अनिवार्यत: और तर्कत: **विशुद्ध असत्** (Pure Nothing) के प्रत्यय को उत्पन्न करता है क्योंकि दोनों प्रत्यय एक दूसरे से अवियोजनीय एवं अभेदनीय हैं। विशुद्ध सत् एवं विशुद्ध असत् इन दोनों प्रत्ययों की अमूर्तता एवं काल्पनिकता के कारण हमारी बुद्धि को इनसे संतुष्टि की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: हमारी बुद्धि इन दोनों प्रत्ययों से पृथक् एक ऐसे तृतीय प्रत्यय का अनुसंधान करती है जो अमूर्त न होकर मूर्त होता है। हेगल के अनुसार वह प्रत्यय **संभवन** (Becoming) का प्रत्यय है। जब सत् से असत् और असत् से सत् की ओर संक्रमण होता है तो द्वन्द्वात्मक रूप में संभवन का प्रत्यय उत्पन्न होता है। किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि हेगल जिस संभवन के प्रत्यय के माध्यम से तत्व की व्याख्या करना चाहते हैं वह इतना अस्थिर और रिक्त है कि उससे तत्व की समुचित और यथेष्ट व्याख्या नहीं की जा सकती। इसकी क्षति-पूर्ति के लिए संभवन शब्द को एक स्थिर और विकसित अर्थ देने की आवश्यकता है और वह अर्थ है **'सगुण होना'** (Being determinate or Dasein)। संसार में 'निर्गुण' नाम की कोई वस्तु नहीं है। 'निर्गुण' का वास्तविक अर्थ गुणों का आत्यन्तिक अभाव' नहीं है वरन् गुणों का किसी वस्तु में सूक्ष्म रूप में अवस्थित होना है।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि कोई वस्तु सगुण है, उसकी सगुणता उसका स्वतन्त्र धर्म है अथवा उसकी सगुणता अन्य वस्तुओं की सगुणता पर आश्रित है ? द्वन्द्व-न्याय का निहितार्थ है कि संसार की प्रत्येक वस्तु का गुण अन्य वस्तुओं के गुणों पर आश्रित होता है तथा अन्य वस्तुओं का गुण उस एक वस्तु के गुण पर आश्रित होता है । इसका दूसरा निहितार्थ यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु के भीतर संसार की अन्य वस्तुओं के गुण सूक्ष्म रूप में अवश्य विद्यमान होते हैं, अन्यथा वह वस्तु सगुण होती ही नहीं । किसी सगुण वस्तु के भीतर अन्य वस्तुओं के गुणों का सूक्ष्म रूप में निहित होना उस वस्तु के गुणों क **परिवर्तन** (Alteration) का कारण होता है । किसी वस्तु के गुणों में परिवर्तन इस कारण होता है कि उस वस्तु के भीतर सभी अन्य गुणों की सम्भावनाएँ विद्यमान होती हैं । चूँकि प्रत्येक गुण अपनी स्थिति के लिए अन्य गुणों पर आश्रित होता है, अतः हेगल ने इस स्थिति को दूषित अनन्त (Bad Infinite) की संज्ञा दी है ।

हेगल के अनुसार जाति में ही अवच्छेदक गुण गर्भित रूप में निहित होता है और यदि उसे चिन्तन द्वारा व्यक्त कर दिया जाय तो जाति में अवच्छेदक गुण के व्यक्त होने पर उसमें गर्भित उपजाति निगमित हो जायगी । इस प्रकार हेगल ने सत् से असत् के अवच्छेदक गुण को निःसृत किया और पुनः सत् में असत् को जोड़कर संभवन (Becoming) नामक उपजाति की स्थापना की । इस संभवन में पुनः अन्य अवच्छेदक गुणों को निःसृत कर अन्य उपजातियों को निगमित किया जा सकता है । यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक कि संसार की सभी उप-जातियाँ विशुद्ध सत् से निगमित नहीं कर ली जातीं ।

(ii) सत्व का सिद्धान्त
(The Doctrine of Essence)

सत्व-सिद्धान्त में हेगल ने उन विकल्पों या कोटियों (Categories) का विवेचन किया है जो किसी वस्तु के बाह्य एवं आन्तरिक स्वभाव, उसके गुण एवं परिमाण को अभिव्यक्त करती हैं । इन कोटियों को प्रस्तुत किए बिना विचार बाह्य अनुभव को अभिगृहीत नहीं कर सकता । ये कोटियाँ सदा युग्म-रूप में पायी जाती है जैसे अभेद-भेद । जिस प्रकार सत् के सिद्धान्त में विशुद्ध सत् प्रथम प्रत्यय है, उसी प्रकार सत्व के सिद्धान्त में **अभेद** (Identity) प्रथम प्रत्यय है । यह 'अभेद' आकारिक तर्क-शास्त्र का प्रत्यय नहीं है वरन् तत्व-विज्ञान का प्रत्यय है जो विभिन्न **भेदों** (Differences) के माध्यम से ही अभिव्यक्त होता है । इस प्रकार 'अभेद' का प्रत्यय तर्कतः 'भेद' के प्रत्यय को उत्पन्न करता है । हेगल के अनुसार अभेद और भेद के प्रत्यय परस्पर सापेक्षिक है । एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती । 'भेद' के परिप्रेक्ष्य में ही 'अभेद' की कल्पना की जा सकती है । इसी प्रकार 'अभेद' के परिप्रेक्ष्य में ही 'भेद' की कल्पना की जा सकती है ।

जिस प्रकार अभेद का प्रत्यय भेद के प्रत्यय को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार भेद का प्रत्यय **भिन्नता या विविधता** (Diversity) के प्रत्यय को उत्पन्न करता है । इसमें सर्व प्रथम वस्तुओं को एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप में लिया जाता है जो बाद में परिवर्तित होकर **विरोध** (Opposition) का रूप धारण कर लेता है । **व्याघात**

(Contradiction) विरोध की चरम परिणति है। इसमें हम संसार की विभिन्न वस्तुओं को एक ही सत्व के व्याघाती रूपों में ग्रहण करते हैं। हम जानते हैं कि हेगल के दर्शन में आत्यन्तिक विरोध या व्याघात के लिए कोई स्थान नहीं है। उनका व्याघात केवल **विपरीत सम्बन्ध** (Contrariety) को ही व्यक्त करता है जिसमें सम्बन्धियों के बीच कोई सामान्य तत्व अवश्य विद्यमान होता है। अत: विरोध-प्रत्यय **समग्रता** (Totality) के प्रत्यय को जन्म देता है जिसमें प्रत्येक वस्तु विरोधों के तादात्म्य (Identity of Opposites) रूप में हमारे समक्ष प्रकट होती है। एक ही विद्युत की धनात्मकता एवं ऋणात्मकता इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। यहाँ दोनों विरोधी पक्ष एक दूसरे के समतुल्य हैं। विरोधों के तादात्म्य का प्रत्यय तर्कत: **आधार और आधेय** (Ground and Grounded) के प्रत्ययों को जन्म देता है जिसमें प्रत्येक वस्तु की सत्ता अन्य वस्तुओं की सत्ता पर आश्रित होती है। इसी सन्दर्भ में **अस्तित्व** (Existence) का एक नया प्रत्यय जन्म लेता है। अस्तित्ववान वस्तुएँ अन्यो-न्याश्रित सम्बन्ध अथवा आधार-आधेय-सम्बन्धों का एक संसार बनाती है जिसमें प्रत्येक वस्तु का संसार की अन्य वस्तुओं के साथ आन्तरिक सम्बन्ध होता है। सत्व के अभेद से आधार तक के विकास के परिप्रेक्ष्य में ही हेगल ने तर्क-शास्त्र के तादात्म्य-नियम अ-व्याघात-नियम, मध्यम-परिहार-नियम, पर्याप्त-कारणता नियम एवं लाइब्नित्ज के अगोचर के तादात्म्य-नियम की व्याख्या की है। वस्तुओं के बीच जो आधार-आधेय-सम्बन्ध है वह उनके आभासिक अस्तित्व (Phenomenal Being) को प्रदर्शित करता है।

(iii) संबोध का सिद्धान्त
(The Doctrine of Notion)

जब संसार की वस्तुओं की साध्यता को सिद्धता के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है तो हम सत्व के प्रत्यय से संबोध के प्रत्यय की ओर अग्रसर होते हैं। संबोध की अवस्था में किसी वस्तु के बाह्य एवं आन्तरिक गुणों में पूर्ण समन्वय पाया जाता है। इस उच्चतम स्तर में विचार के तीनों पृथक् क्षणों **सामान्यता** (Universality), **विशिष्टता** (Specificity) एवं **वैयक्तिकता** (Individuality) के बीच पूर्ण एकता पायी जाती है। हम जानते हैं कि वस्तुत: इन तीनों पक्षों को एक दूसरे से कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए 'मनुष्य' के संबोध के लिए हमें उसके सामान्य एवं विशिष्ट गुणों के ज्ञान के साथ विभिन्न परिस्थितियों में उनके प्रयोग का भी ज्ञान होना चाहिए। बुद्धि इन तीनों पक्षों को पृथक् कर वस्तु की एकता को नष्ट कर देती है। प्रज्ञा के द्वारा हमें पूर्ण 'मूर्त सामान्य' का ज्ञान होता है जिसमें सामान्यता, विशिष्टता एवं वैयक्तिकता तीनों पक्षों की एकता बनी रहती है।

संबोध के तीनों पक्षों की सुभिन्नता का दर्शन हमें **निर्णय** (Judgment) में होता है एवं उनकी एकता का दर्शन हमें **हेत्वानुमान** (Syllogism) में होता है। हेगल के अनुसार निर्णय एवं हेत्वानुमान केवल आत्मनिष्ठ आकार ही नहीं है वरन् वे वस्तु-जगत में भी चरितार्थ होते हैं। निर्णय एवं हेत्वानुमान के बाद द्वन्द्व-प्रक्रिया हमें **वस्तु** (Object) की ओर ले जाती है जिसमें सामान्यता, विशिष्टता एवं वैय-क्तिकता के बीच पूर्ण तादात्म्य पाया जाता है। यदि संबोध सामान्य है जिसका

विशिष्टीकरण और वैयक्तीकरण होता है तो वस्तु वह व्यक्ति है जिसका विशिष्टीकरण और सामान्यीकरण होता है। वास्तविकता (Objectivity) को पुनः अव्यवहितत्व (Immediacy) के रूप में लिया जाता है जिसमें वस्तु के तीनों पक्षों का केन्द्रीकरण होता है। वस्तुएँ पुनः आरोही रूप में तीन रूपों में प्रकट होती हैं जो क्रमशः यान्त्रिकवाद (Mechanism), रासायनिकवाद (Chemism) एवं प्रयोजनवाद (Teleology) है। यान्त्रिकवाद में वस्तु को स्वतन्त्र इकाइयों के एक संघात रूप में लिया जाता है जिनका गुण आश्रित वस्तुओं के गुणों पर निर्भर करता है। रासायनिकवाद में अनेकता के स्थान पर वस्तु की एकता पर विशेष बल दिया जाता है। पुनः एकता और अनेकता दोनों का समन्वय उद्देश्य या प्रयोजन में पाया जाता है।

प्रयोजनमूलक चिन्तन प्रथम परिमित (Finite) होता है जिसमें व्यक्ति का लक्ष्य संसार की कोई परिमित वस्तु होती है। उस परिमित वस्तु को प्राप्त करने के बाद व्यक्ति अन्य परिमित वस्तुओं को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस अनवस्था-दोष की निवृत्ति तभी हो सकती है जब हम अपने लक्ष्य को पूर्ण अपरिमित (Infinite) कर लें। इसमें साधक, साधन और साध्य तीनों मिलकर एक हो जाते हैं। यहाँ सम्पूर्ण विश्व परम शुभ (Highest Good) को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। यही **निरपेक्ष विज्ञान** (Absolute Idea) है।

प्रकृति-दर्शन
(Philosophy of Nature)

काण्ट ने इस बात को स्वीकार किया था कि यद्यपि स्व-लक्षण वस्तुएँ **अज्ञेय** (Unknowable) हैं पर वे **अचिन्त्य** (Unthinkable) नहीं हैं। वे वस्तुतः चिन्त्य हैं। अब हमारे समक्ष जो प्रश्न उपस्थित होता है वह यह है कि हम स्व-लक्षण वस्तुओं का किस प्रकार चिन्तन करते हैं या कर सकते हैं?

हेगल ने काण्ट का खण्डन करते हुए कहा कि स्व-लक्षण वस्तुएँ केवल **चिन्त्य** ही नहीं हैं वे ज्ञेय भी हैं। स्व-लक्षण वस्तुओं को हम जितनी आसानी से जान सकते हैं उतनी अन्य वस्तुओं को नहीं। स्व-लक्षण वस्तुएँ विशुद्ध सत् (Pure Being) या सन्मात्र हैं जिनमें किसी प्रकार के विशिष्ट गुण (Determinate Attributes) नहीं पाए जाते। स्व-लक्षण वस्तुएँ गुणात्मक या परिमाणात्मक, दैशिक या कालिक, भौतिक या आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से निरवधार्य हैं। इन्हें हम अज्ञेय इसलिए नहीं कहते कि इन्हें हम जान नहीं सकते; इन्हें हम अज्ञेय इसलिए कहते हैं कि इनके भीतर जानने की कोई चीज ही नहीं है। इनके भीतर ऐसा कोई गुण ही नहीं है जिनके माध्यम से हम इन्हें अन्य वस्तुओं से पृथक् कर सकें। गुण-विहीनता के कारण चूँकि इनका वर्णन नहीं किया जा सकता इस कारण वे अज्ञेय हैं। यहाँ अज्ञेय का अर्थ **अवर्णनीय** होने से है।

सामान्य सत् वस्तुतः या विशेषतः कुछ भी नहीं है, अतः विशुद्ध सत् का प्रत्यय असत् (Nothing) के प्रत्यय के रूप में परिणत हो जाता है। एक प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय का जो तार्किक संक्रमण है वह एक विचार से दूसरे विचार का कोई मनोवैज्ञानिक या आत्मनिष्ठ संक्रमण नहीं है; वह एक **वास्तविक** या **वस्तुनिष्ठ** संक्रमण है जिसके द्वारा एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय तर्कतः से विकसित होता है। इसी को हेगल

की भाषा में **संभवन** (Becoming) या **विकास** (Development) या **प्रक्रिया** (Process) कहते हैं। यह न तो कोई दैशिक (Spatial) और न कोई कालिक (Temporal) प्रक्रिया है; यह विशुद्ध तार्किक या वैचारिक प्रक्रिया है जो प्रत्येक प्रत्यय के भीतर अनुस्यूत होती है। एक प्रत्यय से दूसरा प्रत्यय उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार साध्यता से सिद्धता या जीवाणु से पूर्ण जीव उत्पन्न होता है। जिस प्रकार एक सजातीय साध्यता एक विजातीय सिद्धता को उत्पन्न करने में समर्थ होती है उसी प्रकार एक सजातीय या निर्विशेष प्रत्यय सविशेष प्रत्ययों को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है।

प्लेटो और हेगल

जिन प्रत्ययों के निकाय की कल्पना हेगल ने की है वे प्लेटो के विज्ञानों की तरह अभौतिक, बुद्धिगम्य, तन्त्रबद्ध व सभी भौतिक व मानसिक सत्ताओं के मूलाधार हैं। दोनों के विज्ञानों में अन्तर केवल इतना है कि जहाँ प्लेटो के विज्ञान स्थैतिक हैं जिनमें किसी प्रकार का परिवर्तन या संभवन नहीं होता वहाँ हेगल के विज्ञान गत्यात्मक् हैं जिनमें एक विज्ञान तर्कतः दूसरे विज्ञानों को उत्पन्न करता है। हेगल के दर्शन में तार्किक अग्रता कालिक अग्रता का आधार है।[1] इसी कारण एरिस्टॉटल की तरह हेगल को सृष्टि के प्रारम्भ में किसी ईश्वर की कल्पना नहीं करनी पड़ी।

इस प्रकार जिन विज्ञानों की कल्पना हेगल ने की है वे एक ओर प्रकृति के तथा दूसरी ओर पुरुष दोनों के मूलाधार हैं। उसके दर्शन में जीवात्मा जड़-जगत का कारण न होकर स्वयं जड़-जगत जीवात्मा का कारण है। उसका दर्शन आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद न होकर **वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद** (Objective Idealism) है क्योंकि उसके दर्शन में विज्ञान किसी व्यक्तिगत आत्मा पर आश्रित न होकर उससे स्वतन्त्र ही होता है।

हेगल का प्रकृति-दर्शन

हेगल के प्रकृति-दर्शन के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रान्त धारणाएँ हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। क्रोचे (Croce) का कहना था कि हेगल ने अपने प्रकृति-दर्शन द्वारा एक बार पुनः पुनर्जागरण काल के आत्मा और प्रकृति के द्वैत को जीवन प्रदान किया। उनके अनुसार यदि चैतन्य ही एक मात्र तत्व है तो प्रकृति-दर्शन की आवश्यकता ही कहाँ शेष रह जाती है ? पर हेगल के लिए इस प्रकार की आलोचना करना अपने अज्ञान का ही प्रदर्शन करना है। हेगल द्वारा प्रकृति के प्रतिपादन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रकृति चैतन्य से बिलकुल स्वतन्त्र है। उनके अनुसार प्रकृति विज्ञान का ही बाह्य रूप है। जिसे हम प्रकृति कहते हैं वह वास्तव में विशुद्ध जड़ नहीं है; वह चैतन्य का ही निम्नतम रूप है और उसके भीतर आत्म-चैतन्य प्राप्त करने की क्षमता विद्यमान है। **प्रकृति से आत्मा के विकसित होने का तात्पर्य यह है कि आत्मा ने प्रकृति को वाहय विषय के रूप में जान लिया है।** चूँकि प्रकृति स्वयं आत्म-रूप है, अतः इस प्रकृति-ज्ञान को आत्म-चैतन्य (Self-Consciousness) की संज्ञा दी जा सकती है। इससे हम यह भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विकास का प्रत्येक क्रम आत्म-चैतन्य या आत्म-साक्षात्कार का ही एक सोपान होता है। प्रत्येक उच्चतर सोपान

1. Logical priority is the ground of temporal priority.

निम्नतर सोपान का निषेध नहीं करता बल्कि उसे अपने भीतर समाहित करने का प्रयत्न करता है। इस विकास की प्रक्रिया से एक दूसरा भी निष्कर्ष निकलता है और वह यह है कि चैतन्य अपने विकास की उन सभी पूर्ववर्ती प्रक्रियाओं का ज्ञान रखता है जिनसे होकर उसकी उत्पत्ति हुई है। **चैतन्य सभी पूर्ववर्ती विकास-क्रमों का श्रेष्ठतम समाहार है**। अब हम हेगल के प्रकृति-दर्शन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

(1) हेगल के अनुसार प्रकृति वास्तविक है; वह कोई भ्रम नहीं है। आत्मा से पृथक् उसकी एक स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृति आत्मा के ऊपर आश्रित नहीं है; वरन् स्वयं आत्मा ही प्रकृति से उत्पन्न हुई है। अतः, प्रकृति वास्तविक है।

(2) प्रकृति की सभी वस्तुएँ **संभवन** (Becoming) की प्रक्रिया में निमग्न हैं। संभवन का यहाँ तात्पर्य यह है कि प्रकृति की सभी वस्तुएँ अपने **आदर्श रूपों** (Ideal Forms) को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हैं, यद्यपि यह सही है कि वे उन्हें पूर्ण रूप में कभी भी प्राप्त नहीं कर सकतीं। इस बात में हेगल प्लेटो व एरिस्टॉटल से पूर्ण सहमत हैं।

(3) चूँकि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु अपने आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के लिए सदा सचेष्ट है, इससे स्पष्ट है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु के भीतर एक **प्रयोजन या उद्देश्य** (Nisus) पाया जाता है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में एक निश्चित प्रयोजन होते हुए भी प्रकृति पूर्ण रूप में अपने प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकती क्योंकि उसकी प्रत्येक वस्तु में सदा किसी न किसी रूप में **निर्विशेषता** (Indeterminacy) **या साध्यता** (Potentiality) अवश्य विद्यमान रहती है।

(4) अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रकृति के भीतर जो एक प्रकार की निर्विशेषता या साध्यता है, उसका कारण क्या है ? ग्रीक दार्शनिकों के अनुसार प्रकृति की निर्विशेषता जड़तत्व की **हठधर्मिता** (Recalcitrancy) के कारण है पर हेगल के अनुसार प्रकृति की निर्विशेषता आदर्श स्वरूपों के **परत्व** (Transcendence) के कारण है। वस्तुओं के स्वरूप आदर्श रूप हैं; वे पूर्णरूप में यथार्थ में चरितार्थ नहीं किए जा सकते। यही प्रकृति की निर्विशेषता या साध्यता का कारण है।

(5) अब यदि पूछा जाय कि प्रकृति का **अवच्छेदक गुण** क्या है ? यह किस प्रकार स्वरूपों व आत्मा से भिन्न है ? जहाँ तक भिन्नता का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि प्रकृति **साध्यता** है पर स्वरूप **सिद्धता** है। उसके अवच्छेदक गुण के सम्बन्ध में हेगल कहते हैं कि प्रकृति का अवच्छेदक गुण है उसकी **बाह्यता** (Externality)[1] यहाँ बाह्यता का क्या तात्पर्य है ? बाह्यता का यहाँ तात्पर्य **आत्मा से बाह्यता** नहीं हो सकती क्योंकि एक वस्तु दूसरे से बाह्य तभी हो सकती है जब कि दोनों देश-काल में स्थित हों व दोनों भौतिक वस्तुएँ हों। पर आत्मा कोई भौतिक वस्तु नहीं है। इसी प्रकार बाह्यता का यहाँ तात्पर्य **शरीर से बाह्यता** नहीं है क्योंकि हमारा शरीर प्रकृति का ही तो भाग है। शरीर जब प्रकृति का ही एक भाग है तो प्रकृति शरीर से बाहर कैसे हो सकती है ? अतः, बाह्यता का यहाँ वास्तविक तात्पर्य यह है कि **प्रकृति**

1. हेगल, "Nature is the idea under the form of externality"

की प्रत्येक वस्तु एक दूसरे के बाह्य है। यह बाह्यता देशगत व कालगत दोनों है। देशगत बाह्यता वह है जिसमें एक वस्तु दूसरी वस्तु से बाहर है। कालगत बाह्यता वह है जिसमें एक वस्तु स्वयं अपने से बाह्य है। इस प्रकार प्रकृति का विस्तार देश और काल दोनों सीमाओं के अन्तर्गत है।

(6) हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रकृति एवं आत्मा के बीच साध्यता और सिद्धता का सम्बन्ध है। प्रकृति आत्मा को उसी प्रकार आपादित करती है जिस प्रकार कली फूल को आपादित करती है। जिस प्रकार फूल कली का ही विकसित रूप है, उसी प्रकार आत्मा प्रकृति का ही विकसित रूप है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रकृति और आत्मा के बीच द्रव्य और स्वरूप का सम्बन्ध है।

(7) किन्तु प्रकृति से जो आत्मा का विकास होता है वह कालिक (Temporal) या दैशिक (Spatial) न होकर विशुद्ध **तार्किक** (Logical) या **मानसिक** (Ideal) है। आत्मा प्रकृति से अतीत एक **उच्चतर कोटि** की सत्ता है। अतः इनके बीच क्षैतिज (Horizontal) सम्बन्ध न होकर **लम्बवत्** (Vertical) सम्बन्ध पाया जाता है।

(8) विभिन्न सत्ताओं के बीच लम्बवत् सम्बन्ध होने के कारण ही हेगल ने **कई स्तर** की सत्ताओं में विश्वास किया है। यह स्तरीकरण आत्मा के क्षेत्र में तो विद्यमान है ही, प्रकृति के क्षेत्र में भी पाया जाता है। आत्मा के क्षेत्र में हम **ऐन्द्रिक आत्मा** (Sensuous Mind)एवं **बौद्धिक आत्मा** (Intellectual Mind) में भेद करते हैं उसी प्रकार प्रकृति के क्षेत्र में हम **निर्जीव प्रकृति** (Inorganic Nature) एवं **सजीव प्रकृति** (Living Nature) में भेद करते हैं। पर हेगल के अनुसार प्रकृति में जो निम्नतर सत्ता से उच्चतर सत्ता में विकास होता है वह कालिक (Temporal) न होकर विशुद्ध **तार्किक** (Logical) ही होता है। इसका कारण यह है कि विशुद्ध निर्जीव या यान्त्रिक-भौतिक-जगत केवल अपने परमाणुओं में पुन-वितरण करके जीवन (Life) को उत्पन्न नहीं कर सकता।

(9) जिस प्रकार विज्ञान-जगत में द्वन्द्वात्मक समन्वय पाया जाता है, उसी प्रकार प्रकृति में भी द्वन्द्वात्मक समन्वय पाया जाता है। इसके तीन रूप हैं : जड़-रूप, रासायनिक रूप और प्राण रूप जो क्रमशः पक्ष, प्रतिपक्ष और संपक्ष है। **जड़** में यान्त्रिकता है; **रासायनिक** रूप में शक्तियों का आविर्भाव होता है। जड़-रूप और रासायनिक रूप का समन्वय प्राण-रूप में होता है। **प्राण** से क्रमशः भावनाओं, संवेदनाओं और आत्म-चैतन्य का विकास होता है। आत्म-चैतन्य में आत्मा अपने को विषयी और विषय के समन्वयात्मक रूप में समझने लगती है। आत्म-चैतन्य विकास की पराकाष्ठा है।

(10) हेगल के प्रकृति-दर्शन में द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया **यान्त्रिकी** (Mechanics) से प्रारम्भ होकर **भौतिकी** (Physics) से होती हुई **जैविकी** (Organics) तक पहुँचती है। **यान्त्रिकी** के भीतर देश, काल, जड़-तत्व, गति, गुरुत्वाकर्षण, ग्रहीय गति विज्ञान इत्यादि विषय आते हैं। **भौतिकी** के भीतर मूलतत्व, संसक्ति (Cohesion), ध्वनि, ताप, विद्युत, चुम्बकत्व, रासायनिक प्रतिक्रिया इत्यादि विषय समाहित होते हैं। इसी प्रकार **जैविकी के भीतर भूगर्भ**, वनस्पतियों एवं विभिन्न जीवों का अध्ययन किया जाता है।

(11) हेगल के प्रकृति-दर्शन को यदि एक शब्द द्वारा अभिहित किया जाय तो उसे "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद"[1] (Dialectical Materialism) की संज्ञा दी जा सकती है। हेगल का भौतिकवाद एक विशुद्ध भौतिकवाद है क्योंकि हेगल के अनुसार प्रकृति किसी पूर्ववर्ती आत्मा की उपज नहीं है वरन् आत्मा ही पूर्ववर्ती प्रकृति की उपज है। उद्देश्य या प्रयोजन की दृष्टि से आत्मा पहले आ सकती है किन्तु कालदृष्टि से आत्मा विकास की अन्तिम अवस्था है। अतः, हेगल का "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" पर्याप्त मौलिक भौतिकवाद है।

आत्म-दर्शन

(Philosophy of Mind)

हेगल के दर्शन में **"प्रकृति के सार-तत्व के रूप में आत्मा की उत्पत्ति हुई है"**[2] आत्मा और प्रकृति के बीच भेद तो है पर उन्हें एक ही स्तर की दो समकक्ष सत्ताएँ मानना ठीक नहीं है। हाँ ! हमारी बुद्धि प्रकृति और आत्मा को दो समस्तरीय सत्ताएँ स्वीकार कर उनके बीच द्वैत स्थापित कर देती है जिसके परिणामस्वरूप दर्शन में नाना प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पर ज्यों ही हम प्रकृति और आत्मा को विकास-क्रम की निम्नतर और उच्चतर सत्ताओं के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, उनके बीच सम्बन्ध की समस्या स्वतः हल हो जाती है। हेगल के अनुसार प्रकृति और आत्मा के बीच का सम्बन्ध विशेष-विशेष का सम्बन्ध नहीं है, यह विशेष और सामान्य का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हेगल के दर्शन में प्रकृति और आत्मा के बीच वही सम्बन्ध है जो एरिस्टॉटल के दर्शन में द्रव्य (Matter) और स्वरूप (Form) के बीच सम्बन्ध होता है

हेगल ने आत्मा के विषय में एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया है। उसके अनुसार, प्रकृति आत्मा का एक अविकसित (Petrified) रूप है तथा **आत्मा प्रकृति का एक विकसित रूप है**[3]। प्रकृति में जो चैतन्य सूक्ष्म रूप में विद्यमान था, आत्मा में वही विकसित होकर सिद्धता को प्राप्त हो गया।

हेगल ने अपने आत्म-दर्शन को तीन भागों में विभाजित किया है : विषयि-आत्मा का दर्शन, विषय-आत्मा का दर्शन और निरपेक्ष-आत्मा का दर्शन। इन तीनों के विषय में हम क्रमशः विचार प्रस्तुत करेंगे।

(अ) विषयि-आत्मा का दर्शन (The Philosophy of Subjective Mind)—इसमें आत्मा के संकल्प-स्वातन्त्र्य पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मा अपने संकल्प-स्वातन्त्र्य की रक्षा तभी कर सकती है जब कि प्रकृति के ऊपर उसकी निर्भरता बिलकुल ही न हो। विषयि-आत्मा का अध्ययन निम्न तीन विज्ञानों द्वारा सम्पादित किया जाता है : **मानव-विज्ञान** (Anthropology) में आत्मा केवल जीवात्मा (Soul) के रूप में प्रकट होती है जो प्रकृति से सम्बद्ध तथा बाह्य वातावरण द्वारा प्रभावित होती है। यह बुद्धि या विवेक का स्तर न होकर केवल भावना

---

1. कोनर, डी० जे० ओ०, (सं०), ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न फिलॉसॉफी, पृ० 337.
2. हेगल "Mind came into being as the truth of nature."
3. "Nature is mind petrified."

(Feeling) का स्तर है। इसमें मानव की जाति, राष्ट्र, लिंग, आयु, जागृति एवं सुषुप्ति की अवस्थाओं, मूल प्रवृत्तियों एवं संवेगों का अध्ययन किया जाता है। **घटना-विज्ञान** (Phenomenology) में आत्मा चेतन होकर अपने को शरीर और बाह्य परिस्थितियों से विवेक करने लगती है तथा दूसरी आत्माओं से भी सम्बन्ध करने लगती है। **मनोविज्ञान** (Psychology) बौद्धिकता (Rationality) का स्तर है। यहाँ आत्मा बौद्धिक हो जाती है। यह ज्ञान और संकल्प-शक्ति के गहन अध्ययन का स्तर है। यह संवेदना, अवधान, प्रतिमा, स्मृति, कल्पना, चिन्तन, भावना, संवेग, बुद्धि, दुःख, सुख इत्यादि का अध्ययन करता है। हेगल ने अपने तर्कशास्त्र में इसका विशद वर्णन प्रस्तुत किया है।

(ब) विषय-आत्मा का दर्शन (The Philosophy of Objective Mind)—विषय-आत्मा के दर्शन में हेगल ने वैधिक, नैतिक एवं राजनीतिक दर्शन का समावेश किया है। इन सबका वर्णन उसने अपने विश्व-कोश (Encyclopaedia) एवं अधिकार दर्शन (Philosophy of Right) में सविस्तार किया है। वास्तव में **विषय-आत्मा का दर्शन सामाजिक चैतन्य या समष्टि-चैतन्य का दर्शन है।** यहाँ आत्मा अपने को प्रकृति से मुक्त कर एक द्वितीय प्रकृति (Second Nature) का निर्माण करती है जिसकी अपनी वैधिक, नैतिक एवं राजनीतिक संस्थाएँ होती हैं। यह विशुद्ध संकल्प (Pure-Will) का स्तर है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं साध्य तो होता ही है, साथ-साथ वह अन्य व्यक्तियों को भी साध्य समझकर उसी प्रकार उनका आदर करता है।

विषय-आत्मा की प्रथम अभिव्यक्ति हमें **विधि-विज्ञान** (Jurisprudence) में प्राप्त होती है जिसमें मनुष्य के अधिकार उसकी संपत्ति, प्रसंविदा और दण्ड का विधान वर्णित होता है। किन्तु विषय-आत्मा का यह रूप तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक न्यायाधीश और अपराधी के बीच द्वैत बना रहेगा। इस द्वैत का निराकरण तभी हो सकता है जब कि न्यायाधीश और अपराधी एक हो जाएँ। यहाँ वाह्य नियम से हटकर हम अन्तःकरण की ओर उन्मुख हो जाते हैं। इससे हमारे भीतर नैतिक चेतना उत्पन्न होती है जिसका अध्ययन नीतिविज्ञान (Ethics) करता है। यह नैतिक चेतना तीन आरोही सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होती है : परिवार, समाज एवं राज्य, परिवार समाज के लिए तथा समाज राज्य के लिए होता है। इन सामाजिक संस्थाओं के द्वारा व्यक्ति एवं समाज के द्वन्द्व का समन्वय होता है। राज्य का लक्ष्य निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) की सिद्धि है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति और समाज का बलिदान किया जा सकता है। राज्य सर्वोच्च सत्ता है क्योंकि वह निरपेक्ष विज्ञान की निकटतम अभिव्यक्ति है। हेगल के अनुसार राजतन्त्र, प्रजातन्त्र से श्रेष्ठतर है। उन्नत समाज और उन्नत राज्य यदि चाहें तो कम उन्नत समाजों और कम उन्नत राज्यों को उन्हीं की सुख-समृद्धि के लिए अपने हाथों में ले सकते हैं। किन्तु यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि हेगल प्रजातन्त्र की अपेक्षा राज-तन्त्र को विशेष महत्व देता है, पर वह अधिनायकवाद का पोषक नहीं है। उसकी शासन-प्रणाली में राजा निरंकुश नहीं है क्योंकि वह संविधान, विधान-सभा एवं मन्त्रियों के निर्णयों से आबद्ध है। वह केवल एक "वैधानिक सम्राट" (Constitutional Monarch) ही होता है।

(स) निरपेक्ष आत्मा का दर्शन (The Philosophy of Absolute Mind)—निरपेक्ष आत्मा विषयि-आत्मा एवं विषय-आत्मा का समन्वयात्मक रूप है। यहाँ

आत्मा का दूसरी प्रकृति से भी सम्बन्ध टूट जाता है। यह वास्तव में आत्म-चैतन्य का दर्शन है। निरपेक्ष आत्मा में सारे विरोधों का शमन हो जाता है। सम्पूर्ण द्वन्द्वों की समाप्ति के कारण निरपेक्ष आत्मा या विज्ञान का कोई प्रतिपक्ष नहीं होता। यह ऐसी अवस्था होती है जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय, प्रत्यय और प्रत्येय, विज्ञान और विज्ञेय; विचार और सत्त तथा असीम और ससीम के सम्पूर्ण भेद समाप्त हो जाते हैं। यहाँ असीम तत्व प्रत्येक ससीम वस्तु के अधिष्ठान रूप में स्वीकार किया जाता है। विरोधों का यह उच्चतम समन्वय हमारे समक्ष तीन रूपों में प्रकट होता है : प्रतिभान (Intuition) के रूप में यह उच्चतम समन्वय कला (Art) के रूप में प्रस्तुत होता है; भावना के रूप में यह उच्चतम समन्वय धर्म (Religion) के रूप में अभिव्यक्त होता है तथा विचार के उच्चतम समन्वय के रूप में यह दर्शन (Philosophy) के रूप में हमारे समक्ष प्रकट होता है। हेगल ने इन तीनों समन्वयों का विशद वर्णन अपनी तीन पृथक् पुस्तकों द्वारा करने की चेष्टा की है। कला का वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक "सौन्दर्यशास्त्र का व्याख्यान" (Lectures on Aesthetics) में की है; धर्म का वर्णन उन्होंने "धर्म-दर्शन का व्याख्यान" (Lectures on the Philosopy of Religion) में दिया है तथा दर्शन का वर्णन उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "दर्शन के इतिहास का व्याख्यान" (Lectures on the History of Philosophy) में प्रस्तुत किया है जिन पर क्रमशः यहाँ विचार किया जायेगा।

1. **सौन्दर्यशास्त्र** (Aesthetics)—ऐन्द्रिय सत्ता के रूप में **सौन्दर्य निरपेक्ष विज्ञान की निकटतम अभिव्यक्ति** है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति विभिन्न कलाओं के रूप में प्रकट होती है। कलाओं में **वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत** और **काव्य** आते हैं। इनमें वास्तु-कला, मूर्ति-कला और चित्र-कला वस्तुनिष्ठ है तथा संगीत और काव्य आत्मनिष्ठ हैं। कला पक्ष है, संगीत प्रतिपक्ष तथा काव्य संपक्ष है। काव्य कला का सर्वोत्तम रूप है। काव्य का बाल्यकाल महाकाव्य में, संक्रमण-काल गीति-काव्य में तथा यौवन-काल नाटक में अभिव्यक्त होता है। नाटक काव्य का सर्वोत्तम रूप है।

2. **धर्मदर्शन** (Philosophy of Religion)—कला के ऊपर धर्म का स्थान है। इसमें हम अपनी बहिर्मुखता का परित्याग कर पूर्ण रूप में अन्तर्मुखी हो जाते हैं। धर्म में हमें **असीम** और **ससीम** की एकता का अवबोध होता है। धर्म में धार्मिकता की अनुभूति तो है ही, साथ-साथ निरपेक्ष तत्व का विचार भी सन्निहित है। धर्म और दर्शन दोनों का विषय ईश्वर है; पर उनके प्रतिपादन में थोड़ा अन्तर पाया जाता है। धर्म ईश्वर के प्रत्यय को प्रतीकात्मक रूप देकर उसकी आराधना करता है; इसके विपरीत दर्शन ईश्वर के प्रत्यय का अनुशीलन करता है।

3. **दर्शन** (Philosophy)—कला और धर्म दोनों के ऊपर दर्शन का स्थान है। दर्शन में **निरपेक्ष आत्मा** अपने उच्चतम स्वरूप को प्राप्त करती है। यह पूर्ण आत्म-ज्ञान की अवस्था है। हेगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार कला पक्ष है, धर्म प्रतिपक्ष और दर्शन संपक्ष है। हेगल के अनुसार उनके दर्शन में निरपेक्ष आत्म-तत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

3
ब्रिटिश नव्य-विज्ञानवाद
फ्रान्सिस हर्बर्ट ब्रैडले
(Francis Herbert Bradley) (1846—1924)

दार्शनिक पृष्ठभूमि—हेगल की मृत्यु के बाद दर्शन-जगत में उसके दर्शन के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उसके दर्शन के प्रत्येक पक्ष : बुद्धिवाद, विज्ञानवाद, अद्वैतवाद, प्रागनुभविक पद्धति का जोरदार खण्डन किया गया। हेगल के विज्ञानवाद के विरुद्ध **वस्तुवाद** (Realism) एवं **बहुलवाद** (Pluralism) ने जन्म लिया। अन्य विचारकों ने उसके बुद्धिवाद की आलोचना करते हुए कहा कि जगत को बौद्धिक कभी भी नहीं माना जा सकता; जगत में बौद्धिक तत्व की अपेक्षा अबौद्धिक तत्व का विशेष आनयन है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप दर्शन-जगत में संकल्पवाद (Voluntarism), रहस्यवाद (Mysticism) एवं प्रतिभानवाद (Intuitionism) का जन्म हुआ। हेगल के परिकल्पनात्मक तत्वविज्ञान के विरुद्ध **हर्बार्ट** (Herbart) ने अपने बहुलवादी वस्तुवाद को उत्पन्न किया तथा **शोपेनहार** (Schopenhaur) ने अपने संकल्पवाद को प्रस्तुत किया। **नीत्शे** (Nietzsche) ने शोपेनहार की परम्परा का अनुसरण करते हुए शक्ति-संकल्प को विशेष महत्व दिया।

पश्चिम जगत में विज्ञान की प्रगति एवं फ्रान्स में **प्रत्यक्षवाद** (Positivism) के उदय के साथ ब्रिटेन में अनुभववादी परम्परा को एक बार पुनः बल मिला। उन्नसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में **बेन्थम** (Jeremy Bentham 1748-1832) एवं **जॉन स्टुअर्ट मिल** (John Stuart Mill 1806-1873) दो अनुभववादी विचारक उत्पन्न हुए जिन्होंने वैज्ञानिक पद्धति को मान्यता देते हुए परिकल्पनात्मक तत्वविज्ञान का विरोध किया। इसी वैज्ञानिक परम्परा का निर्वाह करते हुए **हर्बर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer 1820-1903) ने इंग्लैण्ड में अपने **विकासवास** (Evolutionism) की स्थापना की। स्पेन्सर के दर्शन की विशेषता यह थी कि उन्होंने अनुभववादी परिप्रेक्ष्य में ज्ञान के स्वरूप (Forms) की व्याख्या कर **विकासवादी अनुभववाद** (Evolutionary Empiricism) की स्थापना की।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटेन में अनुभववादी परम्परा के साथ विज्ञानवादी परम्परा का भी अभ्युदय हुआ। यह अभ्युदय किसी दार्शनिक के माध्यम से नहीं वरन् कॉलिरिज (Coleridge), वर्ड्सवर्थ (Wordsworth), कार्लाइल (Carlyle), रस्किन (Ruskin) इत्यादि साहित्यकारों के माध्यम से हुआ। किन्तु जर्मन विज्ञानवाद का गम्भीर अध्ययन तब तक प्रारम्भ नहीं हुआ जब तक कि **स्टर्लिंग** (J. H. Stirling) ने सन् 1865 में अपना सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "हेगल का रहस्य" (The Secret of Hegel) प्रकाशित नहीं कराया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटेन में कुछ ऐसे विज्ञानवादी दार्शनिक हुए जो काण्ट एवं हेगल के विचारों से

विशेष प्रभावित थे। इनमें **टॉमस हिल ग्रीन** (T. H. Green) **एडवर्ड केयर्ड** (Edward Caird), **जॉन केयर्ड** (John Caird), **एफ० एच० ब्रैडले** (F. H. Bradley) एवं **बी० बोसांके** (B. Bosanquet) के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इन दार्शनिकों के विचारों की विशेषता यह है कि जहाँ प्राचीन ब्रिटिश अनुभववादियों ने अनुभव की परमाणुवादी व्याख्या प्रस्तुत की थी वहाँ ब्रिटिश विज्ञानवादियों ने आत्मा और ज्ञान की आंगिक (Organic) व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने सृष्टि में यान्त्रिकवाद (Mechanism) के स्थान पर प्रयोजनवाद (Teleology) की स्थापना की। ब्रिटेन के नव्य-विज्ञानवादियों में एफ० एच० ब्रैडले का दर्शन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जिसका यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

जीवन-वृत्त—फ्रान्सिस हर्बर्ट ब्रैडले का जन्म सन् 1846 ई० में लन्दन नगर में हुआ था। उनकी शिक्षा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में हुई थी। यद्यपि ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में उन्हें प्रथम-श्रेणी आनर्स की डिग्री प्राप्त न हो सकी किन्तु मर्टन कॉलेज ने उनकी योग्यता और प्रतिभा पहचान कर उन्हें 1870 ई० में फेलो के पद पर नियुक्त किया। उनकी फेलोशिप के साथ कोई अध्यापन-कार्य संलग्न नहीं था और यह शिक्षा-वृत्ति उन्हें जीवन पर्यन्त प्रदान की गई थी। पर इस फेलोशिप के साथ केवल एक शर्त जुड़ी थी कि इसका प्राप्तिकर्ता आजीवन अविवाहित रहे। ब्रैडले ने इस शर्त का जीवन भर पालन किया और मृत्यु पर्यन्त इस पद पर आसीन रहे। मर्टन कालेज की फेलोशिप प्राप्त करने के बाद ही ब्रैडले गुर्दे की बीमारी से ग्रस्त हो गये जिसके कारण उनका बाद का जीवन अस्वस्थता में ही व्यतीत हुआ। उनका अधिकाँश समय ऑक्सफोर्ड में ही बीता जहाँ वे अपने दार्शनिक चिन्तन को मूर्त रूप देने के लिए पुस्तकें लिखते थे। वे दार्शनिक समस्याओं पर विलियम जेम्स और बर्ट्रेण्ड रसेल से पत्र-व्यवहार भी करते थे किन्तु वे कभी किसी से मिलते नहीं थे। वे एकान्तसेवी थे। वे कॉलेज के जिस कमरे में एकान्तवास करते थे उसकी खिड़कियों से कभी-कभी अपने रिवॉल्वर से बिल्लियों का शिकार करते थे। ब्रैडले के मनोरंजन व आमोद-प्रमोद का यही साधन था। सन् 1924 में उन्हें आर्डर ऑव मेरिट (Order of Merit) से सम्मानित किया गया जिसके थोड़े ही दिनों बाद उनकी मृत्यु हो गई।

रचनाएँ—ब्रैडले की सर्वप्रथम प्रकाशित रचना **आलोचनात्मक इतिहास की पूर्व-मान्यताएँ** (The Presuppositions of Critical History) है जिस पर लोगों का बहुत कम ध्यान गया। किन्तु दो वर्ष बाद जब उन्होंने सन् 1876 में अपना **नैतिक अध्ययन** (Ethical Studies) ग्रन्थ प्रकाशित किया, लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। इसके बाद ब्रैडले ने 1883 में दो भागों में **तर्कशास्त्र के शिद्धान्त** (Principles of Logic) को प्रकाशित किया जो विज्ञानवादी तर्कशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। उनकी सबसे अधिक ख्याति उनकी तत्व-मीमांसा की पुस्तक **आभास और सत** (Appearance and Reality) द्वारा हुई जो 1893 में प्रकाश में आई। उनकी अन्तिम रचना **सत्य एवं तत्व पर निबन्ध** (Essays on Truth and Reality) है जो 1914 में प्रकाशित हुई। इस प्रकार ब्रैडले ने नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र एवं तत्व-विज्ञान सभी विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं जो दर्शनशास्त्र की अमूल्य निधियाँ हैं।

तत्वमीमांसा का मण्डन

ब्रैडले एक बहुत बड़े तत्वमीमांसक थे। तत्व-विज्ञान में उनका अटूट विश्वास था। अतः, जो दार्शनिक तत्व-विज्ञान की सम्भावना का निषेध करते हैं, उनके मत का खण्डन करना वे आवश्यक समझते थे। विरोधियों का खण्डन करने से पूर्व सर्वप्रथम वे तत्व-विज्ञान को परिभाषित करने की चेष्टा करते हैं। 'आभास से पृथक तत्व के स्वरूप को जानने की चेष्टा तत्वविज्ञान है।'[1] पुनः उनके अनुसार "प्राथमिक सिद्धान्तों अथवा आधारभूत सत्यों का अध्ययन तत्वविज्ञान है।[2]"

तत्व-विज्ञान के स्वरूप को और आगे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, 'ब्रह्माण्ड को खण्डशः नहीं, वरन् समष्टि रूप में आत्मसात् करने का प्रयत्न ही तत्वविज्ञान है।'[3] विरोधी दार्शनिकों का कथन है कि यहाँ जिस रूप में तत्वविज्ञान को परिभाषित करने की चेष्टा की जा रही है या तत्वविज्ञान द्वारा जिस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने का दावा किया जा रहा है वह या तो असम्भव है या निरर्थक। इन आक्षेपों एवं ब्रैडले ने इन आक्षेपों के विरुद्ध तत्वविज्ञान का कितनी सफलतापूर्वक समर्थन किया है, इन पर प्रथम विचार कर लेना अत्यावश्यक है।

(i) **असम्भाव्यता की आपत्ति**—कुछ विरोधी आलोचकों के अनुसार तत्व-ज्ञान पूर्णतया असम्भव है क्योंकि सत्ता के जिस स्वरूप को हम जानना चाहते हैं उसे विचारों की मध्यस्थता से ही तो जान सकते हैं। किन्तु हम जानते हैं कि हमारे विचार सीमित और अपूर्ण हैं। सीमित और अपूर्ण विचार असीम तत्व का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकता है?

उपर्युक्त प्रथम आपत्ति के उत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि जो आलोचक यह कहते हैं कि तत्वविज्ञान असम्भव है या तत्व को नहीं जाना जा सकता, उनसे मेरा अनुरोध है कि वे मेरी पुस्तक 'आभास और सत्' का अध्ययन करें और मेरे विचारों को समझें। मेरी पुस्तक के अध्ययन के पश्चात् उनके भीतर सन्देह का तनिक भी अवकाश शेष नहीं रहेगा। इसके विपरीत, यदि वे अपने ही दृष्टिकोण के साथ न्याय करना चाहें तो भी वे अपनी स्थिति अक्षुण्ण, नहीं रख सकते। क्योंकि जब वे कहते हैं कि 'तत्व ज्ञान से अतीत है, इस कथन मात्र से वे स्वयं तत्व-ज्ञानी बन जाते हैं। सत्ता या तत्व के विषय में कुछ भी कथन का अर्थ यही हो सकता है कि हमें तत्व के विषय में कुछ न कुछ भावात्मक ज्ञान अवश्य है जिसके आधार पर हमने कथन किया कि 'तत्व ज्ञान से अतीत है'। अतः ऐसा कथन

1. ब्रैडले, एफ० एच०, आभास और सत्, भूमिका, "We may agree... to understand by metaphysics an attempt to know reality as against mere appearance."

2. वही, Metaphysics is 'the study of first principles or ultimate truths.

3. वही, Metaphysics is 'the effort to comprehend the universe, not simply piecemeal or by fragments but somehow as a whole.'

करने वाला स्वयं तत्वज्ञानी है जिसका अपना विरोधी सिद्धान्त है।[1] यह कथन कि तत्व का ऐसा स्वभाव है कि मनुष्य की वहाँ तक गति नहीं है, स्वयं एक प्रकार का तत्व-ज्ञान है। यह आग्रह कि हमारा बौद्धिक ज्ञान आभास का अतीतीकरण नहीं कर सकता, स्वयं एक प्रकार का अतीतीकरण है।[2] यदि हमें किसी अनुभवातीत तत्व का ज्ञान न होता तो हम कैसे कहते कि बुद्धि की वहाँ तक गति नहीं है ? इस प्रकार ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कोई भी व्यक्ति तत्व-विज्ञान का निषेध नहीं कर सकता क्योंकि इसके निषेध में भी कोई न कोई तत्व-विज्ञान सन्निहित होता है

(ii) **निरर्थकता की आपत्ति**—ब्रैडले के तत्व-विज्ञान के विरुद्ध द्वितीय आक्षेप यह लगाया जाता है कि थोड़े समय के लिए यदि मान भी लिया जाय कि तत्व-ज्ञान सम्भव है, तो उससे हमें क्या लाभ मिल सकता है ? उस ज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं है। सिद्धान्ततः तत्व-ज्ञान सम्भव होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से वह निरर्थक ही है।

उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि इस आक्षेप के पीछे एक मनोविज्ञान है और वह यह है कि दर्शन के क्षेत्र में वही समस्याएँ हैं, वही विवाद हैं और वही असफलताएँ हैं जो सदियों से उसमें पाई जाती रहीं हैं तथा ये समस्याएँ विवाद और असफलताएँ भविष्य में भी इसी प्रकार पाई जाती रहेंगी। यदि इन समस्याओं का समाधान आज तक नहीं हो पाया है तो भविष्य में इन समस्याओं का समुचित समाधान हो पाएगा, इसकी आशा करना व्यर्थ है। इन असाध्य समस्याओं का हम क्यों नहीं परित्याग कर देते ? इस आक्षेप का उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि आलोचकों का यह विश्वास कि दर्शन की समस्याएँ सदा एक रही हैं, उनके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है—बिल्कुल गलत है। इस बात को स्वीकार करना उतना ही सत्य या असत्य है जितना कि यह कहना कि मानवीय प्रकृति अपरिवर्तनीय है अथवा मानव स्वभाव बदला नहीं है। यदि हम दर्शन शास्त्र के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि तत्वविज्ञान न केवल बाह्य परिस्थितियों द्वारा प्रभावित हुआ है बल्कि उसने अपने बाह्य वातावरण को प्रभावित भी किया है। अतः आलोचकों का यह कहना कि दार्शनिक समस्याएँ वही पुरातन समस्याएँ हैं, उसमें कोई नवीनता नहीं है, बिलकुल गलत है।

यहाँ ब्रैडले ने मानव जीवन के एक नवीन तथ्य की ओर निर्देश किया है और वह यह है कि तत्वविज्ञान चाहे सम्भव हो या असम्भव, उपयोगी हो या अनुपयोगी, सार्थक हो या निरर्थक, मनुष्य तत्व के विषय में चिन्तन किए बिना नहीं रह सकता। क्या हम कभी जीव, जगत, ब्रह्माण्ड, ईश्वर एवं विश्व में अपनी नियति के विषय में सोचना बन्द कर सकते हैं ? विश्व के विषय में जिज्ञासा या चिन्तन करना हमारा स्वभाव है; इसके बिना हम जीवित ही नहीं रह सकते। अतः हमारे समक्ष समस्या यह नहीं है कि हमें जीव, जगत, ईश्वर या तत्व के विषय मे चिन्तन करना

1. वही "He is a brother metaphysician with a rival theory of his own".

2. वही, "...to urge that our knowledge is of a kind which must fail to transcend appearance, itself implies that transcendence."

चाहिए या नहीं करना चाहिए क्योंकि यह तो हम करते ही हैं। "**हमारे समक्ष वास्तविक समस्या यह है कि हम तत्व के विषय में किस प्रकार चिन्तन करें कि हमें उसका साक्षात् ज्ञान प्राप्त हो जाय।**" तत्वविज्ञान का विरोध करने वाला व्यक्ति अपने को एक ऐसे उभयतोपाश (Dilemma) में आबद्ध कर देता है कि उससे मुक्त होना उसके लिए सम्भव नहीं हो पाता। उसके समक्ष केवल दो ही विकल्प हैं : या तो वह चिन्तन करना ही छोड़ दे या अव्यवस्थित रूप में चिन्तन करे। इन दोनों में से किसी भी विकल्प को स्वीकार करना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। अतः, तत्वविज्ञान का अनुशीलन किसी भी प्रकार न तो निरर्थक है और न अनुपयोगी।

(iii) **पूर्ण संतोष की अप्राप्ति की आपत्ति**--तत्वविज्ञान के विरुद्ध एक और आपत्ति उठायी जाती है और वह यह है कि तत्व-चिन्तन से हमे कभी भी पूर्ण सन्तोष की प्राप्ति असम्भव है। यदि हम दर्शन के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि दर्शन की समस्याएँ सुलझने के स्थान पर उलझती गई हैं। अतः हमारे समक्ष स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि तत्व के अन्वेषण का यह असफल प्रयास ही क्यों किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि यह समझना बिलकुल गलत है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक दार्शनिक समस्याओं के समाधान में कोई प्रगति नहीं हुई है। वास्तविकता यह है कि हमारी समस्याओं की समझ और उनके समाधान में निरन्तर प्रगति एवं परिपक्वता आई है। इस सन्दर्भ में ब्रैडले ने एक और नई बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति एवं उनके समाधान में चाहे कोई प्रगति हो या न हो, यदि उनमें परिवर्तन भी होता है तो नवीन तत्वविज्ञान की सार्थकता बनी रहेगी। प्रत्येक युग में दार्शनिक समस्या एक नवीन कलेवर लेकर हमारे समक्ष उपस्थित होती है और नवीन रूप में ही अपना समाधान चाहती है। जिस प्रकार समय-परिवर्तन के साथ लोगों को नवीन कविता की आवश्यकता होती है उसी प्रकार समय-परिवर्तन के साथ लोगों को नवीन तत्वविज्ञान की भी आवश्यकता होती है।[1]

अन्त में, तत्वविज्ञान की प्रासंगिकता एवं सार्थकता को सिद्ध करने के बाद ब्रैडले कहते है कि **दर्शन या तत्वविज्ञान-मानव प्रकृति के गूढ़ या आध्यात्मिक पक्ष को संतुष्ट करता है।**।[2] किन्तु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकालना चाहिए कि कोई तत्व-विज्ञान अन्य तत्वविज्ञानों से श्रेष्ठतर है। सभी परिकल्पनात्मक तत्वविज्ञान (Speculative Metaphysics) एक ही श्रेणी में आते हैं क्योंकि बुद्धि के माध्यम से तत्व का साक्षात्कार करना कठिन ही नही वरन् असम्भव भी है। यदि कोई दार्शनिक सोचता है कि दर्शनशास्त्र उसके आध्यात्मिक अहंकार को न्याययुक्त सिद्ध कर सकता है, तो वह सबसे बड़ा पाप होगा।

---

1. वही, पृ० 5, "Hence, there seems as much reason for new philosophy as there is for new poetry."

2. वही, पृ० 6, "I have been obliged to speak of philosophy as a satisfaction of what may be called the mystical side of our nature."

ब्रैडले के तत्व-विज्ञान के दो पक्ष

ब्रैडले ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'आभास और सत्' (Appearance and Reality) को दो खण्डों में विभाजित किया है : प्रथम खण्ड को उन्होंने आभास (Appearance) नाम दिया है तथा द्वितीय खण्ड को सत् (Reality)। जिस प्रकार शंकराचार्य ने अपना ब्रह्मसूत्र-भाष्य अध्यास के विश्लेषण से प्रारम्भ किया और उसके आधार पर तत्व का निरूपण किया उसी प्रकार ब्रैडले भी अपना 'आभास और सत्' 'आभास' के विश्लेषण से प्रारम्भ करते हैं और उसके आधार पर 'सत्' के स्वभाव का निरूपण करते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक के प्रथम खण्ड 'आभास' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बुद्धि की जितनी भी कोटियाँ (Categories) है, जिनके माध्यम से हम सत्ता के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं वे व्यावहारिक दृष्टि से भले ही महत्वपूर्ण हों पर तात्विक दृष्टि से निश्चित रूप में अपर्याप्त हैं।

सभी विज्ञानवादी दार्शनिकों ने बुद्धि की कोटियों की अपर्याप्तता को स्वीकार किया है। हम सत् को जानने के लिए बुद्धि की कोटियों की सहायता लेते हैं। परन्तु बुद्धि की कोटियों के माध्यम से सत् को जानने का प्रयास सदा असफल ही होता है। इसका कारण यह है कि बुद्धि की सभी कोटियाँ आन्तरिक विरोधाभासों एवं विसंगतियों से परिव्याप्त होती हैं। बुद्धि की कोटियों की इन विसंगतियों को उद्घाटित करने के लिए ही ब्रैडले आभास-खण्ड में इनका परीक्षण प्रस्तुत करते हैं और सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि बुद्धि की सभी कोटियाँ असंगतियों एवं असामञ्जस्यों से परिपूर्ण हैं और इस कारण वे असत् हैं।

अपनी पुस्तक 'आभास और सत्' के प्रथम अध्याय में ब्रैडले जिस कोटि का सर्वप्रथम परीक्षण प्रस्तुत करते हैं वह मूलगुण और उपगुण की कोटि है। इस कोटि की आलोचना के पीछे ब्रैडले का प्रमुख उद्देश्य भौतिकवाद का खण्डन एवं विज्ञानवाद का मण्डन करना था। विज्ञानवादी होने के कारण वे सर्वप्रथम इसी कोटि की आलोचना प्रस्तुत करते हैं।

1. मूलगुण और उपगुण
(Primary and Secondary Qualities)

हम जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में भ्रम और विभ्रम उत्पन्न होते हैं। भ्रम और विभ्रम जीवन के यथार्थ हैं। जीवन के ये यथार्थ हमें सोचने के लिए विवश करते हैं कि क्या जिस जगत को हम जानते हैं वह सत् है या असत्। जीवन का अनुभव तो यही बताता है कि जगत एक आभास (Appearance) है। ब्रैडले के ही शब्दों में : "मैं इस प्रकार स्पष्ट करूँगा कि जगत जिसका हमें इस रूप में ज्ञान है, आत्म-बाधित है; और अतः वह आभास मात्र है, सत् नहीं है"[1]

1. ब्रैडले, एफ० एच०, आभास और सत्, पृ० 9, "I shall point out that the world, as so understood, contradicts itself and is therefore appearance, and not reality."

जगत के विषय में जो प्रथम विचार हमारे मन में उपस्थित होता है, वह यह है कि जगत भौतिक है। किन्तु विज्ञानवादी होने के कारण ब्रैडले यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि जगत भौतिक न होकर आध्यात्मिक है। अतः वे सर्वप्रथम भौतिकवाद का खण्डन प्रस्तुत करते हैं।

भौतिकवाद का खण्डन
(Criticism of Materialism)

हम जगत के गुणों को दो भागों में विभाजित करते हैं : प्रथम मूलगुण (Primary Qualities) एवं द्वितीय उपगुण (Secondary Qualities)। ब्रैडले ने इन्हें निम्न प्रकार से परिभाषित किया है: हमारे द्वारा दृष्टिगत एवं अनुभूत पदार्थों के जो दैशिक पक्ष हैं वे मूलगुण हैं और शेष उपगुण हैं।[1] मूलगुण द्रव्य के अनिवार्य गुण है और शाश्वत रूप से उसमें उपस्थित रहते हैं जैसे : ठोसपन, विस्तार, आकार, गति, स्थिति, संख्या इत्यादि। इसके विपरीत, उपगुण द्रव्य के आगन्तुक गुण हैं जो वस्तुओं के भीतर नहीं पाए जाते वरन् वे आत्मा के ऊपर आश्रित होते हैं। अर्थात् उपगुण सदा सापेक्षिक गुण होते हैं।[2] रूप, रंग, भार, स्वाद, गन्ध इत्यादि उपगुण के उदाहरण हैं।

जो भौतिकवादी हैं वे मूलगुणों के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। सम्पूर्ण भौतिकवाद मूलगुणों के स्वतन्त्र अस्तित्व पर आश्रित हैं। अतः, यदि हम भौतिकवाद का खण्डन करना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें इन मूलगुणों पर कुठाराघात करना होगा। ब्रैडले ने वास्तव में यही किया। ब्रैडले ने केवल यही नहीं किया वरन् एक कदम आगे जाकर यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की कि जगत् को मूलगुण और उपगुण के माध्यम से नहीं समझा जा सकता। वे दोनों ही सत् न होकर आभास मात्र हैं। वे सर्वप्रथम उपगुणों का खंडन करते हैं।

उपगुणों की आलोचना
(Criticism of Secondary Qualities)

किसी वस्तु के सत् होने के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र (Self-dependent) और आत्म-संगत (Self-consistent) हो। किन्तु ये बातें उपगुणों पर लागू नहीं होतीं। किसी वस्तु के भीतर या तो कोई गुण है या नहीं है। यदि उस वस्तु के भीतर कोई गुण है तो उसे वस्तु में सदा विद्यमान होना चाहिए। यह बात उपगुणों पर लागू नहीं होती। निम्न दृष्टान्तों द्वारा इसे भली-भाँति स्पष्ट किया जा सकता है।

रंग (Colour)—कोई भी रंगीन वस्तु सभी व्यक्तियों को एक समान दिखाई नहीं देती। विभिन्न व्यक्ति एक ही रंग को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखते

1. वही, 'The primary qualities are those aspects of what we perceive or feel, which are spatial, and the rest is secondary.'

2. 'They are relational properties.'

हैं तथा जिनके अन्दर वर्णान्धता (Colour-blindnss) है उन्हें उस रंग का ज्ञान ही नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में क्या कोई वस्तु रंगीन कही जा सकती है ?

कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि रंग वस्तुओं का गुण न होकर आँखों का गुण है। ब्रैडले इसे भी स्वीकार नहीं करते। किसी आँख के भीतर कोई रंग पाया जाता है या नहीं, इसकी जानकारी के लिए किसी दूसरी आँख की आवश्यकता होगी तथा इस दूसरी आँख के रंग की जानकारी के लिए तीसरी आँख की आवश्यकता होगी। इस प्रकार इस तर्क में अनवस्था-दोष की प्राप्ति होगी। अतः कोई भी वस्तु रंगीन नहीं है। यहाँ हमें स्वीकार करना होगा कि रंग रंगहीन वस्तु का गुण है।

शीतोष्णता (Cold and Heat)—एक ही वस्तु विभिन्न शरीरों के अवस्था-भेद के कारण ठंडी या गरम प्रतीत होती है। शरीर के ताप-क्रम की भिन्नता के कारण कोई वस्तु गरम या ठंडी मालूम पड़ती है। एक ही गुनगुना पानी गरम हाथ को ठंडा व ठंडे हाथ को गरम प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में गुनगुने पानी को गरम कहा जाय या ठंडा या दोनों या कुछ नहीं। तार्किक दृष्टि से चतुर्थ विकल्प ही सही होगा। शीतोष्णता किसी वस्तु का आन्तरिक गुण न होकर उसका केवल सापेक्षिक गुण ही है। शीतोष्णता को त्वचा का गुण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके निर्धारण में भी पहले की तरह अनवस्था-दोष पाया जाएगा। अतः शीतोष्णता न तो किसी वस्तु का गुण है और न त्वचा का ही गुण है।

ध्वनि (Sound)—एक ही ध्वनि विभिन्न कानों को भिन्न-भिन्न प्रकार सुनाई देती है। ध्वनि को कानों का गुण भी नहीं माना जा सकता।

गंध और स्वाद (Smell and Taste)—गंध और स्वाद के विषय में तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। विभिन्न नासिकाओं और जिह्वाओं को एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न गंध और स्वाद मालूम पड़ते हैं। जिस व्यक्ति को जुकाम हुआ रहता है, उसे किसी गंध या स्वाद का ज्ञान ही नहीं हो पाता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की जिह्वा पर छाले पड़े होते हैं, उसका स्वाद नष्ट हो जाता है। अतः, निष्कर्ष निकलता है कि गन्ध और स्वाद वस्तुओं के आन्तरिक व अनिवार्य गुण नहीं हैं। क्या गन्ध और स्वाद क्रमशः नासिका और जिह्वा के गुण हैं ? इसका ज्ञान किसी नासिका या जिह्वा को ही हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि किसी ज्ञानेन्द्रिय के सापेक्ष्य में ही वस्तुओं में उपगुणों की स्थापना की जा सकती है और यही बात स्वयं ज्ञानेन्द्रियों पर भी लागू होती है।[1] अतः, उपगुण वस्तुओं के गुण नहीं हो सकते। इसी बात को और पुष्ट करने के लिए ब्रैडले ने एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर भी संकेत किया है। यदि वस्तुओं के बिना संवेदनाओं की प्राप्ति की जा सकती है जैसा विभ्रम (Delusion) में होता है तथा संवेदनाओं के बिना वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं

---

1. आभास और सत् पृ० 10 "Things have secondary quaities only for an organ and the organ itself has these qualities in no other way."

जैसा स्वप्न (Dream) में होता है तो वस्तुओं और संवेदनाओं में कारण-कार्य संबंध नहीं हो सकता।[1] इससे ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपगुण सत् न होकर आभासमात्र ही हैं।[2]

उपर्युक्त युक्ति के दो पहलू हैं : प्रथम निषेधात्मक पहलू और द्वितीय भावात्मक पहलू। निषेधात्मक पक्ष यह दर्शाता है कि उपगुण वस्तुओं के वास्तविक गुण नहीं हैं वरन् वे आभासमात्र हैं। भावात्मक पक्ष यह दर्शाता हैं, कि उपगुण वस्तुओं के वास्तविक गुण भले ही न हों किन्तु मूलगुण वस्तुओं के वास्तविक गुण तो अवश्य ही होते हैं।

यह ठीक है कि जब हमें उपगुणों का ज्ञान होता है तो वह किसी ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से ही प्राप्त होता है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि वस्तुओं के भीतर उपगुण नहीं पाए जाते। हम उन्हें उसी प्रकार से जान न पाएँ, यह बात दूसरी है। यदि हम उपगुणों को उनके मूल रूप में देख पाते तो वे हमें वस्तुओं में अवश्य दिखाई पड़ते।

उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि हमें किसी वस्तु के गुणों का ज्ञान सापेक्षिक रूप में ही प्राप्त हो सकता है। किसी वस्तु के निरपेक्ष ज्ञान की प्राप्ति का प्रश्न उठाना निरर्थक बात है। जब सभी गुण सापेक्षिक (Relative) और संबन्धात्मक (Relational) हैं तो किसी वस्तु के निरपेक्ष गुण (Unconditioned Qualities) का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है। इसी तथ्य को ब्रैडले ने निम्न प्रकार व्यक्त किया है, "किसी व्यक्ति का यह कथन कि उसकी प्रेमिका सर्वथा और स्वतः सम्मोहक है, एक धर्मसिद्धान्त है जिसमें वाद-विवाद का कोई स्थान नहीं है।"[3] ब्रैडले की इस उक्ति का भावार्थ यह है कि किसी वस्तु के भीतर निरपेक्ष गुण की व्यवस्था करना केवल अंधविश्वास की बात हो सकती है; उसे तर्कतः सिद्ध नहीं किया जा सकता।

मूलगुणों की आलोचना
(Criticism of Primary Qualities)

उपर्युक्त युक्ति का भावात्मक पक्ष यह है कि वस्तुओं के उपगुण भले ही आभासमात्र हों किन्तु मूलगुण वस्तुओं के वास्तविक गुण होते हैं। पर ब्रैडले ने मूल-

---

1. वही, पृ० 10, "We can have sensation without the object, and the object without the sensation, the one cannot, possibly be a quality of the other."

2. वही पृ० 10, "The secondary qualities, therefore, are appearance, coming from the reality, which itself has no quality but extension."

3. आभास और सत्, पृ० 11, "To hold that one's mistress is charming ever and in herself, is an article of faith and beyond reach of question."

गुणों की भी आलोचना प्रस्तुत की है। मूल गुणों को यदि वास्तविक मान लिया जाय तो भौतिकवाद (Materialism) की स्थापना होती है। ब्रैडले भौतिकवाद के कट्टर विरोधी हैं। अतः उनके लिए उपगुणों के साथ मूलगुणों की आलोचना करना भी आवश्यक था। यही कारण है कि उपगुणों को आभासमात्र सिद्ध करने के बाद वे मूलगुणों की आलोचना करने को उद्यत होते हैं।

(1) जिन युक्तियों के आधार पर उपगुणों को आभासमात्र माना गया उन्हीं युक्तियों के आधार पर मूलगुणों को भी आभासमात्र सिद्ध किया जा सकता है। ब्रैडले के अनुसार सत् वह है जो स्वतन्त्र और आत्म-संगत हो। यह बात मूलगुणों पर भी लागू नहीं की जा सकती। कुछ दार्शनिक जैसे लॉक मूलगुणों को वस्तुओं का वस्तुनिष्ठ गुण मानते हैं जो ठीक नहीं है। मूलगुण भी उतने ही आत्मनिष्ठ हैं जितने उपगुण, अर्थात् मूलगुण भी उपगुणों की भाँति किसी व्यक्ति और उसकी परिस्थितियों पर आश्रित होते हैं। उदाहरण, के लिए विस्तार नामक मूलगुण को लिया जाय। 'विस्तार' का ज्ञान उतना ही इन्द्रिय-सापेक्ष है जितना रूप, रंग, गन्ध या स्पर्श का ज्ञान। 'गोल मेज' के अनुभव को ही लिया जाय। बिलकुल निकट से देखने पर मेज वृत्ताकार दिखाई देती है; थोड़ी दूर से वह अण्डाकार दिखाई देती है; और अधिक दूरी से देखने पर वह एक सरल रेखा के रूप में तथा पर्याप्त दूरी से देखने पर वह मेज एक बिन्दु के रूप में सिमट जाती है। इस प्रकार ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि उपगुणों की भाँति मूलगुण भी आभास ही है।

(2) मूलगुणों की आत्मनिष्ठता को सिद्ध करने के लिए ब्रैडले एक दूसरा तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार उपगुणों के बिना मूलगुणों का ज्ञान प्राप्त ही नहीं किया जा सकता।[1] यदि हम विशुद्ध विस्तार का ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो वह असम्भव ही होगा। विशुद्ध विस्तार जिसमें रूप, रंग, गन्ध, स्पर्श इत्यादि का अभाव हो, बिलकुल असत् है। सम्पूर्ण उपगुणों से पृथक् किसी मूलगुण की कल्पना करना अपकर्षण का ही परिणाम होगा।[2]

(3) सच पूछा जाय तो मूलगुण और उपगुण सदा एक साथ निवास करते हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में हम किस आधार पर एक को मौलिक और दूसरे को व्युत्पन्न कह सकते हैं? कुछ मनोवैज्ञानिकों का तो यहाँ तक कहना है कि उपगुण ही मौलिक हैं एवं मूलगुण व्युत्पन्न।[3] इसका कारण यह है कि मूलगुणों की रचना उपगुणों के आधार पर ही की जाती है।

---

1. आभास और सत्, पृ० 13-14. 'Without secondary quality extension is not conceivable......'

2. वही पृ०, 14. 'In short, it is the violent abstraction of one aspect from the rest, and the mere confinement of our attention to a single side of things, a fiction which, forgetting itself, takes a ghost for solid reality'.

3. वहीं 'Some psychologists could urge that the secondary qualities are original and the primary derivative.,

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ब्रैडले सिद्ध करते हैं कि उपगुण और मूलगुण दोनों ही आभास हैं जिनके माध्यम से हमें सत् का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। पुनः, ब्रैडले कहते हैं कि यदि थोड़े समय के लिए मूलगुण और उपगुण के विभाजन को स्वीकार भी कर लिया जाय तो हमारे समक्ष इन दोनों तत्वों के बीच सम्बन्ध का प्रश्न खड़ा हो जायगा जिसका समाधान करना बुद्धि के लिए सम्भव न होगा। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मूलगुण और उपगुण का यह कृत्रिम विभाजन व्यावहारिक दृष्टि से भले ही उपयोगी हो पर तात्विक दृष्टि से सदा असंतोषजनक ही रहेगा। इतना होते हुए भी यदि कुछ लोग मूलगुणों के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास कर जड़-तत्व का प्रतिपादन करते हैं, तो उनके तत्व-दर्शन को ब्रैडले ने **बर्बर या असभ्य तत्वविज्ञान** (Barborous Metaphysics) की संज्ञा दी है।

2. गुणी और गुण
(Substantive and Adjective)

जिस प्रकार तत्व को मूलगुण और उपगुण के माध्यम से नहीं जाना जा सकता उसी प्रकार उसे गुणी और गुण के माध्यम से समझने की चेष्टा भी अन्ततः असफल ही होगी। यहाँ ब्रैडले गुणी और गुण की कोटि का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

हम जगत की वस्तुओं को गुणी और गुण में विभाजित करते हैं। शक्कर की एक डली का ही हम उदाहरण लें। यदि कोई प्रश्न करे कि शक्कर क्या है, तो हम उत्तर दे सकते हैं कि यह श्वेत, कठोर, मधुर एवं भंगुर है। दूसरे शब्दों में : शक्कर श्वेत, कठोर, मधुर, भंगुर इत्यादि सब कुछ है। किन्तु यहाँ हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यहाँ "है" से हमारा क्या तात्पर्य है ? इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष कई विकल्प उत्पन्न होते हैं :

1. किसी वस्तु का उसके केवल **एक गुण** के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि शक्कर मात्र मधुर है तो शायद शक्कर की मधुरता ही समाप्त हो जायगी।

2. इसी प्रकार किसी वस्तु का उसके पृथक् **गुणों के संघात** के साथ भी तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि शक्कर मात्र श्वेतता, मात्र कठोरता एवं मात्र मधुरता का समुच्चय ही नहीं है। शक्कर की वास्तविकता उसके एकत्व (Unity) में निहित है।

3. पर किसी वस्तु के एकत्व का हमें कहाँ दर्शन होता है ? किसी वस्तु का एकत्व न तो विविक्त गुणों के भीतर दिखाई पड़ता है और न गुणों के बाहर ही। ऐसी स्थिति मे किसी वस्तु का एकत्व निरर्थक हो जाता है।

4. किन्तु हम शक्कर या किसी अन्य वस्तु के एकत्व पर इतना बल ही क्यों दें ? हम क्यों न वस्तु के एकत्व का परित्याग कर केवल यह कहें कि वस्तु कुछ नहीं **विभिन्न गुणों का अन्तस्सम्बन्ध** (Properties in relation) है। किन्तु यहाँ हमारे समक्ष स्वाभाविक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि **सम्बन्ध** (Relation) की क्या स्थिति है ?

(i) निश्चित रूप में 'सम्बन्ध' का किसी संबन्धी या पद के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। यह कोई नहीं कहता कि "द के पहले बराबर स है" अथवा " 'द के दक्षिण ओर' बराबर य है"।

(ii) क्या 'सम्बन्ध' को एक गुण के रूप में घटित किया जा सकता है ? कुछ दार्शनिकों के अनुसार 'संबंध' एक प्रकार का गुण है जो सम्बन्धियों के भीतर निहित होता है। किन्तु इससे भी समस्या का समाधान नहीं होता। 'यदि आप उद्देश्य में एक ऐसे विधेय की स्थापना करते हैं जो उद्देश्य से भिन्न है तो आप उद्देश्य में एक ऐसे गुण का विधान करते हैं जो वह नहीं है, तथा यदि आप उद्देश्य में एक ऐसे विधेय की स्थापना करते हैं जो उससे भिन्न नहीं है, तो आप उद्देश्य के विषय में कुछ भी कथन नहीं करते[1], । अतः 'संबंध' को गुण के रूप में घटित नहीं किया जा सकता।

(iii) यदि संबंध को केवल एक पद की विशेषता न मानकर दोनों ही पदों की अनिवार्य विशेषता के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो भी कठिनाइयाँ शेष रहती हैं। कारण यह है कि संबंध दोनों पदों के पूर्व-अस्तित्व की कल्पना करता है। यदि यह कहा जाय कि पद संबंध से अलंकृत होकर ही संबंधित होते हैं तो वह उचित न होगा।

(iv) ब्रैडले ने यहाँ एक चौथे विकल्प की ओर भी संकेत किया है जिसमें 'संबंध' को किसी पदार्थ का गुण न मानकर उसे एक स्वतन्त्र अस्तित्व देने की चेष्टा की जाती है। उदाहरण के लिए अ और ब इन दो वस्तुओं के बीच स नामक संबन्ध है जो अ और ब दोनों से स्वतन्त्र है। किन्तु इससे भी समस्या का समाधान नहीं होता। बात यह है कि स के स्वतन्त्र होने से संबन्ध की जो समस्या अ और ब के बीच विद्यमान थी वह एक ओर अ और स के बीच तथा दूसरी ओर ब और स के बीच उत्पन्न हो जाती है। इससे हमारे चिन्तन में अनवस्था-दोष आना अनिवार्य हो जाता है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु की गुणों एवं उनके बीच पारस्परिक संबंधों के माध्यम से समझने की चेष्टा करना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। दो वस्तुओं के बीच वास्तविक सम्बन्ध की कल्पना वहीं की जा सकती है जहाँ संबन्ध वस्तुओं के मूल्य पर स्थापित किया गया हो अथवा वह उन वस्तुओं के भीतर ही किसी प्रकार स्थित हो अथवा वह उन वस्तुओं से परस्पर संबद्ध हो।[3]

---

1. आभास और सत्, पृ० 17, "If you predicate what is different, you ascribe to the subject what it is not, and if you predicate what is not different, you say nothing at all."

2. वही पृ० 18, "But such a makeshift leads at once to the infinite regress".

3. वही, पृ० 18, "If it is to be real, it must be so somehow at the expense of the terms, or at least, mnst be something which appears in them or to which they belong."

अ और ब के बीच परस्पर संबन्ध का निहितार्थ यह है कि उनके बीच समान तात्विक आधार है।[1] यह तात्विक आधार वह अज्ञात इकाई है जो नाना प्रकार के भेदों को धारण किए रहती है और उनके बीच समन्वय भी स्थापित करती है। ऐसा देखने में आता है कि वस्तुएँ कहीं परस्पर संगति में हैं और कहीं विरोध में। जो संगति में हैं उन्होंने अपने उक्त तात्विक धरातल को प्राप्त कर लिया है जो उन्हें संगति प्रदान करता है। इसके विपरीत जो विरोध में हैं उन्हें अभी उस तात्विक धरातल को प्राप्त करना है जो उन्हें सुसंगत बना सकता है।[2]

साथ-साथ यह भी सत्य है कि जहाँ वस्तुओं के बीच संबद्धता या सुसंगति है वहाँ मूल तत्व ने अपने एकत्व का समर्पण करते हुए ही गुणों एवं सम्बन्धों का स्वरूप धारण किया है।[3] उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि तत्व विशिष्टाद्वैत रूप है। उसके विशिष्टाद्वैत रूप को सुरक्षित रखने के लिए मूल तत्व को अपनी 'एकता' का समर्पण करना पड़ता है तथा विभिन्न वस्तुओं को अपनी 'अनेकता' का समर्पण करना होता है। पर इस विकल्प पर अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रेडले कहते हैं कि उक्त विकल्प भी सर्वथा संतोषजनक नहीं है क्योंकि इसके आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि मूल तत्व अपने एकत्व का समर्पण कर नानात्व रूप मे परिवर्तित हो जाता है तथा विभिन्न वस्तुएँ अपने नानात्व का समर्पण कर 'सम्बन्धों' के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। पर इस व्यवस्था का औचित्य प्रस्तुत करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। जब तक हम इस व्यवस्था के औचित्व को न जान लें, उसे स्वीकार करना हमारे लिए असम्भव है। इस विवेचन के आधार पर हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सम्पूर्ण प्रयत्न एक तदर्थ योजना (Makeshift) है।[4] इससे तथ्यों की वास्तविक व्याख्या नहीं की जा सकती। हमारे अनुभव और विमर्श तत्व की अविभाज्य एकता को गुणी और गुण के रूप में विभाजित कर पुनः उनके बीच एकता स्थापित करने की चेष्टा करते हैं जिससे कि विविधता और सामञ्जस्य के बीच सह-अस्तित्व स्थापित किया जा सके। पर जब एक बार भेद-

1. वही, पृ० 18, 'A relation between A and B implies really a substantial foundation within them'.

2. वही, पृ० 19 'Contrary is that "which cannot find the relation which serves to couple them apart. It is a marriage attempted without a modus vivendi'.

3. वही पृ० 19, "Where the whole,relaxing its unity, takes the form of an arrangement, there is co-existence with concord."

4. वही पृ० 19, "The thing avoids contradiction by its disappearance into relations and by its admission of the adjectives to a standing of their own. But it avoids contradiction by a kind of suicide... .....The whole device is a clear makeshift........Such an arrangement may work, but the theoretical problem is not solved."

स्थापित हो जाता है तो वस्तु की मौलिक एकता को प्राप्त करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव हो जाता है।

अन्त में : ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुओं में जो भेद हमें दिखाई देते हैं वे हमारे दृष्टिकोण-भेद के कारण हैं। वस्तु स्वतः अपनी एकता को सदा धारण करती है। हम वस्तु के भीतर जो गुणी और गुण का भेद देखते हैं वे तत्व को देखने के दृष्टिकोण मात्र हैं। इससे तत्व पर कोई आघात नहीं पहुंचता।[1] हाँ! इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इससे हमारी समस्याएँ कम होने की अपेक्षा द्विगुणित हो जाती हैं। गुणी और 'गुण' वास्तविक न होकर तत्व के आभास मात्र हैं

3. सम्बन्ध एवं गुण
(Relation and Quality)

जिस प्रकार 'मूलगुण-उपगुण' और 'गुणी-गुण' नामक बुद्धि की कोटियों के माध्यम से सत् को पूर्ण रूप में नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार सम्बन्ध और गुण नामक कोटियाँ भी आन्तरिक विसगतियों से परिपूर्ण हैं और उनके माध्यम से तत्व का सम्यक् बोध नहीं किया जा सकता। इसका थोड़ा आभास हमें पूर्व प्रकरण में ही मिल गया था। ब्रैडले इस प्रतिपाद्य विषय को अपनी शैली में निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं : "सम्बन्धों एवं गुणों के माध्यम से जो प्रदत्त तथ्यों का विन्यास किया जाता है वह व्यावहारिक दृष्टि से भले ही अनिवार्य हो पर सैद्धान्तिक दृष्टि से वह बोधगम्य नहीं है। अतः इस कोटि के माध्यम से प्रस्तुत सत् वास्तविक न होकर आभास ही है।"[2]

ब्रैडले के अनुसार जब हम 'सम्बन्ध' और 'गुण' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे यही ध्वनित होता है कि ये दोनों परस्पर-स्वतंत्र इकाइयाँ हैं। वस्तुवादी (Realists) इस मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि गुण की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। गुण का पहले एक पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और इसके बाद ही वह किसी अन्य गुण से सम्बद्ध होता है। ब्रैडले वस्तुवाद से अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि "सम्बन्धों से पृथक् गुणों का कोई अस्तित्व नहीं है। सम्बन्धों के बिना गुणों की अपनी कोई सत्ता नहीं है।" इसी प्रकार गुणों के बिना सम्बन्धो की भी कल्पना नहीं की जा सकती। जब हम किसी तथ्य को सम्बन्धों एवं गुणों की कोटियों के माध्यम से वर्णन करने की चेष्टा करते हैं, हमारा चिन्तन नाना प्रकार के विरोधाभासों एवं व्याघातों से दूषित हो जाता है। इन विरोधाभासों को स्पष्ट करने के लिए ब्रैडले निम्न चार विकल्पों का परीक्षण करते हैं और अन्त में निष्कर्ष निकालते हैं कि सम्बन्ध और गुण आभासिक हैं। वे चारों विकल्प इस प्रकार हैं—

---

1. वही, पृ० 20. "The thing itself maintains its unity, and the aspects of adjective and substantive are anly our points of view. Hence, they do no injury to the real."

2. आभास और सत्, पृ०. 21. "The arrangement of given facts into relations and qualities may be necessary in practice, but it is theoretically unintelligible. The reality so characterized, is not true reality, but is appearance."

(1) गुणों की कल्पना सम्बन्धों के बिना नहीं की सकती ।

(2) गुणों की कल्पना सम्बन्धों के साथ भी नहीं की जा सकती ।

(3) सम्बन्ध की कल्पना गुणों के बिना नहीं की जा सकती ।

(4) सम्बन्ध की कल्पना गुणों के साथ भी नहीं की जा सकती ।

ब्रैडले उपर्युक्त सभी विकल्पों का तार्किक परीक्षण करते हैं और सब को तार्किक दोषों से ग्रस्त पाते हैं । इन चारों विकल्पों को संपीड़ित कर वे उन्हें निम्न प्रतिपाद्य विषय के रूप में प्रकट करते हैं : **संबन्ध गुणों को पूर्वकल्पित करते हैं तथा गुण सम्बन्धों को पूर्वकल्पित करते हैं** ।[1] अर्थात् गुणों के बिना न संबन्धों की कल्पना की जा सकती है और न संबन्धों के बिना गुणों की ही कल्पना की जा सकती है । अब हम उपर्युक्त चारों विकल्पों पर पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत करेंगे—

1. सम्बन्धों के बिना गुण असत हैं ।[2]

संबन्धों के बिना गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती । ब्रैडले ने इस विषय का दो दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया है : प्रथम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से और द्वितीय तार्किक दृष्टिकोण से ।

(अ) **मनोवैज्ञानिक युक्ति**—यदि हम गुणों के स्वरूप का अध्ययन करें तो देखेंगे कि द्रष्टा एवं परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ गुणों में भी परिवर्तन होता रहता है । उदाहरण के लिए एक वृत्ताकार मेज को ही ले लीजिए । निकट से देखने पर मेज वृत्ताकार दिखाई देती है; थोड़ी दूर जाने पर वही मेज अण्डाकार हो जाती है, थोड़ी दूर और जाने पर वह रेखाकार हो जाती है तथा अधिक दूरी पर वही मेज विन्दु का आकार ग्रहण कर लेती है और अन्त में अधिकतम दूरी पर वह बिलकुल अदृश्य हो जाती है। संयोग की स्थिति में गुलाब की लालिमा आह्लाद उत्पन्न करती है; वियोग की स्थिति में वह दुःख प्रदान करती है पर योग की स्थिति में उसके प्रति तटस्थ भाव रहता है । इस प्रकार परिस्थितियों एवं द्रष्टा में परिवर्तन के साथ गुणों में भी परिवर्तन होता रहता है । अतः गुण सम्बन्धों पर ही आश्रित होते हैं ।

यह ठीक है कि जब हम चेतना की अभेदित अनुभूति को देखते हैं तो वहाँ न तो कोई गुण दिखाई देता है, और न कोई सम्बन्ध ही । पर ज्यों ही हमें किसी गुण का ज्ञान होता है वहाँ सम्बन्ध अवश्य दृष्टिगोचर हो जाता है । किसी द्रष्टा के साथ सम्बन्ध के बिना किसी गुण की कल्पना नहीं की जा सकती ।

कुछ लोग यह आक्षेप लगा सकते हैं कि तत्व के भीतर गुण तो रहेंगे ही चाहे हम उनका प्रत्यक्षीकरण करें या न करें । किन्तु ब्रैडले के अनुसार यह कथन ठीक

---

1. वही, पृ० 21 "Relation pre-supposes quality and quality relation."

2. वही, पृ० 21. "Qualities are nothing without relations."

नहीं है। सम्बन्ध के बिना किसी गुण की कल्पना करना प्रक्रिया और प्रतिफल के पृथक्करण पर निर्भर करता है[1] जो वस्तुतः सही नहीं है।

(ब) तार्किक युक्ति—सम्बन्ध के बिना गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती। इसका समर्थन करने के लिए ब्रैडले ने एक तार्किक युक्ति भी दी है जो निम्न है: कल्पना किया कि अ और ब दो गुण हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं। यदि अ और ब एक दूसरे से भिन्न हैं तो यह भिन्नता कहीं न कहीं स्थित होनी चाहिए। यदि अ और ब की भिन्नता अ और ब के बाहर स्थित है तो तुरन्त दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। तथा यदि अ और ब की भिन्नता अ और ब के भीतर स्थित है तो भिन्नता की यह समस्या इन गुणों के बीच उत्पन्न हो जाती है। अ के भीतर उसका एक अपना गुण होगा और दूसरा उसका अन्यत्व (Otherness) होगा। यही बात ब पर भी लागू होगी। ऐसी स्थिति में अ और ब के भीतर सम्बन्ध स्थापित हो जायगा जिसे हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :
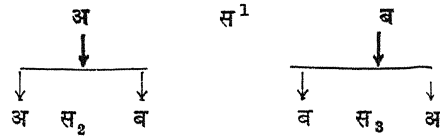
संक्षेप में : सम्बन्ध के बिना भिन्नता की कल्पना नहीं की जा सकती।[2] यदि भेद नहीं है तो गुण भी नहीं है क्योंकि तब सभी कुछ अभेदित ही रहेगा। किन्तु यदि संसार में भेद हैं तो वहाँ सम्बन्ध अवश्य रहेगा।[3] इस प्रकार ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि सम्बन्ध के बिना गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती। उनका यह मत उनके विज्ञानवाद के अनुकूल ही है।

2. सम्बन्धों के साथ भी गुण असत् हैं।[4]

यदि सम्बन्धों के बिना गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती तो सम्बन्धों के साथ भी गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती। सम्बन्धों के साथ गुणों के होने का तात्पर्य यह है कि किसी न किसी रूप में गुण सम्बन्धों पर आश्रित होते हैं तथा गुणों का कुछ

1. वही, पृ० 23. "But such an answer depends on the separation of product from process, and this separation seems indefensible."

2. वही, पृ० 24, "In brief, diversity without relation seems a word without meaning."

3. वही, पृ०, 25. "..........if there are no differences, there are no qualities, since all must fall into one. But, if there is any difference, then that implies a relation."

4. वही, पृ० 25, "Unfortunately taken together with them, they are equally unintelligible."

न कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व भी पाया जाता है ।[1] पर इस प्रकार विचार करने से किसी गुण की एकता (Unity) भंग हो जाती है तथा उसके भीतर विविधता (Diversity) उत्पन्न हो जाती है । कल्पना किया कि अ और ब दो गुण हैं जिनके बीच स नामक सम्बन्ध पाया जाता है । चूँकि अ, ब और स तीनों साथ पाए जाते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि अ के भीतर एक स्वतन्त्र तत्व अ है तथा दूसरा परतन्त्र तत्व इ है जो ब के साथ सम्बन्ध होने के कारण उत्पन्न हुआ है । किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि पहले जो सम्बन्ध की समस्या अ और ब के बीच थी, वही अब अ और इ के बीच उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार हमारे चिन्तन में अनवस्था दोष की प्राप्ति हो जाती है । जो समस्या अ और ब के बीच थी, वही ब और अ के बीच भी उसी प्रकार उत्पन्न की जा सकती है । इस तार्किक प्रक्रिया को हम निम्न प्रकार अंकित कर सकते हैं :
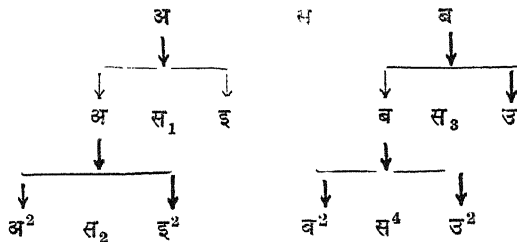
इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु का एक दोहरा स्वभाव है । वह स्वतन्त्र और परतन्त्र दोनों है । वह हेतु (Condition) और परिणाम (Result) दोनों है । यहाँ प्रत्येक वस्तु में एक ऐसी विखण्डन (Fissure) की प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है जो अनन्त तक जारी रहती है ।[2] उसका कहीं अन्त नहीं होता । इस प्रकार सम्बन्धों के साथ भी गुणों की कल्पना नहीं की जा सकती ।

3 गुणों के बिना सम्बन्ध असत् हैं ।

ब्रैडले के अनुसार गुणों के बिना सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती । सम्बन्धी के बिना सम्बन्ध का विचार शब्दाडम्बर मात्र है ।[3] पदों का अस्तित्व सम्बन्धों से स्वतन्त्र होना चाहिए अन्यथा सम्बन्ध की कल्पना ही नहीं की जा सकती । यह कहना कि सम्बन्ध स्वयं अपने सम्बन्धियों को उत्पन्न करता है बिलकुल निरर्थक धारणा है ।[4] पदों के बिना सम्बन्ध का विचार करना एक अमूर्त विचार है जिसका संसार में कहीं अस्तित्व नहीं है ।

1. वही, पृ० 26, "Hence the qualities must be, and must also be related."

2. वही, पृ० 26, "We, in brief, are led by a principle of fission which conducts us to no end."

3. वही, पृ० 27, "In the first place, a relation without terms seems mere verbiage."

4. वही, पृ० 27, ".........a relation which somehow precipitates terms..........is really a phrase without meaning."

4. गुणों के साथ भी सम्बन्ध असत् हैं ।

अन्त में ब्रैडले एक चतुर्थ विकल्प पर भी विचार करते हैं और कहते हैं कि गुणों के साथ भी सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती । सम्बन्ध का गुणों के साथ कैसा सम्पर्क है इसका सार्थक विचार नहीं किया जा सकता । यदि संबन्ध को हम एक ठोस और वास्तविक वस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं तो इस ठोस वस्तु का गुणों के साथ संबन्ध स्थापित करने के लिए अन्य संबन्धों की कल्पना करनी होगी और इस प्रकार हमारे चिन्तन में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी ।[1] तथा यदि संबन्ध को हम एक अवास्तविक एवं तरल वस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं तो वह गुणों के बीच संबन्ध स्थापित कर ही नहीं सकता ।[2]

उपर्युक्त तर्कों पर विचार करने के बाद ब्रैडले इस निष्कर्ष पद पहुँचते हैं कि संबन्धात्मक विचार—वह जो पदों और संबन्धों के माध्यम से संचालित होता है, केवल आभास को ही व्यक्त करता है, सत् को नहीं । यह एक कामचलाऊ वस्तु है, एक युक्ति है, एक व्यावहारिक समझौता है जो अनिवार्य होते हुए भी असमर्थनीय है ।[3]

4. जीवात्मा
(Self)

प्राय: लोग आत्मा को सत् ही समझते हैं क्योंकि इसके विषय में संदेह प्रकट नहीं किया जा सकता । किन्तु ब्रैडले आत्मा को सत् न समझकर उसे आभास मात्र ही स्वीकार करते हैं । स्पष्ट है कि यहाँ ब्रैडले आत्मा को जीवात्मा के रूप में ही स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार जीवात्मा की कल्पना में इतनी विसंगतियाँ हैं कि उसे सत् कभी नहीं माना जा सकता । अब, वे जीवात्मा के विभिन्न पर्यायों पर विचार करते हुए उसका खण्डन प्रस्तुत करते हैं ।

(i) देहात्मवाद—प्रथम विकल्प में ब्रैडले आत्मा का देह या शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं और प्रश्न करते हैं कि क्या इस देहात्मा को सत् कहा जा सकता है ? स्पष्ट है कि शरीर को ही हम आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि प्रत्येक समझदार व्यक्ति आत्मा और अनात्मा में भेद करता है ।

यह कोई नहीं कहता कि "मैं शरीर हूँ ।" सब यही कहते हैं कि "यह मेरा शरीर है ।" आत्मा विषयी हैं और शरीर विषय है । अतः, दोनों के बीच तादात्म्य

---

1. वही, पृ०, 28, "If you take the connection as a solid thing you have got to show, and you cannot show, how the other solids are joined to it."

2. वही, पृ० 28, "And, if you take it as a kind of medium or unsubstantial atmosphere, it is a connection no longer."

3. वही, पृ० 28, "....a relational way of thought—any one that moves by the machinery of terms and relations—must give appearance and not truth. It is a makeshift, a device, a mere practical compromise, most necessary but in the end most indefensible."

किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है ? अतः, ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि वर्तमान उद्देश्य की दृष्टि से आत्मा के इस प्रकार के अर्थ का कोई मूल्य नहीं है।

(ii) **अनुभूतियों के समुच्चय रूप में आत्मा**—क्या आत्मा का अनुभूतियों के समुच्चय के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है ? अनुभूतियों के समुच्चय से यहाँ तात्पर्य हमारी संवेदनाओं, भावनाओं एवं विचारों के उस पुञ्ज से है जो किसी क्षण हमारे भीतर विद्यमान रहता है। इस विकल्प पर विचार करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि अनुभूतियों के समुच्चय रूप में भी आत्मा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि हम वर्तमान अनुभूतियों के स्वरूप को समझने का प्रयास करें तो देखेंगे कि अनुभूतियाँ विषय-वस्तुओं से सम्बंधित होती हैं और बाह्य वस्तुओं के बिना हम उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। यदि बाह्य परिस्थितियों को परिवर्तित कर दिया जाय तो निश्चित रूप में हमारी अनुभूतियों में भी परिवर्तन आ जायगा। इसके फल-स्वरूप 'आत्मा' और 'अनात्मा' की सीमाओं को निश्चित करना हमारे लिए सम्भव नहीं हो सकेगा।

अतः ब्रैडले इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्तमान अनुभूतियों के समुच्चय के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता।

(iii) **औसत व्यक्तित्व के रूप में आत्मा**—आत्मा के विषय में एक तीसरे विकल्प पर विचार करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि आत्मा किसी एक क्षण की अनुभूतियों का संग्रह नहीं है वरन् वह अनुभूतियों की एक नियत औसत मात्रा है।[1] किन्तु आत्मा के इस रूप के विरूद्ध वे सभी आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं, जो 'अनुभूतियों के समुच्चय रूप आत्मा के विरुद्ध उठाई गई थीं। इसमें भी 'अनात्म' तत्व सम्मिलित होता है और इस तत्व के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। पर इस तत्व को आत्मा से पृथक् भी नहीं किया जा सकता क्योंकि कभी-कभी तो इतने अभिन्न रूप से यह उससे युक्त हो जाता है कि उसके पृथक करने पर उसका अस्तित्व ही खण्डित हो जाता है। इस विकल्प के सम्बन्ध में एक अन्य कठिनाई यह है कि इस 'औसत व्यक्तित्व' का हमें ज्ञान कैसे हो सकता है ? औसत वहीं निकाला जा सकता है जहाँ स्थिर इकाइयाँ हों जैसी कि गणितीय इकाइयाँ[2] होती हैं। किन्तु अनुभूतियाँ सदा तरल एवं परिवर्तनशील होती हैं। अतः, इनका औसत निकालना सदा कठिन होता है।

औसत प्राप्त करने के सम्बन्ध में ब्रैडले ने एक दूसरी कठिनाई की ओर भी संकेत किया है। जिसे हम सामान्यतः एक व्यक्तित्व कहते हैं वह जीवन-संघर्षों के कारण अथवा परिस्थितियों के घात-प्रतिघात के कारण कई भागों में खण्डित हो जाता है। कई बार तो व्यक्तित्व में इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि हमारे लिए यह कहना कठिन हो जाता है कि यह वही प्राचीन व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व का सातत्य सदा एक नहीं रहता। ऐसी स्थिति में जब हम औसत व्यक्तित्व की बात करते

---

1. वही, पृ० 66, "Not the mass of any one moment, but the constant average mass, is the meaning of self."

2. Mathematical Units.

हैं तो स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह औसत व्यक्तित्व आमूल परिवर्तन के पूर्व का औसत व्यक्तित्व है अथवा उसके बाद का औसत व्यक्तित्व है? स्पष्ट है कि यहाँ हमें एक से अधिक औसत व्यक्तित्व की कल्पना करनी होगी। अत: आत्मा के सम्बन्ध में औसत व्यक्तित्व की कल्पना एक भ्रामक विचार है।[1]

(iv) **सार के रूप में आत्मा**—चौथे विकल्प के रूप में ब्रैडले ने आत्मा का किसी व्यक्ति के सार-तत्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा की है। यह सार-तत्व हमारी विशिष्टताओं को अभिव्यक्त करता है और अन्य व्यक्तियों एवं वस्तुओं से हमें पृथक् करता है। यही सार-तत्व ही हमारी आत्मा है।

अब, प्रश्न यह है कि यह सार-तत्व है क्या? यदि इस सार-तत्व को जीवन की विभिन्न अनुभूतियों से सम्बन्धित मान लें तो यह 'सार-तत्व' रह ही नहीं जायगा क्योंकि अनुभूतियाँ सदा परिवर्तनशील होती हैं। जो परिवर्तनशील अनुभूतियों से सम्बन्धित होगा वह परिवर्तनों से अछूता कैसे रह सकता है? 'सार-तत्व' को अनुभूतियों से सम्बद्ध मानने पर उसे भी परिवर्तनशील मानना होगा। पर जो परिवर्तनशील है वह सार-तत्व नहीं हो सकता।[2] यदि सार-तत्व की नित्यता को सुरक्षित रखने के लिए उसे परिवर्तनशील अनुभूतियों से नितान्त पृथक् कर लिया जाय तो वह इतना अधिक संकुचित हो जायगा कि उसे 'सार-तत्व' कहने में संकोच का अनुभव होगा।[3]

सार-तत्व की आगे व्याख्या करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उसके प्रत्यय में 'सातत्य' या एकता (Identity) का होना अनिवार्य है। यह एकता दो प्रकार की हो सकती है: या तो वह शारीरिक एकता होगी या मानसिक एकता। पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो देखेंगे कि हमारे जीवन में जन्म से मृत्यु पर्यन्त न तो कहीं शारीरिक एकता दिखाई पड़ती है और न मानसिक एकता ही। शरीर और मन दोनों इतने परिवर्तनशील हैं कि उनमें एकता ढूंढ़ना व्यर्थ की ही बात समझी जायगी।

पुन:, कुछ लोग अखण्डित स्मृति के आधार पर आत्मा की कल्पना करते हैं। पर ब्रैडले के अनुसार स्मृति भी खण्डित एवं एकाङ्गी होती है। स्मृति पर पूर्ण रूप में भरोसा भी नहीं किया जा सकता। स्मृति कभी हमें धोखा भी दे जाती है। अत: स्मृति के आधार पर नित्य आत्म की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है?

(v) **चिदणुओं के रूप में आत्मा**—पाँचवें विकल्प के रूप में ब्रैडले प्रश्न करते हैं कि क्या लाइब्नित्स के चिदणुओं को आत्मा की संज्ञा दी जा सकती है?

1. वही, पृ० 68, "When we look at the facts and survey the man's self from the cradle to the coffin, we may be able to find no one average."

2. वही. पृ० 68, "If you take an essence which can change, it is not an essence at all."

3. वही, पृ० 69, "This wretched fraction and poor atom, too mean to be in danger—do you mean to tell me that this bare remnant is really the self.'"

चिदणुओं के भीतर मुख्यतया दो विशेषताएँ पाई जाती हैं : स्वतन्त्रता एवं अनेकता। साथ-साथ उनमें चैतन्य भी पाया जाता है। ब्रैडले के अनुसार आत्मा की इस परिकल्पना में कई कठिनाइयाँ पाई जाती हैं। प्रथम, यदि चिदणु चेतन हैं तो उनमें अनेकता का क्या आधार हो सकता है ? द्वितीय, यदि सभी चिदणु स्वतन्त्र एवं आत्म-केन्द्रित इकाइयाँ हैं तो उन्हें अनेकता का ज्ञान ही किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ? पुनः, यदि सभी चिदणु स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं तो उनके बीच सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है ? उनके बीच सम्बन्ध की कल्पना करने पर चिदणुओं की स्वतन्त्रता एवं निरपेक्षता में व्याघात पहुँचेगा।[1] यही नहीं ब्रैडले के अनुसार, चिदणुओं के रूप में आत्मा की कल्पना करने पर हमारी विद्यमान समस्याओं में वृद्धि ही होगी और किसी समस्या का समाधान भी नहीं हो सकेगा।[2]

(vi) **निम्न-सम्बन्धात्मक चेतना के रूप में आत्मा**—क्या आत्मा का निम्न सम्बन्धात्मक चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है ? इस मत के विरुद्ध ब्रैडले कहते हैं कि निम्न-सम्बन्धात्मक चेतना (Infra-relational Consciousness) प्रत्ययात्मकता या काल्पनिकता (Ideality) के दोष से दूषित है। दूसरी बात यह है कि निम्न-सम्बंधात्मक अनुभूति में स्वातिक्रमण (Self-transcendence) की प्रवृत्ति विद्यमान होती है। यह सम्बन्धात्मक अनुभूति में परिणत होना चाहती है। अतः ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि निम्न-सम्बन्धात्मक चेतना को आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(vii) **सम्बन्धात्मक चेतना के रूप में आत्मा**— सम्बन्धात्मक चेतना (Relational Consciousness) के रूप में भी आत्मा को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इस चेतना में तत् (That) और किम् (What) का स्पष्ट भेद होता है और इस प्रकार यह काल्पनिकता के दोष से दूषित होता है। इसमें व्यवहितत्व का दोष भी पाया जाता है। इस प्रकार सम्बन्धात्मक चेतना वास्तविक आत्मा नहीं है।

(viii) **आत्म-चेतना के रूप में आत्मा**—यदि आत्मा को आत्म-चैतन्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो उसमे भी बहुत सी असंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं। यदि इस आत्म-चैतन्य का सूक्ष्म परीक्षण किया जाय तो हम देखेंगे कि यह ज्ञाता और ज्ञेय दो भिन्न पक्षों का तादात्म्य है। इन दो भिन्न और विरोधी पक्षों के बीच किस प्रकार तादात्म्य हो सकता है, इसका समुचित समाधान होना सम्भव नहीं है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर स्वीकृत आत्म-चैतन्य में विद्यमान 'आत्म' एवं 'अनात्म' इन दोनों तत्वों में कितनी भी पारदर्शिता क्यों न आ जाय, उनकी विभाजन-रेखा को समाप्त करना असम्भव है।

---

1. वही, पृ० 101-102, "If there is more than one self in the universe, we are met by the problem of their relation to each other ...but relations admitted again are fatal to the monad's independence."

2. वही, पृ० 103, "Monadism on the whole will increase and will add to the difficulties which already exist and it will not supply us with a solution of any single one of them."

अन्त में, ब्रैडले कहते हैं कि 'आत्म' एवं 'अनात्म' की सीमाएँ सदा परिवर्तनीय हैं। अतः सिद्धान्ततः यह कहना कठिन है कि इसमें कौन सी स्थायी रूप से आत्मा है और कौन अनात्मा। व्यावहारिक रूप में : निरीक्षण के किसी भी एक बिन्दु पर जिस वस्तु को अध्ययन हेतु पृथक कर लिया जाता है उसे 'आनात्म' और शेष सभी को 'आत्मा' कहा जाता है। बाद में जब उस बिन्दु में रुचि समाप्त हो जाती है और किसी अन्य वस्तु में हम रुचि लेने लगते हैं तो वह वस्तु 'आनात्म' हो जाती है और शेष सभी तत्व 'आत्मा' कहलाता है। अतः, 'आत्मा' और 'अनात्मा' का भेद हमारी रुचियों पर निर्भर करता है और उसका कोई पारमार्थिक महत्व नहीं है।

(ix) **व्यक्तिगत अनन्यता के रूप में आत्मा**—कुछ लोग व्यक्तिगत अनन्यता के रूप में आत्मा को समझने की चेष्टा करते हैं। उनके अनुसार जीवन के तमाम परिवर्तनों के बीच आत्मा एक स्थिर अपरिवर्तनीय एकता है। किन्तु ब्रैडले के अनुसार इस अपरिवर्तनीय एकता को समझना असम्भव है। जिस व्यक्तिगत अनन्यता की ओर यहाँ संकेत किया गया है वह दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ बदलती रहती है। अतः, अनन्यता की यह स्वीकृति आकस्मिक ही प्रतीत होती है। इसका कोई तार्किक आधार नहीं है।

यदि तत्वमीमांसीय दृष्टि से विचार किया जाय तो देखेंगे कि आत्मा की उपर्युक्त कल्पना का केवल निषेधात्मक महत्व ही है क्योंकि यह आत्मा के विषय में खण्डित इकाइयों के विचार का निषेध करती है। व्यावहारिक दृष्टि से यह परिकल्पना मूल्यवान इसलिए है कि यह स्मृति का एक ठोस आधार प्रस्तुत करती है। पर यहाँ हमारे समक्ष जो सबसे बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है वह यह है कि यह अपरिवर्तनीय समानता किस प्रकार परिवर्तनीय असमानताओं के साथ अपनी संगति स्थापित करती है। इसलिए ब्रैडले ने इसे एक मनोवैज्ञानिक दानव (Psychological Monster) की संज्ञा दी है।

सत् का सामान्य स्वरूप
(The General Nature of Reality)

ब्रैडले ने सत् के सामान्य स्वरूप पर दो प्रकार से विचार किया है : प्रथम उसके अमूर्त या तार्किक स्वभाव (Abstract Nature) पर एवं द्वितीय उसके मूर्त स्वभाव (Concrete Nature) पर। मूर्त स्वभाव पर विवेचन के पूर्व हम सत् के अमूर्त स्वभाव का वर्णन करेंगे।

आभास के खण्ड में हमने मूलगुण एवं उपगुण, गुणी एवं गुण, गुण एवं संबंध इत्यादि विकल्पों के माध्यम से तत्व को जानने की चेष्टा की, किन्तु उनके तार्किक विश्लेषण के बाद देखा कि वे सभी आत्म-विसंगतियों से परिपूर्ण हैं। तत्व इन विधेयों में से किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकता। वे आभास मात्र हैं। किन्तु जब हम उपर्युक्त कोटियों को आभास मान कर उन्हें अस्वीकार कर देते हैं तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे पूर्णतया असत् हैं। उनका तत्व के भीतर कहीं न कहीं अस्तित्व अवश्य होना चाहिए क्योंकि वे हमारे ज्ञान के विषय हैं। उन्हें पूर्णतया असत् कहने

का कोई अर्थ नहीं है। तत्व को किसी न किसी रूप में आभास को भी धारण करना चाहिए अन्यथा उस सीमा तक वह अपूर्ण हो जायगा।[1] आभासों के विश्लेषण का यही एक भावात्मक निष्कर्ष है।

पर जहाँ तक तत्व के स्वभाव का प्रश्न है, हम उसके विषय में कुछ भी नहीं जानते। साथ-साथ यह भी सही है कि तत्व के विषय में हम पूर्णता अनभिज्ञ भी नहीं हैं। उसके विषय में हमें न तो पूर्ण ज्ञान है और न पूर्ण अज्ञान, अन्यथा हमारे भीतर तत्व के विषय में कोई जिज्ञासा ही नहीं हो सकती। चूँकि हमारे भीतर तत्व-जिज्ञासा है, इसका अर्थ ही यह है कि तत्व के विषय में हमें कुछ न कुछ जानकारी अवश्य है। अब हम तत्व के अमूर्त स्वभाव का वर्णन करेंगे।

(1) **मूल-तत्व वह है जो आत्म-निषेधक नहीं है**।[2] जो आत्म-निषेधक है वह आभास है तथा जो आत्म-निषेधक नहीं है वह सत् है। तत्व का यह निरपेक्ष निकष (Absolute Criterion) है क्योंकि इसके निषेध में भी इसकी वैधता प्रगटहो जाती है। यदि कोई व्यक्ति इस निरपेक्ष निकष के प्रति सन्देह प्रगट करे तो वह स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि हमें इस निरपेक्ष निकष की जानकारी न होती तो हम आभासों को "आभास" कह कर उनकी निन्दा किस प्रकार करते? हम जानते हैं कि **"विचार करने का अर्थ निर्णय करना है और निर्णय का अर्थ आलोचना करना है और आलोचना करने का अर्थ है तत्व के किसी निकष का प्रयोग करना।"**[3] इसका तात्पर्य यह है कि जब हम आभासों को आत्म-व्याघातक होने के कारण असत् कहते हैं तो स्पष्ट है कि जो आत्म-संगत होगा वह सत् होगा। यही ब्रैडले का निरपेक्ष निकष है।

उपर्युक्त निकष के विरुद्ध यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि वह विशुद्ध निषेधात्मक है और निषेधात्मक निकष तत्व के विषय में किसी ज्ञान की प्राप्ति नहीं कराता। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उपर्यक्त निकष विशुद्ध निषेधात्मक नहीं है क्योंकि विशुद्ध निषेध बिलकुल असम्भव है।[4] प्रत्येक निषेध का कोई न कोई भावात्मक आधार अवश्य होता है। ब्रैडले ने इसी तथ्य को निम्न प्रकार व्यक्त किया है :

---

1. वही, पृ० 119, "For reality must own and cannot be less than appearance."

2. वही, पृ० 120, 'Ultimate reality is such that it does not contradict itself."

3. आभास और सत्, पृ० 120, "Hence, to think is to judge, and to judge is to criticize and to criticize is to use a criterion of reality."

4. Bare negation is logically impossible.

"हमारा मानदण्ड विसंगति का निषेध करता है;अतः सुसंगति का आग्रह करता है। यदि हम इस बात से आश्वस्त हैं कि असंगत असत् है, हमें तर्कतः इस बात से उतना ही आस्वस्त होना चाहिए कि तत्व सुसंगत है।[1]

(2) तत्व का ऐसा स्वभाव है कि वह प्रत्येक आभासिक वस्तु को अपने भीतर सुसंगत रूप में समाहित करता है।2 हम ऊपर देख चुके हैं कि तत्व सुसंगत है। साथ-साथ संसार में विसंगतियों का भी अस्तित्व है जो तत्व के बाहर नहीं हो सकती। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सुसंगति में विसंगतियों की स्थिति क्या हो सकती है? यदि तत्व के भीतर विसंगतियाँ विसंगतियों की तरह विद्यमान होंगी तो इससे तत्व के स्वरूप का व्याघात होगा। अतः यही निष्कर्ष निकालना श्रेयस्कर है कि विशाल तत्व के भीतर विसंगतियाँ अपना स्वरूप खोकर सुसंगति के रूप में परिणत हो जाती हैं।

(3) तत्व के द्वितीय स्वभाव का अनिवार्य परिणाम यह है कि वह अद्वितीय है। तत्व के भीतर नानात्व हो सकता है पर वह तत्व के एकत्व का व्याघात नहीं करता। यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि तत्व अनेक है तो कठिनाई यह उत्पन्न होगी कि उनकी स्वतन्त्रता खण्डित हो जायगी। स्वतन्त्रता तत्व का प्रधान लक्षण है। तत्वों की बहुलता का उनकी स्वतन्त्रता के साथ समन्वय स्थापित नहीं किया जा सकता।3 दूसरी कठिनाई यह है कि यदि अनेक स्वतन्त्र तत्वों का अस्तित्व है तो प्रत्येक तत्व अपने में ही परिसीमित होगा तथा दूसरे तत्वों से बिलकुल ही अप्रभावित होगा। ऐसी स्थिति में नानात्व का ज्ञान भी असम्भव ही होगा।4 अतः, ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि स्वतन्त्रता और सह-अस्तित्व का संयोग असंगत है।5 तत्व अनेक नहीं वरन् एक होना चाहिए। यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि स्वतन्त्र तत्वों का सह-अस्तित्व सम्भव है तो हमें उनके बीच सम्बन्धों की कल्पना करनी होगी और सम्बन्धों की कल्पना करते ही उनकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जायगी। बात यह है कि तात्विक समष्टि के आधार के बिना सम्बन्धों की कल्पना

---

1. वही, पृ०, 123, "Our standard denies in-consistency, and therefore asserts consistency. If we can be sure that the inconsistent is unreal, we must, logically, be just as sure that the reality is consistent."

2. वही, पृ० 123, "The character of the real is to possess evrything phenomenal in a harmonious form."

3. वही, पृ० 124, ".... the plurality of the reals cannot be reconciled with their independence."

4. वही, पृ० 124, "We have no knowledge of a plural diversity, nor can we attach any sense to it, if we do not have it somehow as one."

5. वही, पृ० 124"...for absolute independence and co-existence are incompatible."

नहीं की जा सकती और यदि सम्बन्धित पद निरपेक्ष बना दिए जाँय, वे तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।[1] अतः, हम किसी दृष्टि से विचार करें, तत्व अद्वितीय ही होना चाहिए।

(4) "तत्व व्यक्ति-स्वरूप है"—इसका तात्पर्य यह है कि तत्व में किसी प्रकार के विरोध के लिए कोई स्थान नहीं है। वह इसी अर्थ में एक है कि उसके निश्चित स्वरूप के अन्तर्गत सभी भेद एक व्यापक समन्वय में स्थित हो जाते हैं।[2] ब्रैडले की दृष्टि में व्यक्तिगत स्वरूप एवं आत्मगत स्वरूप में भेद है। तत्व आत्मगत नहीं है क्योंकि वह अनात्म का विरोधी होगा। और इस प्रकार आत्मगत और अनात्मगत के बीच द्वन्द्व उपस्थित हो जायगा जो तत्व में सम्भव नहीं है। तत्व के व्यक्ति-स्वरूप में यह तर्कमान्य नहीं है क्योंकि वह तो एकत्व और पूर्णत्व का प्रतिपादक है। तत्व को व्यक्ति-स्वरूप कहने का एक दूसरा भी तात्पर्य है और वह यह है कि तत्व मूर्त सामान्य है। मूर्त सामान्य के भीतर ही भेद और अभेद के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

सत् का मूर्त स्वरूप

तत्व के अमूर्त स्वभाव का वर्णन करने के उपरान्त ब्रैडले उसके मूर्त स्वभाव का वर्णन करते हैं। तत्व के मूर्त स्वभाव का अर्थ उसके अन्तर्विषय से है जिससे कि वह परिपूर्ण है। इस दृष्टि से भी ब्रैडले ने तत्व की कई विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(1) **तत्व चेतन अनुभूति है**—ब्रैडले चैतन्य को ही एकमात्र तत्व मानते हैं। इसी तथ्य को वे दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं: "सत् होना अथवा केवल अस्तित्व होना तभी सम्भव है जब वह चेतना में उपलब्ध हो।"[4] "**संक्षेप में: चेतन अनुभूति ही तत्व है और जो चेतन अनुभूति नहीं है वह असत् है।**"[4] जो सामान्यतः मानसिकीय अस्तित्व कहलाता है उससे बाहर कोई सत्ता या तथ्य नहीं है। ब्रैडले ने चेतन अनुभूति को एक विस्तृत अर्थ में लिया है जिसके भीतर भाव (Feeling), विचार (Thought) और संकल्प (Volition) सभी का समावेश हो जाता है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ब्रैडले चेतन अनुभूति को ही एकमात्र तत्व क्यों मानते हैं? बात यह है कि अनुभूति ही एक ऐसी वस्तु है जिसका

1. वही, पृ० 125, "Relations are unmeaning except within and on the basis of a substantial whole, and related terms, if made absolute, are forthwith destroyed."

2. वही, पृ० 123, "...the real is individual. It is one in the sense that its positive character embraces all differences in an inclusive harmony."

3. वही, पृ० 127, "...that to be real, or even barely to exist, must be to fall within sentience."

4. वही, पृ० 127, "Sentient experience, in short, is reality, and what is not this, is not real."

निराकरण या निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि निराकरण से भी इसकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। इसीलिए उन्होंने चेतन अनुभूति को ही एकमात्र तत्व माना है। "मेरी समझ में जो तथ्य इससे वाह्य है वह शब्द मात्र और एक असफलता है अथवा वह एक आत्म-व्याघाती प्रयत्न है। यह एक दोषपूर्ण प्रत्याहार है जिसका अस्तित्व निरर्थक असंगति है और इसलिए असम्भव है।"[1]

यहाँ हमारे समक्ष एक और प्रश्न उपस्थित होता है और वह यह है कि जिस अनुभूति का ब्रैडले ने तत्व के साथ तादात्म्य स्थापित किया है, उसका स्वरूप क्या है? क्या यह वह अनुभूति है जो आत्मा के ऊपर अनात्म वस्तुओं की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है? यदि विश्व को ज्ञाता-ज्ञेय रूप में विभाजित करते हैं, तो तत्व का कृत्रिम रूप ही ग्रहण किया जा सकेगा। जिस चेतन अनुभूति को ब्रैडले भूमा के रूप में स्वीकार करते हैं वह कोई बौद्धिक चेतना नहीं है जो प्रेक्षक दृष्टि से विश्व के विषय में विचार करती है। वह चेतना केवल हमारी और विश्व की ही चेतना नहीं है वरन् वह सभी चेतन सत्ताओं और विश्व का अतिक्रमण करने वाली ऐसी चेतना है जिसमें मैं और मेरा तथा तुम और तुम्हारा का भेद नहीं रहता। यह वह समष्टि चेतना है जो समस्त विश्व को समाहित करती है तथा जो ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैत से अतीत है। ब्रैडले ने इसी को निरपेक्ष चेतना कहा है, "विषयी को समष्टि से स्वतन्त्र रूप में सत् मानना और और पुनः उस समष्टि को विषयी के विशेषण रूप में अनुभव में स्वीकार करना असमर्थनीय प्रतीत होता है।"[2]

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि "जब मैं सत् की खोज में अनुभव के पास जाता हूँ, वहाँ निश्चित रूप में मुझे विषयी और विषय के स्वतन्त्र अस्तित्व को प्राप्ति नहीं होती। वहाँ हमें जो प्राप्त होता है वह एक प्रकार का अद्वैत है, एक ऐसी पूर्णता है जिसमें भेद तो किए जा सकते हैं किन्तु जिसमें विभाग नहीं किए जा सकते। जब मैं कहता हूँ कि तत्व चेतन अनुभूति है तो यह एक ऐसा विन्दु है जिस पर मैं आग्रह करना चाहता हूँ, यह एक ऐसा आधार है जिसके ऊपर मैं स्थित हूँ।"[3]

---

1. वही, पृ० 128, "The fact that falls elserhere seems, in my mind, to be a mere word and a failure, or else an attempt at self-contradiction. It is a vicious abstraction whose existence is meaningless non-sense and is therefore not possible."

2. वही, पृ० 128, "To set up the subject as real independently of the whole, and to make the whole into experience in the sense of an adjective of that subject, seems to me indefensible."

3. वही, पृ० 128, "For if, seeking for reality, we go to experience what we certainly donot find is a subject or an object or indeed any other thing whatever, standing separate and on its own bottom. What we discover rather is a whole in which distinctions can be made, but in which divisions do not exist. And this is the point on which I insist, and it is the very ground on which I stand, when I urge that reality is sentient experience."

2. **तत्व पूर्ण आप्तकाम है**—तत्व पूर्ण रूप से आप्तकाम की अवस्था है। वह हमारे परम-शुभ प्राप्त करने की इच्छा को पूर्ण रूप में सन्तुष्ट करता है। तत्व हमारे चिन्तन, भावना व संकल्प तीनों का मानदण्ड है व उन्हें सन्तुष्ट करता है। इसका एक निहितार्थ यह है कि परम तत्व के भीतर असन्तुष्ट इच्छाएँ, व्यावहारिक अशान्ति या व्यग्रता नहीं है।[1] वह सत्य, शुभ व सौन्दर्य—जीवन की सभी आवश्यकताओं की संतुष्टि करता है।

3. **सीमित सत्ताओं के लिए परम तत्व का ज्ञान असम्भव है**—ब्रैडले के अनुसार अपूर्ण मनुष्य के लिए परम तत्व को जानना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है[2] क्योंकि अपूर्ण के भीतर पूर्ण को जानने की क्षमता हो ही नहीं सकती। पूर्ण तत्व को जानने के लिए हमें स्वयं पूर्ण बनना होगा किन्तु ऐसी स्थिति में हमारा अपूर्ण अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।[3] अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब वास्तविक ज्ञान में हमारा अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा तो 'ज्ञान' का अर्थ ही क्या होगा? इसका उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि अपूर्ण सत्ताओं के लिए पूर्ण जीवन के विषय में जानना और उसकी अनुभूति करना असम्भव है।[4] हम वर्त्तमान समय में उसका केवल अनुमान ही कर सकते हैं।

4. **परम तत्व अति-व्यक्तिगत है**—ब्रैडले के अनुसार तत्व व्यक्तिगत (Personal) कभी भी नहीं हो सकता क्योंकि व्यक्ति केवल सीमित ही हो सकता है जो तत्व का स्थान नहीं ले सकता। व्यक्तित्व में भेद है, सीमा हैं, अपूर्णता है, विरोध है, अतः उसका प्रयोग सत् के लिए कभी नहीं किया जा सकता। यदि सत् व्यक्तिगत हो सकता है तो वह अति-व्यक्तिगत (Super-personal) ही होगा जिसमें सम्पूर्ण विरोधों एवं भेदों का समन्वय पाया जाएगा।

5. **परम तत्व धर्म का ईश्वर नहीं है**—कुछ लोग परम तत्व का किसी धर्म या सम्प्रदाय-विशेष के ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं जो ब्रैडले को मान्य नहीं है। उनके अनुसार सम्प्रदाय-विशेष का ईश्वर सीमित होता है जो मनुष्य से पृथक् या बाहर अस्तित्व रखता है। तत्व-विज्ञान की दृष्टि से ऐसी अपूर्ण सत्ता निरपेक्ष तत्व का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती।

---

1. वही, पृ० 137, "But, if idea must not clash with sensation, then there cannot in the Absolute be unsatisfied desire or any practical unrest."

2. वही, पृ० 140, "Fully to realise the existence of the Absolute is for finite beings impossible."

3. वही, पृ० 140, "In order thus to know, we should have to be, and then we should not exist."

4. वही, पृ० 140, "What is impossible is to construct absolute life in its detail, to have the specific experience in which it consists."

विचार एवं सत्
(Thought and Reality)

कुछ दार्शनिक जैसे हेगल, विचार और सत् के बीच तादात्म्य स्थापित करते हैं। पर ब्रैडले का मत इससे बिलकुल भिन्न है। उनके अनुसार विचार और सत् के स्वभाव एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उन्हें हम एक कदापि नहीं मान सकते। हाँ, विचार के माध्यम से हम सत् को जानने का प्रयत्न अवश्य कर सकते हैं, चाहे इसमें हमें सफलता मिले अथवा न मिले। किन्तु यह जानने के लिए कि विचार के माध्यम से हमें सत् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि नहीं, हमें विचार और सत् के स्वभाव का विस्तार से परीक्षण करना होगा। सर्वप्रथम हम संक्षेप में सत् के स्वभाव का परीक्षण करेंगे।

सत् का स्वभाव

यदि हम संसार की किसी वस्तु को जिसे हम सत् समझते हैं, लें तो देखेंगे कि उसके भीतर सदा दो पक्ष विद्यमान रहते हैं: प्रथम तत् (That) का पक्ष और द्वितीय किम् (What) का पक्ष। ब्रैडले ने दूसरे शब्दों में इन्हें अस्तित्व (Existence) और अन्तर्वस्तु (Content) नाम दिया है। उपर्युक्त दोनों पक्ष एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते हैं: वे सदा अवियोजनीय होते हैं। यदि हम तत् को किम् के बिना या किम् को तत् के बिना प्राप्त करना चाहें तो यह बिलकुल असम्भव है। वस्तु के भीतर वे केवल प्रभेदनीय हैं, पर विभाज्य नहीं हैं।[1]

विचार का स्वभाव

ब्रैडले के अनुसार सत् में तो अस्तित्व और अन्तर्वस्तु दोनों अविभाज्य होते हैं किन्तु विचार में इन दोनों पक्षों का अवश्य विभाजन पाया जाता है। इसका कारण यह है कि विचार किसी न किसी सीमा तक काल्पनिक या प्रत्ययात्मक अवश्य होता है।[2] प्रत्यय (Idea) के बिना विचार सम्भव नहीं है और अस्तित्व से अन्तर्वस्तु के पार्थक्य में ही विचार निहित है।[3] प्रत्यय किम् मात्र या गुण मात्र ही होता है और इस कारण वास्तविक न होकर केवल काल्पनिक ही होता है। अस्तित्व से गुण के पृथक्करण में ही प्रत्यय की काल्पनिकता निहित होती है।[4]

---

1. वही, पृ० 143, "They are distinguishable only and are not divisible."

2. वही, पृ० 143, "For thought is clearly, to some extent atleast, ideal."

3. वही पृ० 143, "Without an idea there is no thinking, and an idea implies the separation of content from existence."

4. वही, पृ० 144, "For ideality lies in the disjoining of quality from being."

निर्णय
(Judgement)

सत् और विचार के स्वरूपों का वर्णन करने के बाद ब्रैडले निर्णय के स्वरूप का वर्णन करते हैं। निर्णय के माध्यम से ही विचार के पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है।[1] निर्णय में किसी प्रत्यय का तत्त्व के साथ विधान किया जाता है।[2] निर्णय के दो पक्षों : उद्देश्य और विधेय को दर्शाते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उद्देश्य तत्व स्वयं है और विधेय विचार के माध्यम से प्रस्तुत उसकी केवल अन्तर्वस्तु है। दूसरे शब्दों में : उद्देश्य स्वयं तत्व या उसका कोई भाग है जिसमें तत् और किम् समन्वित रूप में अवस्थित रहते हैं और विधेय उसी से निष्कर्षित मात्र किम् है। अर्थात् विधेय उद्देश्य का केवल एक भाग है जिसका प्रयोग उद्देश्य की अन्तर्वस्तु को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। अत: यह कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है कि सत् को मात्र विधेयों या प्रत्ययों के माध्यम से पूर्णत: व्यक्त किया जा सके। यद्यपि विचार ऐसा करना चाहता है तथापि अपनी स्वाभाविक प्रकृति के कारण कर नहीं पाता क्योंकि सत् में अर्थात् उद्देश्य में विधेय इस प्रकार नहीं रहते जैसा कि निर्णय का विधेय दिखाई देता है। निर्णय के आन्तरिक स्वभाव का वर्णन करते हुए ब्रैडले कहते हैं, "निर्णय सत् में एक विशेषण जोड़ देता है और वह विशेषण एक प्रत्यय होता है क्योंकि वह अपने अस्तित्व से पृथक् होकर तथा उसके साथ अपनी सम्बद्धता से मुक्त होकर ही प्रयुक्त होता है।[3]

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि निर्णय केवल किम् या अन्तर्वस्तु का ही वर्णन नहीं करता, वह तत् और किम् दोनों का साथ-साथ वर्णन करता है। जिस प्रकार 'अश्व एक स्तनपायी जानवर है' निर्णय में विधेय कोई वास्तविक तथ्य नहीं है, उसी प्रकार उद्देश्य का भी कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। उद्देश्य मात्र तत् नहीं है, वह तत् और किम् दोनों का समुच्चय है। यही बात प्रत्येक निर्णय पर लागू होती है। ब्रैडले के शब्दों में, "प्रत्येक अवस्था में उद्देश्य कदापि 'तत्' मात्र नहीं होता, वह केवल सत् अथवा गुणहीन अस्तित्व मात्र कभी नहीं होता।"[4] इसी को और आगे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "निर्णय तत्त्वतः दो पक्षों किम् और तत्

---

1. वही, पृ० 144. "...for there we find thought in its completed form."

2. वही पृ० 144. "In judgement an idea is predicated of a reality."

3. वही, पृ० 144, "Judgement adds an adjective to reality, and this adjective is an idea, because it is a quality made loose from its own existence, and is working free from its implication with that."

4. वही, पृ० 145, "The subject, at all events, is in no case a mere 'that'. It is never bare reality or existence without character."

का पुनर्मिलन है जो अस्थायी रूप से पृथक् हो गए थे। किन्तु विचार की काल्पनिकता इन पक्षों के पृथक्करण में ही निहित है।"[1]

सत्य
(Truth)

विचार का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति है और सत्य का लक्ष्य सत् को ऐसी विशेषताओं की प्राप्ति करानी है जिनमें विचार को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सके। सत्य को परिभाषित करते हुए ब्रैडले कहते हैं: सत्य अन्तर्वस्तु के रूप में किसी उद्देश्य के साथ ऐसे विधेय का आरोपण है जिसका उसके साथ पूर्ण सामञ्जस्य है और जो असंगति को दूर करता है और साथ ही अस्थिरता को भी समाप्त करता है।[2] दूसरे शब्दों में किसी निर्णय के उद्देश्य और विधेय के पारस्परिक सामञ्जस्य को सत्य कहते हैं।

तथ्य भी प्रत्ययात्मक या काल्पनिक है

कुछ लोगों के मन में भ्रम होता है कि तथ्य वास्तविक होता है तथा प्रत्ययात्मकता तथ्यों के बाहर की वस्तु है जो उस पर आरोपित कर दी जाती है। पर ब्रैडले इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार तथ्य उतने ही प्रत्ययात्मक होते हैं जितने विचार या निर्णय। इसी कारण वे सत्य के संवादिता (Correspondence) सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। वे कहते हैं: "जो तथ्य प्रत्ययात्मक नहीं होते तथा जो अस्तित्व से अन्तर्वस्तु के पार्थक्य को नहीं दर्शाते, वे कठिनाई से ही वास्तविक होते हैं।" प्रत्ययात्मकता तथ्यों का निहित गुण है और इसका मूल कारण यह है कि "किसी प्रदत्त की अन्तर्वस्तु सदा किसी अप्रदत्त वस्तु के ऊपर आश्रित होती है और इस कारण किसी प्रदत्त का किम् अनिवार्यतः अपने तत् का अतिक्रमण करता है। इसे हम प्रदत्त ससीम की प्रत्ययात्मकता कह सकते हैं।"[3] विचार इसका निर्माण नहीं करता, वरन् विचार स्वयं उसका विकसित रूप और परिणाम हैं। "इस ससीम की अनिवार्य विशेषता यह है कि सर्वत्र जहाँ यह अपने को प्रस्तुत करता है, उसकी अन्तर्वस्तु तत्काल उसके अस्तित्व की सीमा का अतिक्रमण

---

1. वही, पृ० 145, "Judgement is essentially the re-union of two sides, 'what' and 'that' provisionally estranged. But it is the alienation of these aspects in which thought's ideality consists."

2. वही, पृ०. 145, "Truth is the predication of such content as, when predicated, is harmonious and removes inconsistency and with it unrest."

3. वही, पृ० 146, "For the content of the given is for ever relative to something, not given and the nature of its 'what' is hence essentially to transcend its 'that This we may call the ideality of the given finite."

कर लेती है।"[1] तात्पर्य यह है कि संसार की कोई भी परिमित वस्तु स्वतन्त्र नहीं होती; उसकी अन्तर्वस्तु सदा परिवर्तित होती रहती है और इस कारण उससे सम्बन्धित निर्णय के विधेय में भी परिवर्तन होते रहना चाहिए। विधेय के परिवर्तन के कारण सत्य भी एक निरन्तर प्रक्रिया बन जाता है। "सत्य एक ऐसा प्रयत्न है जो इस रोग की चिकित्सा होमियोपैथिक पद्धति द्वारा करता है।"[2]

सत्य की प्राप्ति

ऊपर हमने देखा कि उद्देश्य और विधेय के पारस्परिक सामञ्जस्य को ही सत्य कहते हैं। किन्तु उद्देश्य और विधेय का जो यह सामञ्जस्य है, क्या यह कभी सम्भव है ? ब्रैडले के अनुसार उन दोनों के बीच पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करना असम्भव है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—(i) किसी निर्णय के विधेयों की संख्या कितनी ही अधिक बढ़ा दी जाय, वे उद्देश्य के बराबर कभी नहीं हो सकते। (ii) यदि तर्क के लिए मान भी लिया जाय कि विधेयों की संख्या इतनी बढ़ा दी गई है कि वे उद्देश्य में निहित विशेषताओं के बराबर हो गए हैं तो भी उद्देश्य और विधेय के स्वभाव में पर्याप्त अन्तर होगा क्योंकि उद्देश्य एक वास्तविक अस्तित्व है पर विधेय प्रत्यय मात्र है। "अतः सत्य हमें केवल विच्छेदन ही दर्शाता है, वास्तविक जीवन नहीं। उसका विधेय उसके उद्देश्य के समान कदापि नही हो सकता।"[3]

अपनी बात के समर्थन में ब्रैडले आगे कहते हैं कि सत्य की कल्पना विचारों की परिधि के भीतर ही की जा सकती है। जहाँ विचार होगा वहीं सत्य या असत्य का प्रश्न उपस्थित होगा। किन्तु दोनों के स्वभाव में इतना अधिक अन्तर है कि विचार के द्वारा सत्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। विचार सदा तत् और किम् के द्वैत से प्रारम्भ होता है। जब तक यह द्वैत बना रहेगा, सत्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। जब यह द्वैत समाप्त हो जायगा तो सत्य की प्राप्ति हो जायगी पर विचार सदा के लिए समाप्त हो जायगा।

विचार में विद्यमान इस मूल असंगति का पूर्ण निराकरण विचार के स्तर पर सम्भव नहीं है। यदि मान भी लिया जाय कि विचार में इस असंगति का निराकरण कर लिया गया है तो यह कल्पना विचार की आत्म-हत्या की ओर ले जायगी। ब्रैडले के ही शब्दों में, "विचार सम्बन्धात्मक और विमर्शात्मक होता है और यदि इसका यह स्वभाव समाप्त हो जाय तो उसने निश्चित ही आत्म-हत्या कर ली है

---

1. वही, पृ० 146, "The essential nature of the finite is that everywhere, as it presents itself, its character should slide beyond the limits of its existence."

2. वही, पृ० 146, "And truth...is the effort to heal this disease, as it were, homoeopathically."

3. वही, पृ० 147, "Hence, truth shows a dissection and never an actual life. Its predicate can never be equivalent to its subject."

और यदि उसका स्वरूप वैसा ही रह जाय तो फिर प्रश्न है कि उसमें तात्कालिक ज्ञान का समावेश कैसे होगा ?"[1]

विचार की पूर्णावस्था

विचार का लोप ही विचार की पूर्ण अवस्था है। जब तत् और किम् अथवा उद्देश्य और विधेय के बीच पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाता है तो विचार अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर लेता है। यह निर्विकल्प अनुभूति की अवस्था है जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत समाप्त हो जाता है। "निरपेक्ष तत्व दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को नहीं देखना चाहता और न गिलहरी की तरह किसी पिंजड़े में अपनी पूर्णता के वृत्त की परिक्रमा ही करना चाहता है।"[2] पूर्ण अवस्था की प्राप्ति पर गति के लिए कोई अवकाश नहीं है। ब्रैडले ने इस पूर्णावस्था को निम्न प्रकार व्यक्त किया है : इस प्रकार की पूर्ण अवस्था में उस अव्यवहिततत्व का एक श्रेष्ठ रूप होगा जो अनुभूति में पाया जाता है। और इस पूर्णता में सारे विभाग विलीन हो जाँयगे। "वह एक ऐसा पूर्ण अनुभव होगा जिसमें सारे तत्व समन्वित रूप में होंगे। वहाँ विचार एक श्रेष्ठ अनुभूति के रूप में होगा, संकल्प का वह रूप होगा जिसमें आदर्श यथार्थ हो चुका होगा और इस समस्त सिद्धि में सौन्दर्य, सुख तथा भावना सभी बनी रहेगी।"[3]

भ्रम
(Error)

हम पहले देख चुके हैं कि तत्व एक है और वह सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है; वह सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् भी है। ऐसी स्थिति में उसके भीतर भ्रमअशुभ, देश, काल, परिणाम और परिवर्तन का क्या स्थान हो सकता है ? वे चीजें निरपेक्ष तत्व के भीतर तो हो नहीं सकतीं क्योंकि निरपेक्ष तत्व सामञ्जस्यपूर्ण है और भ्रम, अशुभ इत्यादि असामञ्जस्यपूर्ण हैं। इसी प्रकार वे निरपेक्ष तत्व के बाहर भी नहीं हो सकतीं क्योंकि उसके बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। यह हमारे लिए एक बहुत बड़ी समस्या है। इस समस्या का समाधान करने के पूर्व इससे सम्बन्धित कुछ अन्य कठिनाइयों के प्रति भी ब्रैडले हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं।

---

1. वही, पृ० 150, "Thought is relational and discursive, and, if it ceases to be this, it commits suicide; and yet, if it remains thus, how does it contain immediate presentation. ?"

2. वही, पृ० 152, "The absolute does not want to make eyes at itself in a mirror, or, like a squirrel in a cage, to revolve the circle of its perfections."

3. वही, पृ० 152, "It would be experience entire, containing all elements in harmony. Thought would be present as a higher intuition; will would be there, where the ideal had become reality and beauty and pleasure and feeling would live on in this total fulfilment."

(1) प्रथम कठिनाई यह है कि तत्व में भ्रम, अशुभ इत्यादि कैसे (How) और क्यों (Why) पाए जाते हैं, इसका समुचित ज्ञान हमे नहीं हो सकता। इनकी उत्पत्ति और अवस्था का ज्ञान हमें कदापि नहीं हो सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में सीमित सत्ता असीम की दृष्टि प्राप्त कर लेगी और इस प्रक्रिया में सीमित सत्ता का पूर्ण परिवर्तन या रूपान्तरण हो जायगा और वह नष्ट हो जायगी।[1]

(2) इस सम्बन्ध में जो दूसरी कठिनाई हमारे समक्ष उपस्थित होती है वह यह है कि भ्रम अस्तित्ववान वस्तु है या अनस्तित्ववान वस्तु? तात्विक दृष्टि से या तो संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व होगा या उसका अस्तित्व नहीं होगा। उसके बीच की अवस्था को हम स्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु भ्रम ऐसी वस्तु है जो न तो अस्तित्ववान है और न अनस्तित्ववान ही।[2] उसकी प्रास्थिति के विषय में हम निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

(3) भ्रम के सम्बन्ध में जो तीसरी कठिनाई हमारे समक्ष उपस्थित होती है वह उसके अधिष्ठान के सम्बन्ध में है। यदि भ्रम है तो उसका अधिष्ठान क्या है? परम सत् तो उसका अधिष्ठान हो नहीं सकता क्योंकि परम सत् विसंगतियों से अतीत है और भ्रम विसंगतियों से पूर्ण है। इसी प्रकार विषयी भी इसका अधिष्ठान नहीं हो सकता क्योंकि विषयी का अस्तित्व परम सत् के भीतर ही है। अतः, जो परम सत् में निवास नहीं कर सकता वह उसके अंग विषयी में कैसे निवास कर सकता है? इस प्रकार ब्रैडले निष्कर्ष निकालते हैं कि भ्रम का कोई अधिष्ठान नहीं है।[3] इससे हमारे समक्ष पर्याप्त विकट समस्या उत्पन्न हो जाती है।

भ्रम का विश्लेषण
(Analysis of Error)

सर्वप्रथम भ्रम को परिभाषित करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि भ्रम एक असत् आभास है।[4] आभास को आगे परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि, "आभास वह अन्तर्वस्तु है जिसकी उसके अस्तित्व के साथ एकता नहीं पाई जाती।"[5] यहाँ ध्यान

1. आभास और सत्, पृ० 163, "That would imply an understanding of the whole not practicable for a mere part. It would mean a view by the finite from the Absolute's point of view, and in that consummation the finite would have been transmuted and destroyed."

2. वही, पृ० 164, "We can not,on the one hand, accept anything between non-existence and reality, while, on the other hand, error obstinately refuses to be either."

3. वही, पृ० 165, "And so error has no home, it has no place in existence and yet, for all that, it exists."

4. वही, पृ० 165, "Error is the same as false appearance."

5. वही, पृ० 165, "Now appearance is content not at one with its existence, a 'what' loosened from its 'that'. "

में रखने की बात यह है कि एक दृष्टि से सत्य भी आभास ही होता है क्योंकि यथार्थ निर्णय में भी तत् और किम् के बीच एकता नहीं पाई जाती। यहाँ भी अमूर्तीकरण की प्रक्रिया देखी जाती है। दूसरा असत् आभास वहाँ दिखाई पड़ता है जहाँ किसी विज्ञान (Idea) को प्रत्यक्ष से न लेकर स्मृति (Reproduction) से ग्रहण करते हैं। स्मृति से प्राप्त विधेय किसी उद्देश्य की विशेषता प्रगट नहीं कर सकता। यद्यपि सत्य में भी तत् और किम् के बीच शिथिलता (Looseness) आ जाती है पर भ्रम में तो यह विखण्डन (Fracture) का रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसा इस कारण है कि यहाँ दो अस्तित्वों के अवयव एक निर्णय में संयुक्त हो जाते हैं।

सत्य और भ्रम में पुनः भेद प्रकट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि दोनों का किसी न किसी रूप में आभास (Appearance) से सम्बन्ध होता है। "किसी वस्तु के अन्तर्वस्तु की उसके अस्तित्व से शिथिलता आभास को उत्पन्न करती है जिसमें एक अव्यवहित एकता के दो पक्षों: तत् और किम् में भेद पाया जाता है।[1] पर इसी आभास की अन्तर्वस्तु जब किसी ऐसे अस्तित्व से सम्बद्ध हो जाती है जो उसे अपने विशेषण के रूप में स्वीकार कर लेता है तो वह सत्य निर्णय कहलाता है।[2] असत्य निर्णय या भ्रम वहीं उत्पन्न होता है जहाँ कोई अन्तर्वस्तु अपने सत् से पृथक् होकर किसी ऐसे सत् के साथ सम्बद्ध हो जाती है जिसके साथ उसकी विसंगति है।[3] दूसरे शब्दों में : एक द्रव्य द्वारा किसी मुक्त विशेषण के विकर्षण को ही भ्रम कहते हैं।[4] अर्थात् जब विशेषण और विशेष्य के बीच सामञ्जस्य हो तो वह सत्य है, किन्तु यदि उनके बीच असामञ्जस्य हो तो वह भ्रम है।[5]

भ्रम से सम्बन्धित दो कठिनाइयाँ

भ्रम का समाधान प्रस्तुत करने के पूर्व ब्रैडले उससे सम्बन्धित दो कठिनाइयों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। प्रथम कठिनाई यह है कि भ्रम को तत्व क्यों स्वीकार नहीं कर सकता ? द्वितीय कठिनाई यह है कि अस्वीकार करने पर भी तत्व में भ्रम किस प्रकार पाया जाता है ? इन पर हम पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत करेंगे।

---

1. वही, पृ०, 166, "Appearance then will be the looseness of character from being, the distinotion of immediate oneness, into two sides, a 'that' and a 'what'."

2. वही, पृ० 166, "The true idea is appearance in respect of its own being as fact and event, but is reality in connection with other being which it qualifies."

3. वही, पृ० 166, "Error, on the other hand, is content made loose from its own reality and related to a reality with which it is discrepant."

4. वही, पृ० 166, "It is the repulse by a substantive of a liberated adjective."

5. वही, पृ० 169, "Error is qualification by the self-discrepant."

(1) प्रथम कठिनाई का उत्तर देते हुए ब्रैडले कहते हैं कि तत्व भ्रम को इसलिए स्वीकार नहीं कर सकता कि तत्व सामञ्जस्यपूर्ण है और भ्रम आत्म-व्याघातक है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि भ्रम का सम्बन्ध केवल विधेय (Predicate) से नहीं होता, इसका सम्बन्ध पूर्ण निर्णय (Judgement) से होता है। "भ्रम में सत् के साथ गुण का विधान इस प्रकार किया जाता है कि एक असंगत अन्तर्वस्तु का आविर्भाव होता है जो इसी कारण अस्वीकृत भी होता है।"[1] इसी को और आगे स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि "जहाँ अस्तित्व अपने भीतर एक विरोधी अन्तर्वस्तु को धारण करता है, वहाँ इस अन्तर्वस्तु का विधान ही असत्य निर्णय कहा जाता है।"[2] यदि तत्व आत्मसंगत हैं और किसी विरोधी विधेय द्वारा उसमें विसंगति उत्पन्न हो जाती है, तो इससे तत्व अप्रभावित ही रहता है। यह इस बात पर आधारित है कि तत्व स्वयं आत्म-विसंगत नहीं हो सकता।

कुछ दार्शनिक सत्य और भ्रम की व्याख्या संसक्तता या सामञ्जस्य द्वारा न करके संवादिता (Correspondence) द्वारा करने की चेष्टा करते हैं। वे सत्य-असत्य की वस्तुवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार जब हमारा ज्ञान बाह्य संवेदनाओं या विशुद्ध प्रदत्त पर आधारित होता है तो वह सत्य होता है, किन्तु यदि वह आन्तरिक प्रतिमाओं पर आधारित होता है वह भ्रम कहा जाता है। पर ज्ञान की इस वस्तुवादी व्याख्या से समस्याओं का समुचित् समाधान नहीं हो पाता। इसमें प्रथम कठिनाई तो यह है कि तथाकथित विशुद्ध प्रदत्त की प्राप्ति ही असम्भव है। ऐसी स्थिति में उसका सत्य के प्रतिमान के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसमें दूसरा दोष यह है जिन आन्तरिक प्रतिमाओं को हम भ्रम का कारण मानते हैं वे उतने ही सघन तथ्य हैं जितनी बाह्य संवेदनाएँ हैं।[3] तात्पर्य यह है कि बाह्य संवेदनाओं में आन्तरिक प्रतिमाओं के अंश पाए जाते हैं और आन्तरिक प्रतिमाओं में बाह्य संवेदनाओं के अंश विद्यमान होते हैं। यदि यह विवेचन सही है तो बाह्य संवेदनाओं या आन्तरिक प्रतिमाओं के साथ ज्ञान की संवादिता के आधार पर सत्य-असत्य का निरूपण नहीं किया जा सकता। अब हमारे समक्ष केवल एक ही विकल्प रह जाता है और वह यह है कि यदि हमारे प्रदत्त के अस्तित्व और अन्तर्वस्तु के बीच सामञ्जस्य है तो हमारा ज्ञान सत्य होगा और यदि उनके बीच असामञ्जस्य है तो हमारा ज्ञान असत्य होगा।

---

1. वही पृ० 167, "Error is the qualification of a reality in such a way that in the result it has an inconsistent content which for that reason is rejected."

2 वही पृ० 167, "Where existence has a 'what' colliding within itself, there the predication of this 'what' is an erroneous judgement."

3. वही, पृ० 168, "...the inward is a fact just as solid as the outward..."

(2) जहाँ तक भ्रम के निरपेक्ष तत्व के साथ सम्बन्ध की बात है, ब्रैडले के अनुसार भ्रम सत्य ही है किन्तु वह अपूर्ण सत्य है, वह असत्य केवल इसलिए है क्योंकि वह आंशिक और अपूर्ण छोड़ दिया गया है।[1] भ्रम पूर्ण असत् नहीं है, उसका तत्व के भीतर कुछ न कुछ अस्तित्व अवश्य पाया जाता है। यदि हम पूरक तत्व का भी साथ वर्णन कर दें तो भ्रम सत्य के रूप में परिणत हो सकता है।[2] परम तत्व के भीतर असत्य आभासों की अनेक विसंगतियाँ एवं व्याघात पाए जाते हैं पर साथ ही उसके भीतर एक ऐसा अतिरिक्त तत्व भी पाया जाता है जिसमें सारी विसंगतियाँ और असामञ्जस्य विगलित होकर पूर्ण सामञ्जस्य का रूप धारण कर लेते हैं।[3] यह सब तत्व के भीतर किस प्रकार होता है, इसका ज्ञान सीमित सत्ताओं के लिए सम्भव नहीं है क्योंकि सीमित सत्ताएँ तत्व की सम्पूर्ण बातों को नहीं जान सकतीं। पर जिन वस्तुओं को हम विस्तारपूर्वक नहीं जान सकते उन्हें सामान्य रूप में ग्रहण तो कर ही सकते हैं।[4] यद्यपि यह हम नहीं समझ सकते कि निरपेक्ष तत्व के भीतर विसंगतियों के बीच उत्तम सामञ्जस्य किस प्रकार स्थापित किया जाता है, किन्तु हम अनुमान अवश्य कर सकते हैं कि निरपेक्ष तत्व के भीतर पूर्ण सामञ्जस्य अवश्य होना चाहिए।

समस्या का सम्भाव्य समाधान

निरपेक्ष तत्व के भीतर विसंगतियाँ किस प्रकार सुसंगति के रूप में परिणत हो जाती हैं, इस समस्या के समाधान के लिए ब्रैडले ने विलयन-सिद्धान्त (Principle of Dissolution) का प्रतिपादन किया है। विलयन-सिद्धान्त की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें उद्देश्य (Subject) के स्वभाव को एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में लिया जाता है। कल्पना किया कि तत्व ज्ञ है जिसके भीतर सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। इस प्रकार तत्व को हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं : ज्ञ (अ, ब, स, द, य, फ....) जहाँ अ, ब, स, द इत्यादि तत्व की अनेक विशेषताएँ हैं। मनुष्य जैसे सीमित प्राणियों के लिए तत्व की सभी विशेषताओं को जानना सम्भव नहीं है। हम तत्व की केवल कुछ विशेषताओं को ही जान सकते हैं जैसे ज्ञ (अ, ब)। ऐसी स्थिति में जब हम यह कथन करते हैं कि 'ज्ञ (अ, ब) ब है' तो इसे सत्य कहा जायगा क्योंकि इसका विधेय ब तत्व के भीतर पाया जाता है। यहाँ हमने ब को तत्व के विशेषण के रूप में लिया है। पर उपर्युक्त निर्णय में जब हम ब को उसके विशेष्य से पृथक्

---

1. वही, पृ० 169, "Error is truth, it is partial truth, that is false only because partial and left incomplete."

2. वही, पृ० 170, "The only mistake lies in our failure to give also the complement."

3. वही, पृ० 170 "The reality owns the discordance and the discrepancy of false appearance but it possesses also much else in which this jarring character is swallowed up and is dissolved in fuller harmony."

4. वही, पृ० 170 "But we can comprehend in general what we cannot see exhibited in detail."

कर लेते हैं तो वह एक मानसिक विज्ञान (Psychical Idea) के रूप में ही हमारे समक्ष प्रकट होता है। ऐसी स्थिति में उक्त निर्णय को सत्य कैसे कहा जा सकता है? किन्तु ब्रैडले इस समस्या का समाधान करते हुए कहते हैं कि मानसिक विज्ञान भी एक तथ्य ही तो है। उसका भी तत्व के भीतर कोई न कोई स्थान अवश्य होना चाहिए। अब, तत्व का एक विस्तृत रूप हमारे समक्ष प्रकट होता है जो ज्ञ (अ, ब, ब') है जिसमें ब' ब का एक मानसिक विज्ञान है। इस प्रकार जब हम यह कथन करते हैं कि 'ज्ञ (अ, ब, ब') ब' है तो हमारा कथन सत्य हो जाता है। ब्रैडले के अनुसार सत्य को सुरक्षित रखने की यही विधि है।

सत्य की व्याख्या करने के बाद अब हम भ्रम की व्याख्या प्रस्तुत करेंगे। कल्पना किया कि तत्व ज्ञ (अ, ब, स, द, य......) है। सीमित सत्ता होने के कारण मनुष्य तत्व की सभी विशेषताओं को तो जान नहीं सकता, वह केवल कुछ विशेषताओं को ही जान सकता है। मान लिया कि उसका तत्व का ज्ञान ज्ञ (अ, ब) तक ही सीमित है। अब यदि वह कथन करता है कि 'ज्ञ (अ, ब) द है' तो यह भ्रम कहा जायगा क्योंकि द विशेषण ज्ञ (अ, ब) के भीतर नहीं पाया जाता। किन्तु द भी तो जीवन का एक तथ्य ही है। यदि वह तथ्य न होता तो भ्रम का विषय कैसे बनता? अतः द को तत्व के भीतर सम्मिलित करने में कोई हानि नहीं है। अब, तत्व का निम्न विस्तृत रूप होगा ज्ञ (अ, ब, द)। इस प्रकार जब हम कथन करते हैं कि 'ज्ञ (अ, ब, द) द है' तो यह कथन यथार्थ हो जाता है। ब्रैडले के अनुसार पूर्व असामञ्जस्य इसी प्रकार सामञ्जस्य के रूप में परिणत हो जाता है। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यह विलयन (Dissolution) तत्व के भीतर किस प्रकार घटित होता है, हमें इसकी जानकारी नहीं हो सकती क्योंकि ससीम असीम को नहीं जान सकता।

एक काल्पनिक उदाहरण

ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'आभास और सत्' में सत्य और भ्रम की व्याख्या एक काल्पनिक उदाहरण के माध्यम से करने की चेष्टा की है। कल्पना किया कि संसार में कुछ शरीर और आत्माएँ हैं। आत्माएँ रात्रि में शरीर से बाहर निकलकर स्वच्छन्द विचरण करती हैं। प्रातःकाल आत्माएँ अपने शरीर में लौट आना चाहती हैं किन्तु वास्तव में होता यह है कि कुछ आत्माएँ अपने ही शरीर में लौटती हैं और अन्य दूसरों के शरीर में लौटती हैं। प्रथम सत्य की स्थिति होगी और द्वितीय भ्रम की। अब कल्पना कीजिए कि विश्व के केन्द्र में एक '**विश्वात्मा**' है जो इन सभी शरीरों और आत्माओं पर शासन करने वाली है। उसके लिए भ्रम की असंगति का कारण और उसका रूप दोनों ही स्पष्ट होगा। यह भी सम्भव है कि उस विश्वात्मा ने ही इस असंगति को संचालित और प्रभावित किया हो। वह तमाम असंगतियों और संघर्षों का द्रष्टा भी होगा। संवेदनाओं तथा आयातित और विदेशी अनुभवों के संघर्ष की उसकी अनुभूति बड़ी लाभकारी और शिक्षाप्रद होगी। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भ्रम का कारण मनुष्य की अल्पज्ञता है। इसकी उत्पत्ति पार्थक्य, न्यूनता, मेरे

और इदम् के साथ सम्बद्धता के कारण होती है[1] यदि हम विश्वात्मा की केन्द्रीय दृष्टि प्राप्त कर लें तो सम्पूर्ण असामञ्जस्य, सामञ्जस्य में परिणत हो जायेंगे और भ्रम की समस्या का स्वतः समाधान हो जायगा ।

अन्तिम समस्या

यहाँ एक अन्तिम प्रश्न हमारे समक्ष उत्पन्न होता है और वह यह है कि यदि भ्रम सीमित दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न होता है तो क्या यह केवल निषेधात्मक ही है ? इस प्रश्न के उत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि भ्रम केवल निषेधात्मक नहीं है, इसका एक भावात्मक रूप भी है और वह है विरोध का, विसंगति का, असामञ्जस्य का । अब प्रश्न यह है कि इस भ्रम का तत्व में क्या स्थान है ? क्या इसके विभिन्न अवयवों के बीच पुनर्विन्यास स्थापित करने मात्र से इन विसंगतियों को समाप्त किया जा सकता है ?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में ब्रैडले कहते हैं कि भ्रान्ति की समस्या का समाधान केवल विभिन्न अवयवों को पुनर्व्यवस्थित करने से ही नहीं किया जा सकता ।[2] निरपेक्ष तत्व मात्र विन्यास से अतीत है । विन्यास को चाहे जितना वृहत्तर बना दिया जाय, वह तत्व का स्थानापन्न नहीं बन सकता । तत्व एक ऐसी उच्चतर अनुभूति है जो सम्बन्धात्मक चेतना में विद्यमान भेदों से श्रेष्ठतर ही नहीं है बल्कि उनका सहज अतिक्रमण भी करती है ।[3] पर तत्व के भीतर वे सारी बातें किस प्रकार घटित होती हैं, इसकी जानकारी हमें नहीं हो सकती ।

सत्य और सत् की मात्राएँ
(Degrees of Truth and Reality)

ब्रैडले के अनुसार निरपेक्ष तत्व पूर्ण है क्योंकि वह अद्वैत तत्व है । अतः उसके भीतर मात्राओं का अनुसंधान करना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता । मात्रा की कल्पना केवल अपूर्ण एवं आमासिक सत्ताओं पर ही लागू की जा सकती है । ब्रैडले के शब्दों में : परम सत् में यथार्थतः मात्राएँ नहीं हैं क्योंकि वह परिपूर्ण है और

---

1. वही, पृ०, 172, "And 'if so, error will come merely from isolation and defect, from the limitation of each being to the "this, "and the 'mine.,"

2. वही, पृ० 172, "...the Absolute is not, and cannot be thought as, any scheme of relations."

3. वही, पृ० 172, "The absolute is beyond a mere arrangement, however well compensated, though an arrangement is assuredly one aspect of its being. Reality consists in a higher experience, superior to the distinctions which it includes and over-rides."

पूर्णता में न्यूनता या अधिकता संभव नहीं है। इस प्रकार के विधेयों का सम्बन्ध और सार्थकता केवल आभासिक जगत पर ही लागू होती है।"[1]

आभासिक जगत की वस्तुओं की मात्रा के सम्बन्ध में ब्रैडले कहते हैं कि जिन वस्तुओं के भीतर सत्ता, चैतन्य व आनन्द की मात्रा जितनी अधिक पाई जायगी वह परम तत्व के उतने ही निकट होगी तथा जिनके भीतर इनकी मात्रा जितनी कम होगी वे वस्तुएँ परम तत्व से उतनी ही दूर होंगी। सत् की मात्राओं पर विचार करने के पूर्व हम प्रथम सत्य की मात्राओं पर विचार करेंगे।

सत्य की मात्राएँ
(Degrees of Truth)

इस सम्बन्ध में पहली बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि सत्य और असत्य का सम्बन्ध सदा विचार से ही होता है जहाँ तत् और किम् का भेद बना रहता है। विचार प्रथम तत् और किम् में भेद स्थापित करता है और पुनः इस भेद को समाप्त करने की चेष्टा करता है जिसमें वह कभी भी सफल नहीं हो सकता। किसी निर्णय में विधेयों की संख्या में कितनी ही वृद्धि कर दी जाय, वह उद्देश्य में निहित विशेषताओं के बराबर कभी नहीं हो सकती। ब्रैडले के शब्दों में : "उद्देश्य और विधेय का अन्तर कभी भी समाप्त नहीं किया जा सकता, वह अन्तर जब तक अवस्थित रहता है, विचार की असफलता को प्रदर्शित करता है, किन्तु ज्योंही उसे समाप्त कर दिया जाता है, वह विचार के विशिष्ट स्वरूप को ही नष्ट कर देता है।"[2]

उपर्युक्त विवेचन का निहितार्थ यह है कि प्रत्येक निरुपाधिक निर्णय असत्य होता है।[3] इसका प्रमुख कारण यह है कि "उद्देश्य और विधेय एक दूसरे का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते।"[4] निर्णय में उद्देश्य और विधेय का द्वैत सदा बना रहेगा। विचार का लक्ष्य तत्व की प्राप्ति है, पर जब तक निर्णय में उद्देश्य और विधेय का द्वैत बना, रहेगा तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। और जब विचार के लक्ष्य की प्राप्ति हो जायगी, विचार का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। यही कारण है कि ब्रैडले के अनु-

1. वही, पृ० 318, "The Absolute...has of course no degrees; for it is perfect, and there can be no more or less in perfection. Such predicates belong to, and have a meaning only in the world of appearance."

2. वही, पृ० 319, "There is still a difference, unremoved, between the subject and the predicate, a difference which, while it persists, shows a failure in thought, but which, if removed, would wholly destroy the special essence of thinking."

3. वही, पृ० 319, "....any categorical judgement must be false."

4. वही, पृ० 319, "The subject and the predicate in the end, cannot either, be the other."

सार, "प्रत्येक निर्णय को सत्य होने के लिए सोपाधिक बनना चाहिए।[1] दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि सत्य होने के लिए प्रत्येक निर्णय के साथ एक अनिवार्य पूरक तत्व सम्मिलित होना चाहिए जो अज्ञात रहता है। किसी निर्णय के सोपाधिक होने का तात्पर्य यह है कि वह जो कुछ भी विधान करता है वह अपूर्ण है।[2] इस कारण जब तक अनिवार्य पूरक तत्व का संयोजन न कर दिया जाय, तब तक वह तत्व का वर्णन नहीं कहा जा सकता। यह अनिवार्य पूरक तत्व अन्त में अज्ञात ही बना रहेगा।[3] इसका दूसरा निहितार्थ यह है कि जिस प्रकार ऐसा कोई असत्य नहीं है जो पूर्णतया असत्य हो, उसी प्रकार ऐसा कोई सत्य नहीं है जो पूर्णतया सत्य हो।[4] हमारे विचार यदि एक दृष्टिकोण से असत्य हैं तो दूसरे दृष्टिकोण से सत्य। परम सत् के मानदण्ड के अनुसार प्रत्येक सत्य और असत्य में सत्यता और असत्यता की मात्राएँ होती हैं।[5] हमारा निर्णय पूर्ण सत्य की प्राप्ति कभी नहीं कर सकता; उसे सत्य की न्यूनाधिक मात्रा से ही सन्तोष करना पड़ता है।[6]

उपर्युक्त विवेचन का एक तीसरा निहितार्थ यह है कि सत्य सदा सापेक्षिक और अपूर्ण होता है।[7] सापेक्षिक और अपूर्ण होते हुए भी उसमें सत्य की कुछ न कुछ मात्रा अवश्य ही पाई जाती है। इसका चौथा निहितार्थ यह है कि सत्य ही विकसित होकर तथा अव्यवहितत्व को प्राप्त कर सत् में परिवर्तित हो जाता है। "सत्य और सत् की सम्पूर्णता का स्वरूप अन्ततः समान है।"[8]

सत् की मात्राएँ
(Degrees of Reality)

ब्रैडले सर्वप्रथम सत् के कुछ मानदण्डों की स्थापना करते हैं जिनके आधार पर वे संसार की वस्तुओं की सत्ता का निर्धारण करते हैं। वे मानदण्ड तीन हैं:

1. वही, पृ० 319-20, "And hence, all our judgements, to be true, must become conditional."

2. वही, पृ० 320, "Judgements are conditional in this sense that what they affirm is incomplete."

3. वही, पृ० 320, "And, in addition, this complement in the end remains unknown."

4. वही, पृ० 320-21, "There will be no truth which is entirely true, just as there will be no error which is totally false."

5. वही, पृ० 321, "...but truth and error, measured by the Absolute, must each be subject always to degree."

6. वही, पृ० 321, "Our judgements, in a word, can nevr reach as far as perfect truth, and must be content merely to enjoy more or less of validity."

7. वही, पृ० 321, "...truth is relative and always imperfect."

8. वही, पृ० 321, "Perfection of truth and of reality has in the end the same character."

प्रथम आत्म-सुसंगति (Self-consistency), द्वितीय समावेशन (Inclusiveness) और तृतीय स्वयंभूतता (Self-existence) । उक्त मानदण्डों की स्थापना के बाद ब्रैडले सत् की मात्राओं के सम्बन्ध में कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं जो निम्न रूप में व्यक्त किए गए हैं ।

(1) अन्य बातों में समान होते हुए संसार की जो वस्तुएँ देश में अधिक विस्तृत हैं तथा जो काल में अधिक चिरस्थायी हैं, वे अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सत् हैं ।

(2) देश और काल में व्यापकता के साथ वस्तुओं में सुसंगति (consistency) और सामञ्जस्य (Harmony) भी होना चाहिए । संसार की जो वस्तुएँ संशोधनीय, रूपान्तरणीय एवं ध्वन्स्य हैं वे उन वस्तुओं की अपेक्षा कम सत् हैं जो सुसंगत, स्थायी और नित्य हैं ।

(3) संसार में जो वस्तुएँ जितनी ही अधिक प्रभावकारी (Effective) और आत्म-निर्भर (Self-sufficient) होती हैं उनमें सत्ता की मात्रा उतनी ही अधिक पाई जाती है । प्रभावोत्पादकता और आत्म-निर्भरता से ब्रैडले का तात्पर्य यह है कि जिन वस्तुओं में सिद्धान्त और तथ्य सम्पाती होते हैं अथवा जिनमें साध्यता ने सिद्धता का रूप ग्रहण कर लिया है, वे वस्तुएँ अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सत् हैं ।[1]

(4) कुछ दार्शनिकों के अनुसार सत्ता दृश्यता में निहित है । जो वस्तुएँ गोचर या दृश्य हैं वे सत् हैं । पर ब्रैडले के अनुसार यह ठीक नहीं है । कोई भी गोचर वस्तु स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर नहीं होती । उसके भीतर प्रत्ययात्मकता (Ideality) और स्वातिक्रमण का स्वभाव निहित होता है । अतः सत्ता दृश्यता या गोचरता नहीं है ।

(5) अन्य दार्शनिकों के अनुसार सत्ता विशुद्ध विचार या बोध में निहित है । ब्रैडले इसे भी अस्वीकार कर देते हैं । इसके दो कारण हैं : प्रथम कारण तो यह कि प्रत्येक विचार प्रत्यक्ष पर आधारित होता है । जब प्रत्यक्ष ही सत् नहीं है तो विचार किस प्रकार सत् हो सकता है ? यदि विचार का अर्थ प्रत्यक्ष से स्वतन्त्र किसी विशुद्ध प्रत्यय से लिया जाय, वह तो और भी सत् को ग्रहण करने में असमर्थ होगा क्योंकि "मात्र विचार का अर्थ प्रत्ययात्मक अन्तर्वस्तु का अस्तित्व से पार्थक्य है"[2] जिससे तत्व अछूता ही रह जायगा । कल्पित डालर की अपेक्षा प्रत्यक्षीकृत डालर कहीं अधिक सत होता है ।" गोचर तथ्य की अपेक्षा काल्पनिक तथ्य अधिक अकिंचन होता है ।"[3]

---

1. वही, पृ० 328, "Other things being equal whatever spreads more widely in space, or again lasts longer in time, is therefore more real."

2. वही, पृ० 337, "A mere thought would mean an ideal content held apart from existence."

3. वही, पृ० 338, "And thus the imaginary, so far, must be poorer than the perceptible fact."

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सत् वह है जो व्यक्ति-स्वरूप है, सामान्य और विशेष का समुच्चय है, जिसमें तथ्य और विधान का तादात्म्य है अथवा जो मूर्त सामान्य है। वह एक सर्वसमावेशी सत्ता है जिसमें सभी अनुभूतियाँ तथा आभास विकसित एवं रूपान्तरित होकर अवस्थित रहते हैं। ऐसे सम्पूर्ण सत् में मात्राएँ नहीं हैं। मात्राओं का सम्बन्ध केवल आभासों से ही होता है।

सत् और आभास के बीच सम्बन्ध
(Relation between Reality and Appearance)

(i) ब्रैडले के अनुसार सत् और आभास के बीच का सम्बन्ध अव्याख्येय या अबोधगम्य है। इसका कारण यह है कि दो वस्तुओं के बीच सम्बन्ध वहीं स्थापित किया जा सकता है जहाँ हमें दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो। पर आभास और सत् के विषय में यह बात लागू नहीं होती। जब तक हमें आभास का ज्ञान होगा, सत् का ज्ञान नहीं हो सकता और जब हमें सत् का ज्ञान प्राप्त हो जायगा, आभास का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जायगा।[1] सत् के ज्ञान के बाद हमारा पृथक् अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। ऐसी स्थिति में हम सत् और आभास के बीच सम्बन्ध की व्याख्या किस प्रकार कर सकेंगे? इसी कारण ब्रैडले सत् और आभास के बीच सम्बन्ध को अबोधगम्य मानते हैं।

(ii) उपर्युक्त सत्य को एक दूसरी दृष्टि से भी समझा जा सकता है। तत्व एक है जो "एकात्मक अनुभूति" स्वरूप है जिसमें सभी आभास मिलकर एक हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि सत् में सभी आभासों का विशिष्ट स्वभाव समाप्त हो जाता है।[2] जब सत् में सभी आभास सन्निविष्ट हो जाते हैं और उनकी विशिष्टता समाप्त हो जाती है, तो उनके बीच परस्पर सम्बन्ध की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है?

(iii) यहाँ एक अन्य बात की ओर भी ब्रैडले ने संकेत किया है। सत् का स्वभाव अस्तित्व और अन्तर्वस्तु के बीच परस्पर सामञ्जस्य है, पर आभास में दोनों के बीच परस्पर विसंगति पाई जाती है।[3] सुसंगत और विसंगत के बीच जो सम्बन्ध होगा वह सुसंगत कभी नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि ब्रैडले ने इस सम्बन्ध को अव्याख्येय माना है।

---

1. आभास और सत्, पृ० 140, "In order thus to know, we should have to be, and then we should not exist."

2. वही, पृ० 403, "There is but one Reality, and its being consists in experience. In this one whole all appearances come together, and in coming together, they in various degrees loose their distinctive nature."

3. वही, पृ० 403, "The essence of reality lies in the union and agreement of existence and content, and on the other side, appearance consists in the discrepancy between these two aspects."

(iv) सत् का स्वतन्त्र अस्तित्व है पर आभास का अस्तित्व सदा परतन्त्र होता है। इसका कारण यह है कि आभास का अस्तित्व सदा अन्य वस्तुओं के अस्तित्व पर आश्रित होता है।[1]

(v) सत् और आभास के बीच अंगी और अंग का सम्बन्ध अथवा 'सामान्य और विशेष का सम्बन्ध है। दोनों किसी न किसी रूप में एक दूसरे पर आश्रित हैं। यहाँ केवल इतना ही संकेत किया जा सकता है कि आभासों की अपेक्षा सत् अधिक स्वतन्त्र है। "निरपेक्ष सत् में कोई भी आभास विलीन नहीं हो जाता। प्रत्येक अंश पूर्ण की एकता में योगदान करता है और उसके लिए अनिवार्य तत्व है।...यदि पूर्ण को आभास के किसी अंश से वंचित कर दिया जाय, निरपेक्ष सत् मूल्यहीन हो जायगा।"[2]

(vi) इसका दूसरा पक्ष भी उतना ही सत्य है जितना पहला पक्ष। जिस प्रकार प्रत्येक आभास सत् की एकता में योगदान करता है उसी प्रकार निरपेक्ष सत् भी प्रत्येक आभास के अस्तित्व में योगदान करता है। ब्रैडले के ही शब्दों में: "निरपेक्ष सत् अपने सभी विशिष्ट आभासों में व्याप्त रहता है और एक अर्थ में, उनमें से प्रत्येक के समान भी होता है; यद्यपि कि वह प्रत्येक स्थान में विभिन्न मूल्यों एवं मात्राओं में उपस्थित रहता है।"[3]

(vii) यदि सत् और आभास दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं तो कुछ लोगों के मन में यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि आभासों के समूह को ही सत् कहते हैं। पर ब्रैडले इस विचार से सहमत नहीं हैं। कोई भी आभास या आभासों का समूह सत् के बराबर नहीं हो सकता।"[4]

(viii) ब्रैडले के अनुसार पिछले अनुच्छेद में जो बात कही गई है वह केवल अर्द्ध सत्य ही है। इसे पूर्ण सत्य के रूप में परिणत करने के लिए इसके पूरक तत्व का भी वर्णन होना चाहिए। वह पूरक तत्व यह है कि "निरपेक्ष तत्व आभास ही है, वह सबका समुच्चय है और साथ-साथ वह प्रत्येक आभास भी है।"[5]

---

1. वही, पृ० 404, "The internal being of everything finite depends on that which is beyond this."

2. वही, पृ० 404, "...in the Absolute no appearance can be lost. Each one contributes and is essential to the unity of the whole, ...Deprived of any one aspect or element, the Absolute may be called worthless."

3. आभास और सत्, पृ० 405, "Absolute is present in, and, in a sense, it is alike each of its special appearances; though present everywhere again in different values and degrees."

4. वही, पृ० 430, "All is appearance, and no appearance nor any combination of these, is the same as Reality."

5. वही, पृ० 431, "The Absolute is its appearances, it really is all and every one of them."

अब हमारे समक्ष समस्या यह उत्पन्न होती है कि एक ओर ब्रैडले निरपेक्ष सत् को सभी आभासों से अतीत मानते हैं और दूसरी ओर आभासों या उनके समुच्चय के साथ उसका तादात्म्य भी स्थापित करते हैं। इसका क्या रहस्य है ? अपनी पुस्तक "आभास और सत्" में ब्रैडले ने स्वयं इस समस्या के समाधान की ओर संकेत किया है : वह समाधान सत्ता और सत्य की विभिन्न श्रेणियों (Degrees of Reality and Truth) में विश्वास है। संसार की वस्तुओं को सत्ता की एक क्रमबद्ध श्रेणी के रूप में रखा जा सकता है जिसमें प्रत्येक परवर्ती श्रेणी, पूर्ववर्ती श्रेणी से श्रेष्ठतर है तथा प्रत्येक पूर्ववर्ती श्रेणी परवर्ती श्रेणी से निम्नतर है। निरपेक्ष तत्व इस सम्पूर्ण श्रेणी की पराकाष्ठा है। अत: ऐसी स्थिति में निरपेक्ष सत् को संसार की सभी वस्तुओं का लक्ष्य कारण (Final Cause) माना जा सकता है।

निरपेक्ष तत्व के 'लक्ष्य कारण' होने से इतर सत्ताओं की महत्ता में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आ जाती। यद्यपि संसार की कोई वस्तु पूर्ण नहीं है, किन्तु प्रत्येक वस्तु का किसी न किसी मात्रा में पूर्णता के भीतर महत्वपूर्ण कार्य होता है।[1] निरपेक्ष तत्व के भीतर कोई भी वस्तु अनावश्यक नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपनी उच्चतर श्रेणी की वस्तु की अपेक्षा असत् है पर निम्नतर श्रेणी की वस्तु की अपेक्षा सत् है, यद्यपि प्रत्येक वस्तु निरपेक्ष सत् की अपेक्षा असत् है। प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान और निश्चित महत्व है। 'विश्व का कोई भी प्रदेश इतना निकृष्ट नहीं है कि निरपेक्ष तत्व उसे व्याप्त न करता हो।"[2] "सृष्टि का कोई भी तथ्य इतना खण्डित और अकिञ्चन नहीं है कि विश्व के लिए उसका महत्व न हो।"[3]

(ix) सत् और आभास के पारस्परिक सम्बन्ध की और आगे व्याख्या करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि "सत् के बिना आभास असम्भव है क्योंकि सत् के अभाव में वह कौन वस्तु है जो आभासित होगी ? साथ ही, आभास के बिना सत् कुछ नहीं है क्योंकि आभासों से अतीत किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।"[4] इसके विपरीत, सत् वस्तुओं का समुच्चय मात्र नहीं है; यह वह एकता है जिसमें सभी वस्तुओं का रूपान्तरण होता है, यद्यपि यह रूपान्तरण सदा एक समान नहीं होता। इस एकता में पार्थक्य एवं विरोध के सम्बन्धों का समर्थन और साथ-साथ विलीनीकरण दोनों होता है। विरोध का अतिरेक सत् को विकृत करने की अपेक्षा उसे समृद्ध ही बनाता है। संकुचित दृष्टि से संसार में भले ही हमें कुरूपता, अशुभ और भ्रम दिखाई पड़े, पर व्यापक दृष्टिकोण से वे सौन्दर्य, शुभत्व और सत्य के ही अंग होते हैं।

---

1. वही, पृ० 431, "Nothing is perfect, as such, and yet everything in some degree contains a vital function of perfection."

2. वही, पृ० 431, "We can find no province of the world so low but the Absolute inhabits it."

3. वही, पृ० 431, "Nowhere is there even a single fact so fragmentary and so poor that to the universe it does not matter."

4. वही, पृ० 432, "Appearance without reality would be impossible, for what then, could appear ? And reality without appearance would be nothing, for there certainly is nothing outside appearances."

(x) आगे चलकर सत् और आभास के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर ब्रैडले ने कुछ ऐसी कूट-उक्तियों का प्रयोग किया है कि उनके वास्तविक उद्देश्य को समझना यदि असम्भव नहीं है तो कठिन अवश्य हो जाता है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है, "आभासों के अतिरिक्त, हम कह सकते हैं, कि निरपेक्ष सत् के पास कोई अन्य सम्पत्ति नहीं पाई जाती, किन्तु केवल आभासों की पूँजी के ऊपर निरपेक्ष सत् दिवालिया ही कहा जायगा।"[1] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं, "निरपेक्ष सत् का अपना कोई इतिहास नहीं होता, यद्यपि वह अपने भीतर असंख्य इतिहासों को धारण करता है।"[2] पुनः, वे कहते हैं, "निरपेक्ष सत् के भीतर मौसम नहीं पाए जाते, किन्तु वह एक साथ ही पत्तियों, फलों और फूलों को उत्पन्न करता है। हमारी पृथ्वी की तरह, इसमें या तो सदा ग्रीष्म और शीत ऋतुएँ पाई जाती हैं या वे कभी भी नहीं पाई जाती।"[3] इन सभी उद्धरणों का निहितार्थ एक ही है। व्यावहारिक दृष्टि से सत् के भीतर भले ही विपरीत गुण पाए जाते हों किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से उसके भीतर सभी विरोधों, विसंगतियों और असामञ्जस्यों का शमन हो जाता है। अतः ब्रैडले की उपर्युक्त उक्तियों में कोई तार्किक दोष नहीं पाए जाते। तत्व एक मूर्त सामान्य है जिसके भीतर अंग के रूप में अनेक विशेष पाए जाते हैं। पर विशेषों की अनेकता सामान्य की एकता को बाधित नहीं करती।

ब्रैडले का द्वन्द्व-न्याय
(Bradley's Dialectic)

शेलिंग ने काण्ट की स्व-लक्षण वस्तुओं को सौन्दर्यात्मक अनुभूति में विगलित कर दिया था तथा फिक्टे ने उसे नैतिक अनुभूति द्वारा साध्य माना था। काण्ट के अनुसार परमार्थ सत् यद्यपि अज्ञेय है पर वह हमारे ज्ञान का नियमन अवश्य करता है किन्तु हेगल के अनुसार विचार परमार्थ के विषय में केवल चिन्तन ही नहीं करता वरन् उसे जानने में सफल भी होता है। तत्व को हम पूर्णरूप में जान सकते हैं। **तत्व चित् व सत् अथवा बोध व सत्ता अथवा विज्ञान और वस्तु का तादात्म्य है।** इसी एकता को हेगल निरपेक्ष सत् (Absolute) के नाम से अभिहित करता है। निरपेक्ष तत्व वास्तविक और बोधात्मक दोनों साथ है। तत्व विशुद्ध सत् या अमूर्त विज्ञान नहीं है। हेगल के दर्शन में विशुद्ध सत् या अमूर्त विज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं है। तत्व सदा सविशेष है। हेगल के लिए विशुद्ध विशेष या विशुद्ध सामान्य का कोई महत्व नहीं है। वह मूर्त सामान्य में विश्वास करता है। बोध व सत्ता की आदर्श एकता केवल निरपेक्ष तत्व में ही प्राप्त की जा सकती है। संसार की अन्य

---

1. आभास और सत्; पृ० 433, "The Absolute, we may say, has no assets beyond appearances, and again with appearances alone to its credit, the Absolute would be bankrupt."

2. वही, पृ० 442, "The Absolute has no history of its own, though it contains histories without number."

3. वही, पृ० 442, "The Absolute has no seasons, but all at once bears its leaves, fruit and blossoms. Like our globe, it always and it never has summer and winter."

वस्तुओं में बोध व सत्ता की यह एकता केवल विभिन्न मात्राओं में ही प्राप्त की जा सकती है। बोध व सत्ता की यह एकता जब तक पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं हो जाती तक तक संभवन (Becoming) की यह प्रक्रिया चलती रहेगी। संभवन की इस प्रक्रिया को हेगल ने विचार के विकास की प्रक्रिया कहा है जिसे पारिभाषिक शब्दावली में द्वन्द्व-प्रक्रिया (Dialectic) कहते हैं।

विचार या बोध की अपूर्ण व अमूर्त अवस्था से पूर्ण व मूर्त अवस्था के संचरण को ही हेगल ने द्वन्द्व-प्रक्रिया का नाम दिया है। निरपेक्ष सत् तत्व के रूप में एक मूर्त समष्टि (Concrete Whole) है जिसमें बोध व सत्ता का पूर्ण तादात्म्य पाया जाता है। हेगल के निरपेक्ष तत्व में बोध व सत्ता का कोई अन्तर्विरोध नहीं है। पर अन्य सत्ताओं के विषय में यह बात लागू नहीं होती। संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें अमूर्तता या व्याघात न पाया जाता हो। इसी प्रकार संसार में ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है जिसमें पूर्ण रूप में अमूर्तता या व्याघात पाया जाता हो। हेगल के दर्शन में अमूर्तता व विरोध के निवारण का कार्य द्वन्द्व-प्रक्रिया द्वारा संपादित होता है जिसके द्वारा विचार को पूर्ण सिद्धता प्राप्त होती है। यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया त्रिपदीय (Triadic) होती है जिसमें वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-thesis व संवाद (Synthesis) तीन क्षण होते हैं। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में सत् (Being) सर्वाधिक अकिञ्चन क्षण है, दूसरी उच्चतर अवस्था सत्व (Esserce) की है तथा तृतीय उच्चतम अवस्था संबोध (Notion) की है जो स्वयं निरपेक्ष तत्व (Absolute) ही है।

द्वन्द्व-न्याय के विषय में ब्रैडले के विचार

काण्ट ने विचार का निदान करते हुए कहा कि विचार के भीतर एक ऐसा स्वाभाविक दोष (Constitutional Defect) है जिसके कारण वह तत्व का ज्ञान प्राप्त करने में सदा अक्षम रहेगा। विचार के भीतर स्वाभाविक दोष यह है कि वह प्रतिभान से रहित है तथा इस दोष का निवारण विचार द्वारा नहीं किया जा सकता। इसी कारण काण्ट अन्ततः अज्ञेयवादी (Agnostic) बन गया। शेलिंग ने इस समस्या का समाधान करते हुए कहा कि वास्तव में ज्ञाता और ज्ञेय एक ही तत्व के दो पहलू हैं। पर यह समस्या का वास्तविक समाधान नहीं है। यह समाधान करने की अपेक्षा समस्या का ही निषेध करता है। इसी कारण शेलिंग के निरपेक्ष तत्व की आलोचना करते हुए हेगल ने कहा था कि शेलिंग का निरपेक्ष तत्व ऐसी काल-रात्रि है जिसमें सभी गौवें काली दिखाई पड़ती हैं। हेगल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली इस गतिरोध को समाप्त करने के लिए जो समाधान प्रस्तुत करती है उसके अनुसार यदि रोग विचार की अपूर्णता के कारण है तो इसका निदान व चिकित्सा विचार के द्वारा ही प्रस्तुत की जा सकती है। विचार के विषय में काण्ट ने कहा कि इसकी अस्वस्थता का उपचार किया ही नहीं जा सकता। फिक्टे ने कहा कि विचार की अस्वस्थता का उपचार **विषम-चिकित्सा** (Hetero-pathy) द्वारा सम्भव है। शेलिंग **मनो-चिकित्सा** (Psycho-pathy) प्रस्तावित करता है। इन सबके विपरीत, हेगल विचार की अस्वस्थता के समाधान के लिए **सम-चिकित्सा** (Homoeo-pathy) की संस्तुति करता है जिसके अनुसार विचार रोग का कारण और उपचार दोनों है।

ब्रैडले की द्वन्द्वात्मक प्रणाली की दो प्रावस्थाएँ है : प्रथम काण्टियन व द्वितीय हेगेलियन । इन दोनों प्रावस्थाओं में किसी विकल्प को स्वीकार करना कठिन है । आभास ओर सत् के प्रथम भाग में ब्रैडले ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि विचार के सम्बन्धात्मक स्वभाव के कारण उसकी उक्तियों और युक्तियों में नाना प्रकार के अन्तर्विरोध पाए जाते हैं । विचार तत्व को सदा एक विषय (Object) के रूप में देखने की चेष्टा करता हैं पर निरपेक्ष तत्व का स्वभाव **अव्यवहितत्व** (Immediacy) है जिसमें विषयी और विषय का कोई भेद नहीं है । अत: बिचार के द्वारा इस तत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती । तत्व के विषय में हम जितने विधान जैसे : द्रव्य, गुण, सम्बन्ध, जीवात्मा, शुभता, नैतिकता इत्यादि करेंगे वे तत्व के एकपक्षीय स्वरूप की ही अभिव्यक्ति करेंगे ।

ब्रैडले की द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य यह प्रदर्शित करना है कि विचार प्रमुखत: सम्बन्धात्मक व विमर्शात्मक (Discursive) है । यह तत्व को पूर्ण इकाई के रूप में प्रदर्शित न कर प्रथम उसका तत् (That) और किम् (What) रूप में विभाजन कर उसके विघटित रूप को प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है; पुन : यह तत्व के तत् और किम् को संघटित कर तथा उसके विखण्डन (Fracture) का निवारण करके उसे सीवनहीन या संधिहीन (Seamless) समष्टि के रूप में देखने की चेष्टा करता है । पर विचार, विचार के रूप में इस आदर्श लक्ष्य की सिद्धि कभी नहीं कर सकता । किन्तु यदि वह इस साध्य की प्राप्ति कर लेता है, उसे अवश्य आत्म-हत्या कर लेनी होगी । आत्म-हत्या करने के बाद विचार का अस्तित्व ही नहीं रहेगा । ऐसी स्थिति में वह अपने वांछित लक्ष्य की प्राप्ति किस प्रकार कर सकता है ? इस प्रकार ब्रैडले की द्वन्द्व-प्रणाली केवल निषेधात्मक ही है । इसका उद्देश्य केवल यह प्रदर्शित करना है कि विचार के विषय अन्तत: आत्म-व्याघातक होते हैं । विचार के सम्वन्धात्मक होने के कारण इसका विषय सदा असंगत व आत्म-व्याघातक ही होगा । अत: स्वीकारात्मक व निषेधात्मक दोनों वाक्य आत्म-व्याघातक ही होंगे ।

यहाँ ब्रैडले के द्वन्द्व-न्याय व माध्यमिकों के द्वन्द्व-न्याय में समानता दिखाई जा सकती है । माध्यमिकों के द्वन्द्व-न्याय को प्रसज्य-अतिषेध-न्याय कहा जाता है । माध्यमिक चतुष्कोटि का प्रमुख उद्देश्य यह है कि तत्व सम्बन्धी चारों प्रकार के तर्क-वाक्य अन्तत: अयथार्थ होते हैं । इनमें से प्रत्येक स्थिति स्वयं में एक अयथार्थ है । य तर्क-वाक्य के अयथार्थ होने का यह अर्थ नहीं है कि ल्य यथार्थ है । असंभवापत्ति की युक्ति (Apagogic Proof) जिसमें किसी तर्क-वाक्य की यथार्थता उस तर्क-वाक्य के विरोधी तर्क-वाक्य की असत्यता सिद्ध करके प्रमाणित की जाती है, माध्य-मिक न्याय में स्वीकार्य नहीं है । यही बात ब्रैडले के द्वन्द्व-न्याय पर भी लागू होती है । आभास और सत् के प्रथम भाग का प्रमुख लक्ष्य केवल ज्ञात स्थितियों का खण्डन करना ही है । प्रथम भाग के इस द्वन्द्व-न्याय को **दर्शनों का दर्शन** (Philosopay of Philosophies) कहा जा सकता है । यह किसी सत्ता-मीमांसा (Ontology) का प्रतिपादन नहीं करता; यह एक प्रकार की अधि-सत्ता-मीमांसा (Meta-Ontology) या अधि-दर्शन (Meta-Philosophy) है । ब्रैडले यहाँ किसी भी प्रकार के सत्तावाद के आत्म-व्याघातक स्वरूप का निदर्शन करते हैं । काण्ट के अनुसार भी दर्शन का

प्रमुख लक्ष्य आलोचना (Criticism) है। नागार्जुन की मूलमाध्यमिक कारिका पर टीका करते हुए चन्द्रकीर्ति ने लिखा है कि दर्शन का प्रमुख कार्य आलोचना करना है। ब्रैडले के द्वन्द्व-न्याय का भी यही उद्देश्य है।

किन्तु ब्रैडले ने "सत्य और सत् की मात्राएँ" वाले अध्याय में अपनी दार्शनिक स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन घोषित किया। वहाँ वैचारिक प्रत्ययों के अन्तर्विरोधों को किसी धार्मिक, सौन्दर्यात्मक या नैतिक अनुभवों में डुबकी लगाकर दूर करने की चेष्टा नहीं की है बल्कि विचारों की अस्वस्थता को विचार के माध्यम से ही दूर करने की चेष्टा की है। यहाँ उसने तत्व को एक मूर्त सामान्य (Concrete Universal) के रूप में स्वीकार किया जिसकी सिद्धि हेगल के द्वन्द्व-न्याय की तरह अमूर्त प्रत्यय से मूर्त प्रत्यय की ओर अग्रसर होने से हो सकती है। यहाँ ब्रैडले का द्वन्द्व-न्याय वैचारिक प्रत्ययों एवं विकल्पों की केवल आलोचना ही नहीं करता वरन् निरपेक्ष सत् को (Absolute) को प्राप्त करने का मार्ग भी प्रशस्त करता है। ब्रैडले की यह स्थिति पर्याप्त विचित्र और कठिनाई उत्पन्न करने वाली है। आभास और सत् के प्रथम भाग में ब्रैडले ने यह दर्शाने की चेष्टा की कि विचार के द्वारा हम निरपेक्ष सत् की प्राप्ति नहीं कर सकते क्योंकि विचार के भीतर स्वाभाविक अन्तर्विरोध पाए जाते हैं किन्तु द्वितीय भाग में अपनी पूर्वस्थिति में परिवर्तन कर ब्रैडले यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि विचार के विषय को अधिक संसक्त और सुव्यवस्थित करके तत्व को जान सकते हैं। यदि सत्य और सत् की विभिन्न मात्राएँ हैं तो इसका अर्थ यह है कि तत्वों की संख्या अनेक है। ऐसी स्थिति में ब्रैडले तत्व-विज्ञान में बहुलवादी कहे जाँयगे तथा उनका तत्व-विज्ञान लगभग उसी प्रकार का होगा जिस प्रकार लाइब्नित्स का तत्व-विज्ञान था। पर ब्रैडले बहुलवादी दार्शनिक नहीं हैं। जो कुछ हम जानते हैं वह न तो पूर्णतया यथार्थ होता है और न पूर्णतया अयथार्थ ही। हमारे ज्ञान के विषय किसी न किसी रूप में यथार्थ ही होते है : इनमें कुछ अधिक यथार्थ होता है और कुछ कम यथार्थ। ब्रैडले ने आभास और सत् के दोनों भागों में जो भिन्न दृष्टिकोण अपनाए हैं, उनका प्रमुख उद्देश्य यह है कि विचार द्वारा स्वीकृत कोई स्थिति विरोधों से मुक्त नहीं हो सकती। ब्रैडले के द्वन्द्व-न्याय के निषेधात्मक पक्ष का मन्तव्य यह दर्शाना है कि विचार द्वारा स्वीकृत कोई स्थिति अन्तिम नहीं हो सकती। यह भाग दर्शनों का दर्शन है। सत् के भाग में ब्रैडले ने तत्व की विभिन्न मात्राओं को प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। तत्व की विभिन्न मात्राओं के दर्शन द्वारा उन्होंने यह दर्शाया है कि केवल सैद्धान्तिक आधार पर व्यावहारिक जगत की निन्दा करने की आवश्यकता नहीं है। आनुभविक-व्यावहारिक जगत में तत्व की मात्राओं का सिद्धान्त लागू होता है। पर तात्विक दृष्टि से ब्रैडले के इस दृष्टिकोण को ठीक नहीं कहा जा सकता।

4
विलियम जेम्स

(William James : 1842–1910)

अर्थ-क्रियावाद
(Pragmatism)

प्रस्तावना

'प्रैग्मेटिज्म' शब्द यूनानी शब्द 'प्रैग्मा' से निकला है जिसका अर्थ "क्रिया" या 'व्यवहार' होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रैग्मेटिज्म' शब्द का अर्थ 'अर्थ-क्रियावाद' होगा। दर्शन-शास्त्र में 'प्रैग्मेटिज्म' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग चार्ल्स पियर्स (Charles Peirce) ने किया था। उन्होंने अपने अर्थ-क्रियावादी विचारों का विश्लेषण दो लेखों 'द फिक्सेशन ऑव बिलीफ' (The Fixation of Belief) और 'हाउ टु मेक अवर आइडियाज़ क्लियर'[1] (How to Make Our Ideas Clear) के माध्यम से अमेरिकी बौद्धिक समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। पियर्स ने अपनी अर्थ-क्रियावादी योजना को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया, "हमारे विश्वास वस्तुतः हमारे कार्यों के विधान हैं।" पियर्स के अर्थ-क्रियावादी कार्यक्रम को अग्रसारित करते हुए विलियम जेम्स ने घोषित किया, "किसी विचार या प्रत्यय के अर्थ को सुनिश्चित करने के लिए केवल हमें यह निर्धारित करना है कि इसके भीतर किस प्रकार के व्यवहार को उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान है; वह व्यवहार ही हमारे लिए उस प्रत्यय की पूर्ण सार्थकता है।[2]

यद्यपि विलियम जेम्स के अनुसार चार्ल्स पियर्स ही वह प्रथम व्यक्ति है जिसने 'प्रैग्मैटिज़्म' शब्द का दर्शन-शास्त्र में सर्वप्रथम प्रयोग किया पर वास्तविकता कुछ दूसरी ही है। डेवी[3] के अनुसार पियर्स ने अपने लेखों में न तो इस शब्द का कहीं प्रयोग किया है और न तो स्वयं उसने इस शब्द का निर्माण ही किया। पियर्स ने स्वयं एक स्थल पर लिखा है कि उसे अर्थ-क्रियावादी विचारधारा की प्राप्ति काण्ट के 'क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न' से हुई। हाँ ! इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अर्थक्रियावाद के मूलभूत विचारों के प्रथम सिद्धान्तकार चार्ल्स पियर्स ही हैं। विलियम जेम्स एवं जॉन डेवी ने भिन्न-भिन्न व्यावहारिक क्षेत्रों में अर्थक्रियावाद का प्रयोग किया तथा शिलर ने अर्थक्रियावाद का एक तार्किक आधार प्रस्तुत किया। यहाँ हम अर्थक्रियावाद के विभिन्न चरणों को इन दार्शनिकों के विचारों के माध्यम से पृथक्-पृथक् प्रदर्शित करेंगे।

1. पॉपुलर साइन्स मन्थली, जनवरी, 1878.
2. जेम्स, प्रैग्मेटिज़्म, पृ० 46.
3. डेवी, चान्स, लव एण्ड लॉजिक, पृ० 301-2.

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विलियम जेम्स के अनुसार अर्थक्रियावाद कोई बिलकुल नई विचारधारा नहीं है। वह प्राचीन चिन्तन-प्रणाली का एक नया रूप है। प्राचीन विचारकों ने भी इसका खुलकर प्रयोग किया था। 'सॉक्रेटीज़ इसमें सिद्ध-हस्त था। एरिस्टॉटल ने इसका व्यवस्थित रूप में प्रयोग किया था। लॉक, बर्कले एवं ह्यूम ने इस विचारधारा के माध्यम से सत्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया था।'[1] अभिनव दार्शनिकों में : मैश, पियर्सन, प्वाइन्केयर, सिग्वर्ट इत्यादि कुछ ऐसे विचारक हैं जिनमें जेम्स के अनुसार अर्थ-क्रियावादी प्रवृत्ति पाई जाती है। योरोपीय महाद्वीप के विचारकों में पैपिनी (इटली), साइमेल (जर्मनी) व ब्लॉण्डेल (फ्रान्स) कुछ ऐसे उल्लेखनीय नाम हैं जो अर्थक्रियावाद के पोषक माने जाते हैं।

यद्यपि अर्थक्रियावाद को मानने वाले संसार के कई देशों में पाए जाते हैं पर यह विचारधारा प्रमुख रूप में अमेरिका की देन है। अमेरिकावासियों का जीवन के प्रति एक व्यावहारिक व प्रायोगिक दृष्टिकोण होता है जिसके कारण वहाँ अर्थक्रियावादी विचारधारा के विकास के लिए समुचित वातावरण मिलता है। अमेरिकी अर्थक्रियावादियों में विलियम जेम्स एवं जॉन डेवी के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं जिन्होंने इस विचारधारा को केवल उत्पन्न व विकसित ही नहीं किया वरन् जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता को भी चरितार्थ किया। ब्रिटेन के दार्शनिकों में अर्थक्रियावाद को कोई विशेष स्थान नहीं प्राप्त हुआ। वहाँ केवल एफ० सी० एस० शिलर ही एक ऐसे विचारक हैं जिन्होंने अर्थ-क्रियावाद को स्वीकार किया तथा उसके तार्किक आधार को पुष्ट करने में पर्याप्त योगदान किया। भारतीय चिन्तन-प्रणाली का दृष्टिकोण व्यावहारिक अवश्य रहा है पर इस कारण उसे अर्थक्रियावादी नहीं कहा जा सकता। न्याय-दर्शन ही एक ऐसा भारतीय दर्शन है जिसने प्रवृत्ति-सामर्थ्य को ज्ञान के निकष के रूप में स्वीकार करके अर्थक्रियावाद को थोड़ा प्रश्रय देने की चेष्टा की है। अन्य सम्प्रदायों ने इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वे कौन सी दार्शनिक परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने एक दार्शनिक प्रवृत्ति के रूप में अर्थक्रियावाद को उत्पन्न करने में सहायता दीं। चार्ल्स पियर्स एवं विलियम जेम्स के पहले अमेरिका के विश्वविद्यालय व अन्य बौद्धिक संस्थाएँ जर्मन विज्ञानवाद से विशेष प्रभावित थीं। जोसिया रॉयस (1855-1916) अमेरिकी विज्ञानवाद के प्रतिनिधि दार्शनिक थे। विज्ञानवादी अद्वैतवाद में व विश्व के स्थिर चित्र तथा पारलौकिक सत्ता में विश्वास करते थे जो वास्तविकता से बिलकुल भिन्न, कृत्रिम व काल्पनिक प्रतीत होता है। अर्थ-क्रियावाद तत्कालीन निरपेक्षवाद (Absolutism), बुद्धिवाद (Intellectualism or Rationalism), एवं विज्ञानवाद (Idealism) के विरोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ। निरपेक्ष विज्ञानवाद जो व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध करता है अमेरिकावासियों को स्वीकार्य नहीं था। वे अपने अनुभव के विपरीत जाने के पक्षपाती नहीं हैं। वे किसी स्थिर, शाश्वत व अपरिवर्तनशील संसार में विश्वास न कर अस्थिर, नश्वर व परिवर्तनशील संसार में विश्वास करते हैं।

---

1. जेम्स, प्रैग्मैटिज़्म, पृ० 50.

चार्ल्स पियर्स ने डार्विन की 'उपजातियों की उत्पत्ति' (Origin of Species) नामक पुस्तक ध्यानपूर्वक पढ़ी थी जिसके जीवन-संघर्ष, परिस्थितियों के प्रति समा-योजन तथा प्राकृतिक चयन सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया था। विलियम जेम्स जिसने चिकित्साशास्त्र में प्रशिक्षण प्राप्त किया था, जीवन की जैविक व्याख्या के लिए सुयोग्य व्यक्ति था। जोसिया रॉयस, के विज्ञानवाद में विचारों की अपेक्षा संकल्प-शक्ति को विशेष महत्व दिया गया था जिसके कारण अर्थक्रियावाद की उत्पत्ति के लिए स्वस्थ वातावरण उत्पन्न हो चुका था। जेम्स एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। उन्हें कला, विज्ञान, दर्शन एवं धर्मशास्त्र कई विषयों मे दक्षता प्राप्त थी। इन सारी बातों ने अर्थक्रियावादी विचारधारा के विकास में पर्याप्त योगदान किया।

1. चार्ल्स पियर्स
(Charles Peirce : 1839-1914)

चार्ल्स पियर्स अर्थक्रियावाद का प्रथम दार्शनिक है। उसके दार्शनिक विचार 'कलेक्टेड पेपर्स' (Collected Papers) जो छः भागों में प्रकाशित है, संकलित हैं। उसके अनुसार अर्थक्रियावाद 'कोई तत्व-विज्ञान का सिद्धान्त नहीं है' वरन् यह 'चिन्तन की एक प्रणाली है जिसका उद्देश्य विचारों को स्पष्ट करना है।1 यह प्रणाली केवल विभिन्न विज्ञानों के लिए ही उपयोगी नहीं है वरन् जीवन के दैनिक व्यवहार में भी इसकी उपयोगिता है।

अर्थक्रियावाद एक अन्वेषण-विधि भी है जो विभिन्न विचारों या पदों की वास्तविक परिभाषा या तार्किक विश्लेषण को निर्धारित करती है। चार्ल्स पियर्स के लिए अर्थक्रियावाद एक प्रकार का अर्थवाद (Theory of Meaning) है जिसे उसने कई प्रकार से व्यक्त किया है—(i) विचार करो कि हमारे प्रत्यय का जो विषय है उसका क्या प्रभाव है : वह प्रभाव जिसका कोई व्यावहारिक अभिप्राय हो। ऐसी स्थिति में **उन प्रभावों की अवधारणा ही उस वस्तु के विषय में हमारी सम्पूर्ण अव-धारणा** होगी।2 (ii) किसी बौद्धिक प्रत्यय के अर्थ को निर्धारित करने के लिए हमें यह विचार करना चाहिए कि यदि वह प्रत्यय यथार्थ है तो उससे अनिवार्यतः कौन-कौन से व्यावहारिक परिणाम निगमित किये जा सकते हैं; **इन परिणामों का समुच्चय ही उस प्रत्यय के सम्पूर्ण अभिप्राय को निर्धारित करेगा**।3

यहाँ पियर्स ने किसी विचार या प्रत्यय के अर्थ को "प्रत्यक्षात्मक परिचय" (Perceptual Acquaintance) के द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए जब हम किसी वस्तु को कठोर (Hard) कहते हैं तो इससे हमारा क्या तात्पर्य होता है ? पियर्स के अनुसार स्पष्टतः इसका यही अर्थ होता है कि 'उस वस्तु को कोई अन्य वस्तु खुरच नहीं सकती।'4 'इस गुण या किसी अन्य गुण का

1. भाग V, 464.
2. भाग V, पृ० 2.
3. भाग V, पृ० 9, 18, 467.
4. भाग V, पृ० 403.

सम्पूर्ण प्रत्यय उसके सम्भावित व्यावहारिक प्रभावों पर ही आश्रित होता है। किसी कठोर और कोमल वस्तु के बीच तब तक कोई अन्तर स्पष्ट नहीं किया जा सकता जब तक कि उनका इस प्रकार व्यावहारिक परीक्षण नहीं कर लिया जाता।[1] अर्थात् सार्थकता का अर्थक्रियावादी निकष यह बतलाता है कि किसी वस्तु के भीतर किसी गुण के विधान करने का तात्पर्य यह है कि 'यदि उस वस्तु के ऊपर कोई निश्चित संक्रिया (Operation) की जाती है तो उसका अमुक निश्चित परिणाम होता है'।[2] इसी प्रकार भार (Weight) के विज्ञान को स्पष्ट करने के लिए पियर्स उसकी निम्न संक्रियात्मक परिभाषा प्रदान करते हैं 'किसी पिण्ड को भारी कहने का तात्पर्य यह है कि विरोधी शक्ति के अभाव में वह नीचे गिर जायगा।[3] अतः किसी विचार या विज्ञान का अर्थ उसके परिकल्पित या सम्भावित प्रभावों में निहित होता है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि किसी विचार या प्रत्यय के अर्थ का निर्धारण एक मानसिक या बौद्धिक प्रक्रिया के द्वारा सम्पादित होता है; इसके लिए सम्भावित संक्रियाओं के व्यावहारिक अनुपालन की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ पियर्स ने चेतावनी के स्वर में घोषित किया कि यदि अर्थक्रियावाद ने "वास्तव में संक्रिया को ही जीवन का अस्तित्व व लक्ष्य मान लिया तो यह उसकी परिसमाप्ति होगी। क्योंकि, यह कहना कि हम केवल संक्रिया के लिए जीवित रहते हैं तथा उसमें निहित प्रयोजन से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं हैं सम्पूर्ण बौद्धिक उद्देश्य को अस्वीकार कर देने के समान होगा।"[4]

अब चार्ल्स पियर्स अर्थक्रियावाद की उपयोगिता के प्रदर्शन की ओर अग्रसर होते हैं। अर्थक्रियावाद यह "दर्शाने का प्रयत्न करता है कि सत्तात्मक तत्वविज्ञान का लगभग प्रत्येक तर्क-वाक्य या तो निरर्थक प्रलाप है—जिसमें किसी शब्द के वास्तविक अर्थ तक पहुँचे बिना हम एक शब्द की दूसरे शब्द के माध्मय से तथा दूसरे शब्द की तीसरे शब्द के माध्यम से व्याख्या करते हैं—या बिलकुल अनर्गल असंगति है; ऐसे सभी कूड़ा-कर्कट को निकाल देने के बाद दर्शन-शास्त्र के भीतर केवल ऐसी समस्याएँ शेष रहेंगी जिनका वास्तविक विज्ञानों की निरीक्षण-प्रणाली के द्वारा समाधान प्रस्तुत किया जा सकेगा—ऐसी समस्याओं व उनके समाधानों की यथार्थता का निर्णय उन तमाम अनन्त गलतफहमियों और विवादों के बिना ही किया जा सकेगा जिन्होंने उच्चतम विज्ञानों को अकर्मण्य बुद्धि के लिए केवल मनोरंजन की सामग्री बना रखा है।"[5] पियर्स के अनुभववाद ने आगे चलकर तार्किक प्रत्यक्षवादियों एवं अन्य आधुनिक अनुभववादियों को विशेष रूप में प्रभावित किया।

2. विलियम जेम्स

(William James 1842-1910)

जीवन-वृत्त—विलियम जेम्स के पूर्वज मूल रूप में आयरलैण्ड के निवासी थे। वे व्यापार के सम्बन्ध में अमेरिका गए और न्यूयार्क में जाकर बस गए। जेम्स का

1. भाग V पृ० 403.
2. भाग V पृ० 483.
3. भाग पृ० 40.
4. भाग V पृ० 429.
5. भाग V पृ० 423.

पालन-पोषण एक दार्शनिक वातावरण में संपन्न हुआ क्योंकि उनके पिता स्वयं धर्म और दर्शन के अटूट प्रेमी थे। व्यापार के सिलसिले में इनके परिवार को पर्याप्त यात्राएँ करनी पड़ती थीं जिनके कारण विलियम जेम्स की शिक्षा अमेरिका, स्विटजरलैण्ड व फ्रान्स कई स्थानों पर सम्पन्न हुई। हार्वर्ड विश्वविद्यालय से उन्होंने विज्ञान व चिकित्साशास्त्र में डिग्री प्राप्त की और वहीं सन् 1872 ई० में प्राध्यापक पद पर नियुक्त किए गए। अमेरिका में सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला को स्थापित करने का श्रेय विलियम जेम्स को ही है। वे हार्वर्ड में एक साथ दर्शन-शास्त्र व मनोविज्ञान पर लेख व पुस्तकें प्रकाशित करते रहे। व्यापार व यात्रा का उनके दार्शनिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

दार्शनिक कृतियाँ—मनोविज्ञान के सिद्धान्त (Principles of Psychology, 1890), विश्वास की संकल्प-शक्ति (The Will to Believe, 1897), मानवीय अमरता (Human Immortality, 1898), धार्मिक अनुभूति की विविधताएँ (Varieties of Religious Experience, 1902), अर्थ-क्रियावाद (Pragmatism, 1907), सत्य का अर्थ (The Meaning of Truth, 1909); बहुलवादी समष्टि (A Pluralistic Universe); उत्कट अनुभववाद सम्बन्धित लेख (Essays in Radical Empiricism) इत्यादि।

मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

जेम्स ने सन् 1890 ई० में मनोविज्ञान के सिद्धान्त (Principles of Psychology) नामक मनोविज्ञान की पुस्तक प्रकाशित कराई। इस रचना ने अर्थ-क्रियावाद की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार की। जेम्स के पहले मनोविज्ञान के क्षेत्र में बुद्धिवादी मनोविज्ञान (Rationalistic Psychology) का बोलवाला था जिसके अनुसार हमारी सारी मानसिक क्रियाओं के अधिष्ठान के रूप में एक शाश्वत आत्मा कार्य करती है। किन्तु जेम्स ने मनुष्य और आत्मा की व्याख्या जीव-विज्ञान (Biology) और शरीर-विज्ञान (Physiology) के आधार पर प्रस्तुत किया जिसके अनुसार आत्मा कोई शाश्वत सत्ता न होकर एक परिवर्तनशील और विकासमान इकाई है जो शरीर से **विकास के परिणामस्वरूप** उत्पन्न हुई है। संसार की प्रत्येक वस्तु को अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए जीवन-संघर्ष करना होता है। जब शरीर जीवन-संघर्ष में परिस्थितियों या वातावरण के साथ अभियोजन करने में सफल नहीं हुआ तो इसे सफल करने के लिए उसने अपने भीतर से मन या आत्मा को उत्पन्न किया। जिस वस्तु के भीतर संघर्ष करने की जितनी अधिक क्षमता होती है वही वातावरण के साथ अभियोजन स्थापित कर अपने अस्तित्व को बनाए रख सकती है। इस प्रकार जेम्स ने आत्मा की स्थैतिक (Static) व्याख्या प्रस्तुत न कर उसकी गत्यात्मक (Dynamic) और जैविक (Biological) व्याख्या प्रस्तुत की जिसके अनुसार समय के परिवर्तन के अनुसार शरीर व आत्मा में भी परिवर्तन होता रहता है। उन्होंने, इस प्रकार बुद्धिवादी मनोविज्ञान के स्थान पर **अनुभववादी** (Empirical) **और प्रायोगिक** (Experimental) **मनोविज्ञान की आधारशिला रक्खी।**

जेम्स बुद्धिवादी न होकर अनुभववादी है पर उसका अनुभववाद प्राचीन अनुभववाद से बिलकुल भिन्न है। प्राचीन अनुभववाद मानता है कि हमारा अनुभव पारमाणविक संवेदनाओं (Atomic Sensations) से मिलकर बना है जिनके बीच बाह्य सम्बन्ध पाया जाता है तथा जो साहचर्य-नियम (Laws of Association) के द्वारा परस्पर संयुक्त होकर ज्ञान के विषयों का निर्माण करते हैं। इसके विपरीत विलियम जेम्स चैतन्य की सतत निरन्तर व अविच्छिन्न धारा (Seamless and continuous stream of Consciousness) में विश्वास करते हैं। संवेदनाओं की जो पृथकता और विविक्तता है वह मस्तिष्क के अमूर्तीकरण का परिणाम होता है। प्राचीन अनुभववाद आत्मा को निष्क्रिय मानता है जिसके कारण प्रारम्भ में आत्मा एक कोरे कागज़ के समान होती है जिस पर बाद में संवेदनाएँ अंकित होकर ज्ञान का निर्माण करती हैं। इसके विपरीत जेम्स आत्मा को सक्रिय व चयनात्मक (Selective) मानता है। आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ जीवन-संघर्ष में व्यक्ति के हित-साधन के विभिन्न प्रयत्नों की ही अभिव्यक्त करती हैं। प्राचीन अनुभववाद व जेम्स के अनुभववाद के बीच तीसरा अन्तर यह है कि जेम्स के अनुसार मन का वास्तविक स्वरूप ज्ञान नहीं वरन् संकल्प-शक्ति (Will Power) है। वह ज्ञान को एक प्रक्रिया मानता है जो जीवन के एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति करती है। दोनों में चौथा अन्तर यह है कि प्राचीन अनुभववाद मानता है कि प्रत्यक्ष का वास्तविक कार्य है : बाह्य जगत को अभिव्यक्त करना, पर जेम्स के अनुसार प्रत्यक्ष का वास्तविक कार्य तत्व की अभिव्यक्ति नहीं है वरन् बाह्य संसार के प्रति प्रतिक्रिया करना है। प्रत्यक्ष द्वारा हम प्रकृति को परिवर्तित करने की चेष्टा करते हैं तथा इसके परिणामस्वरूप हम स्वयं परिवर्तित हो जाते हैं।

जेम्स की आत्मा सम्बन्धी परिकल्पना निम्न तीन मान्य सिद्धान्तों के बिलकुल विपरीत हैं :

(1) **अध्यात्मवाद** (Spiritualism)—जो आत्मा को एक अपरिवर्तनशील व शाश्वत द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है। जेम्स की आत्मा सतत् परिवर्तनशील हैं।

(2) **अतीन्द्रियवाद** (Transcendentalism)—जो आत्मा को देश-काल से अतीत एक संश्लेषणात्मक तत्व के रूप में स्वीकार करता है। पर जेम्स की आत्मा कालगत है जो सतत परिवर्तनशील है।

(3) **अनुभववाद** (Empiricism)—जो आत्मा को स्वतन्त्र और विविक्त इन्द्रियानुभवों के समुच्चय के रूप में स्वीकार करता है। इसके विपरीत जेम्स आत्मा को चैतन्य की एक अजस्र धारा के रूप में मानते हैं।

जेम्स ने मानवीय चेतना के चयनात्मक स्वभाव (Selective Nature) पर विशेष बल दिया है।[1] बाह्य संसार में बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो हमारे ज्ञान का विषय हो सकती हैं, किन्तु हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ केवल उन्हीं वस्तुओं को ज्ञान का विषय बनाती हैं जिनके प्रति हमारी कोई अभिरुचि होती है। इसी प्रकार हमारा अवधान भी अभिरुचियों के द्वारा संचालित होता है। जेम्स के शब्दों में "बाह्य संसार की करोड़ों वस्तुएँ हमारी ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष उपस्थित होती हैं जो वस्तुतः कभी भी

1. प्रिन्सिपुल्स ऑव साइकॉलॉजी I, पृ० 284.

हमारे अनुभव के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पातीं। ऐसा क्यों? कारण यह है कि उनके प्रति हमारी कोई रुचि नहीं है। **हमारा अनुभव वही है जिसके प्रति ध्यान देने के लिए हम सहमत होते हैं।** केवल वही वस्तुएँ जिन्हें मैं ध्यानपूर्वक देखता हूँ, मेरे मस्तिष्क को प्रभावित कर सकती हैं—चयनात्मक अभिरुचि के अभाव में अनुभूति में अराजकता उत्पन्न हो जायगी। अभिरुचि ही हमारी अनुभूति को विशिष्टता व महत्व, प्रकाश व छाया, पृष्ठभूमि व अग्रभूमि—संक्षेप में, बोधगम्य सन्दर्श प्रदान करती है। प्रत्येक जीव में इसकी विविधता पाई जाती हैं किन्तु इसके अभाव में प्रत्येक जीव की चेतना में एक ऐसी अराजक अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।"[1] अंग्रेज अनुभववादियों ने आत्मा की इस चयन-प्रक्रिया की बिलकुल ही अवहेलना की थी क्योंकि वे आत्मा को निष्क्रिय मानते थे। प्रत्यक्ष, स्मृति एवं संकल्पना सभी चयनात्मक होती हैं। यही कारण है कि प्रत्यक्षीकरण मे हम किसी वस्तु के एक पहलू का चयन कर उसी पहलू को ही वस्तु का एकमात्र प्रतिनिधि मान बैठते हैं। किसी सिक्के की वृत्ताकार, अंडाकार, रेखाकार इत्यादि कई आकृतियाँ होती हैं पर हम उसकी वृत्ताकार आकृत्ति को ही सिक्के की एकमात्र आकृति के रूप में चयन कर लेते है। चेतना की चयनात्मक प्रवृत्ति तर्क-प्रक्रिया में भी देखी जा सकती है। हमारा मस्तिष्क एक ही प्रकार के आधार-वाक्यों से—व्यावहारिक जीवन की अभिरुचियाँ के परिवर्तन के अनुसार—भिन्न-भिन्न प्रकार के निष्कर्ष निगमित कर लेता है। यही चयनात्मक प्रक्रिया सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक चेतना में भी परिलक्षित होती है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में जेम्स का संवेगों का सिद्धान्त (Theory of Emotions) सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसे जेम्स-लैङ्ग का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शारीरिक परिवर्तनों की चेतना ही संवेग है।[2] सामान्यतः यह समझा जाता है कि सर्वप्रथम हमें किसी संवेग के कारण (जैसे सर्प) का प्रत्यक्ष होता है, पुनः हमारे भीतर संवेग (भय) की उत्पत्ति होती है जिसके कारण हमारे शरीर के अन्दर कुछ परिवर्तन होते हैं और हम भाग खड़े होते हैं। पर जेम्स इस साधारण विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष और शारीरिक परिवर्तनों के बीच संवेग नहीं आता वरन् प्रत्यक्ष और संवेगों के बीच शारीरिक परिवर्तन आते हैं। हम भयभीत होने के कारण नहीं भागते वरन् भागने के कारण भयभीत होते हैं। यही जेम्स का संवेग का सिद्धान्त है।

ज्ञान-मीमांसा
(Theory of Knowledge)

(अ) **बुद्धिवाद का विरोध**—अर्थक्रियावाद प्रमुख रूप में एक ज्ञान का सिद्धान्त है जो ज्ञान के उद्गम, स्वभाव व प्रामाणिकता के विषय में विस्तारपूर्वक विचार करता है। यह निरपेक्ष विज्ञानवाद (Absolute Idealism) एवं बुद्धिवाद (Intellectualism) के विरूद्ध एक खुला विद्रोह है। पर इस विद्रोह को समझने के पूर्व यह

---

1. वही, पृ० 402-3
2. प्रिन्सिपुल्स ऑव साइकॉलॉजी, II, पृ० 449.

समझ लेना आवश्यक है कि दर्शन-शास्त्र में बुद्धिवाद (Intellectualism) का क्या अर्थ है ? दर्शन-शास्त्र में 'बुद्धिवाद' को दो अर्थों में लिया जाता है : प्रथम, ज्ञान-मीमांसीय अर्थ एवं द्वितीय, तत्व मीमांसीय अर्थ । यदि 'बुद्धिवाद' के ज्ञान-मीमांसीय अर्थ को लिया जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि तत्व को जानने का एकमात्र स्रोत बुद्धि है जैसा कि हेगल मानता है । 'बुद्धिवाद' के तत्वमीमांसीय अर्थ के अनुसार तत्व बौद्धिक (Rational) है या चेतन है । बुद्धिवाद-विरोधी विचारधारा दोनों प्रकार की हो सकती है । उदाहरण के लिए जेम्स का अर्थक्रियावाद दोनों अर्थों में बुद्धिवाद-विरोधी है । जेम्स प्रथम अर्थ में बुद्धिवाद-विरोधी इसलिए हैं कि उसके अनुसार तत्व को जानने का एकमात्र उपाय बुद्धि न होकर इन्द्रियानुभूति है । बुद्धि ज्ञान का साधन न होकर अमूर्तीकरण (Abstraction) का साधन है जिसके कारण तत्व के स्वभाव में विकृति उत्पन्न हो जाती है । इसी कारण जेम्स बुद्धि को ज्ञान का साधन न मानकर व्यावहारिक अभियोजन का उपकरण (Instrument of Practical Adjustment) ही मानता है । ज्ञान ज्ञान के लिए न होकर व्यावहारिक जीवन का साधन है । ज्ञान तत्व-प्रकाशन न होकर व्यवहार की एक रूप-रेखा है । अर्थक्रियावाद बुद्धि को संकल्प के अधीन करके उसकी मूल व्यावहारिक भूमिका को स्पष्ट करता है ।

जेम्स बुद्धिवाद के द्वितीय अर्थ में भी बुद्धिवाद-विरोधी है । यह विरोध दो प्रकार का है । आत्मा का वास्तविक स्वरूप बुद्धि न होकर संकल्पशक्ति है । मस्तिष्क वस्तुत: एक गतिशील व गत्यात्मक प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई प्राणी अपनी बाह्य परिस्थिति के साथ अभियोजन स्थापित करता है । इसी प्रकार अर्थ-क्रियावाद इस बात का भी निषेध करता है कि तत्व का स्वभाव बौद्धिक है । यदि बुद्धि को तत्व का स्वभाव मान लिया जाय तो इससे एक ऐसे स्थिर ब्रह्माण्ड (Block Universe) की उत्पत्ति होगी जो केवल बौद्धिक नियमों के द्वारा ही संचालित होगा । इसके विपरीत, जेम्स परिवर्तनशील जगत में विश्वास करता है जिसके नियम भी परिवर्तनशील हैं । अर्थक्रियावाद के अनुसार वैज्ञानिक जगत की अनेक वैकल्पिक व्याख्या हो सकती है । विज्ञान के नियम सर्वथा निश्चित व अनिवार्य न होकर केवल वैचारिक आशु-लिपियाँ (Conceptual Short-hand) हैं जिनकी व्यावहारिक उपयोगिता है पर वे किसी क्षण परिवर्तित किये जा सकते हैं । वैज्ञानिक नियम प्राक्कल्पनाएँ हैं जो अन्तिम सत्य के रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किए जा सकते ।

उपर्युक्त विवेचन से यह अर्थ कदापि नहीं निकाल लेना चाहिए कि जेम्स अज्ञेयवाद में विश्वास करता है । उसके अनुसार यदि हमारे ज्ञान में पूर्ण निश्चयात्मकता नहीं है तो इससे कोई निराश होने की आवश्यकता नहीं है । अन्तिम ज्ञान की हमें भले ही प्राप्ति न हो पर हमें इतना ज्ञान तो प्राप्त हो ही जाता है कि हमारा व्यावहारिक जीवन सुचारु रूप से चल सकता है । वास्तविक ज्ञान वही है जो बाह्य परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायक हो । जेम्स न अज्ञेय-वादी हैं और न अंधविश्वासी हैं, वे मानववादी अवश्य हैं जो जीवन की प्रत्येक वस्तु की व्याख्या उसकी उपयोगिता के माध्यम से करने की चेष्टा करते हैं ।

(ब) **ज्ञान का स्वभाव**—जेम्स बुद्धिवाद-विरोधी हैं । वे अनुभववादी हैं । ज्ञान का एकमात्र स्रोत अनुभव है । पर अर्थक्रियावाद ने 'अनुभव' शब्द को उतने संकुचित

अर्थ में नहीं लिया है जितना अंग्रेज अनुभववादियों ने लिया था। प्राचीन अनुभववादी ,अनुभव' शब्द को इन्द्रियानुभव (Sense-Experience) के अर्थ में लेते थे। प्रारम्भ में जेम्स भी इन्द्रियानुभववादी थे जैसा कि उन्होंने अपने एक लेख में स्पष्ट किया है, "कुछ विचारकों द्वारा वे तिरस्कृत भले ही हों पर संवेदनाएँ ही आत्मा के ज्ञान की धरतीमाता, आश्रय, अचल चट्टान, प्रथम एवं अन्तिम सीमाएँ, आरम्भ-विन्दु एवं लक्ष्य-विन्दु हैं। इन्हीं संवेदनात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करना ही सभी उच्चतर विचारों का उद्देश्य होना चाहिए।'[1] आगे पुन: वे कहते हैं' ये प्रत्यक्ष, ये लक्ष्य-विन्दु, ये सम्वेद्य वस्तुएँ, साक्षात ज्ञान के ये विषय ही एकमात्र ऐसी सत्ताएँ हैं जिनका हमें अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता है।[2] किन्तु आगे चलकर जेम्स ने 'अनुभव' शब्द का एक बहुत ही विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया जिसके भीतर केवल प्रत्यक्ष एवं संप्रत्यय ही नहीं आ गए वरन् इसकी परिधि में सक्रियता की भावना प्रत्याशा, भय, सन्देह तथा सभी नैतिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक अनुभूतियों को भी शामिल कर लिया गया।[3] इस प्रकार के विस्तृत अनुभववाद को उन्होंने **उत्कट अनुभववाद** (Radical Empiricism) की संज्ञा प्रदान की। इस उत्कट अनुभववाद की आगे व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, 'उत्कट होने के लिए किसी अनुभववाद को अपनी वस्तु-संरचना में न तो किसी ऐसे तत्व को शामिल करना चाहिए जिसका हमें प्रत्यक्ष अनुभव न हो रहा हो और न ही किसी ऐसे तत्व को बहिष्कृत करना चाहिए जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा हो।'4

उत्कट अनुभववाद का विश्लेषण करते हुए जेम्स इसे तीन मूलभूत उप सिद्धान्तों में घटित करने की चेष्टा करते हैं : 'उत्कट अनुभववाद एक अभिधारणा (Postulate) है, आगे एक तथ्योक्ति (A Statement of Fact) है एवं अन्तत : एक सामान्य निष्कर्ष है।'

---

1. द फंक्शन ऑव कॉग्निशन (1888), "Condemned though they be by some thinkers, these sensations are the mother earth, the anchorage, the stable rock, the first and last limits, the terminus a quo and the terminus ad quem of the mind. To find such sensational termini should be our aim with all our higher thought."

2. वही, पृ० 39.

3. प्रैग्मेटिज़्म, पृ० 80

4. एसेज इन रैडिकल एम्पिरिसिज़्म, पृ० 42, "To be radical, an empiricism must neither admit into constructions any element that is not directly experienced, nor exclude from them any element that is directly experienced."

'अभिधारणा यह है कि केवल वही वस्तुएँ दार्शनिकों के विवाद का विषय बन सकती हैं जो अनुभव द्वारा परिभाष्य हों। (संसार में अनुभवातीत वस्तुएँ हो सकती हैं पर वे दार्शनिक विवाद के विषय नहीं बन सकतीं)।'[1]

'तथ्योक्ति यह है कि वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध हमारे विशिष्ट साक्षात् अनुभव के वैसे ही विषय हैं जैसे स्वयं वस्तुएँ हमारे अनुभव के विषय बनती हैं। यह बात संयोजक एवं वियोजक दोनों प्रकार के सम्बन्धों पर लागू होती है।'[2]

'सामान्य निष्कर्ष यह है कि हमारे अनुभव के विभिन्न भाग ऐसे सम्बन्धों के द्वारा परस्पर संलग्न हैं जो स्वयं अनुभव के अभिन्न अंग हैं। अतः प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत विश्व के अवलम्बन के लिए किसी विषयेतर अनुभवातीत संबन्धों की अपेक्षा नहीं है। वह स्वयं एक शृंखलाबद्ध या अखण्ड संस्थान धारण किए हुए है।'[3]

उपर्युक्त उद्धरण का यह कदापि अर्थ नहीं है कि जेम्स प्रत्यक्ष-जगत को ही एकमात्र जगत मानते हैं। प्रत्यक्ष के बाहर भी वस्तुओं का अस्तित्व हो सकता है पर वे हमारे ज्ञान की परिधि के भीतर कभी नहीं आ सकतीं। उन्हें दार्शनिक विवाद से दूर ही रखना चाहिए।

अनुभव द्वारा हमें केवल वस्तुओं का ही ज्ञान प्राप्त नहीं होता वरन् उनके पारस्परिक सम्बन्धों का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। हमने जेम्स की मनोवैज्ञानिक विचारधारा में ही देखा है कि अनुभव की एक सतत्, निरन्तर, अखण्ड व अविच्छिन्न धारा होती है। हम बुद्धि की आकलन व विश्लेषण-शक्ति द्वारा भले ही उस अविच्छिन्न धारा में भेद करके विभिन्न वस्तुओं को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान कर दें पर इससे अनुभव की अखण्डता में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता। ब्रिटिश अनुभववादियों ने अनुभव की इस निरन्तरता की अवहेलना करके विविक्त, पारमाणविक व विच्छिन्न अनुभवों में विश्वास प्रकट किया। इसीलिए उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उन्हें साहचर्य सम्बन्ध (Laws of Association) की

1. देखिए, द मीनिङ्ग ऑव ट्रुथ, आमुख, "The postulate is that the only things that shall be debatable among philosophers shall be things definable in terms drawn from experience. (Things of an un-experienceable nature may exist ad libitum, but they form no part of the material for philosophic debate)"

2. "The statement of fact is that the relations between things conjunctive as well as disjunctive, are just as much matters of direct particular experience, neither more nor less so, than the things themselves."

3. "The generalized conclusion is that therefore the parts of experience hold together next to next by relations that are themselves parts of experience. The directly apprehended universe needs, in short, no extraneous trans-empirical connective support, but possesses in its own right a concatenated or continuous structure."

कल्पना करनी पड़ी । अनुभववादियों की तरह बुद्धिवादियों ने भी अनुभव को एक स्थैतिक, पारमाणविक और असम्बद्ध इकाई के रूप में ग्रहण किया जिनके बीच संबन्ध स्थापित करने के लिए उनको अनुभवातीत व अतीन्द्रिय बुद्धि-विकल्पों का आविष्कार करना पड़ा । पर जेम्स जो एक उत्कट अनुभववादी हैं, उनके लिए इस प्रकार के कृत्रिम व बनावटी समाधान की आवश्यकता नहीं है । उनके अनुसार हमारे प्रत्येक अनुभव के साथ एक झब्बा या झालर (Fringe) लगा होता है जो अनुभव को अन्य अनुभवों से संयुक्त करके उसकी अविच्छिन्नता को अक्षुण्ण रखता है ।

यद्यपि जेम्स ने अनुभूति की एकता और अविच्छिन्नता के ऊपर पर्याप्त बल दिया पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन्होंने उसकी अनेकता व विच्छिन्नता की अवहेलना की है । जहाँ तक किसी अनुभूति व उसके विषयों का संबंध एक चैतन्य या आत्मा के साथ होता है वहाँ अनुभूति में निरन्तरता, एकता व अविच्छिन्नता पाई जाती है । पर ज्योंही हम एक 'व्यक्ति' के अनुभव से दूसरे 'व्यक्ति' के अनुभव की ओर या एक 'वस्तु' के अनुभव मे दूसरी 'वस्तु' के अनुभव की ओर अथवा एक 'प्रत्यक्ष वस्तु' के अनुभव से 'अप्रत्यक्ष वस्तु' के अनुभव की ओर अग्रसर होते हैं, हमारे अनुभवों में 'विच्छिन्नता' आ टपकती है । इस प्रकार अविच्छिन्नताएँ एवं विच्छिन्नताएँ 'दोनों अव्यवहित अनुभूति के समतुल्य तत्व हैं ।'[1]

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि जेम्स का जो अनुभव है वह विज्ञानवादियों के 'सर्वव्यापक चेतन अनुभव' (All Comprehensive Sentient Experience) से बिलकुल भिन्न है । विज्ञानवादियों का व्यापक चेतन अनुभव अद्वैतवादी (Monistic) है पर जेम्स का अनुभव बहुलवादी (Pluralistic) है । यद्यपि शाब्दिक लघुता या प्रयत्न-लाघव के लिए उन्होंने कई स्थान पर 'विशुद्ध अनुभव के उपादान, (A Stuff of Pure Experience) की चर्चा की हैं पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हमारे सम्पूर्ण अनुभवों का काई एक सामान्य उपादान है । हमारे अनुभवों के उतने ही विभिन्न उपादान हैं जितने कि अनुभव के विभिन्न विषय होते हैं । इस प्रकार विभिन्न संवेद्य वस्तुओं' के संकलित नाम को ही अनुभव कहा जाता है ।2 इस प्रकार जेम्स का दृष्टिकोण निश्चित रूप से बहुलवादी है और इसी कारण उन्होंने अपने दर्शन को 'पच्चीकारी का दर्शन' (Mosaic Philosophy) कहा है ।

(स) **अनुभव का स्वभाव**—जिन अनुभवों के विषय में जेम्स यहाँ चर्चा करते हैं वे न तो भौतिक हैं और न मानसिक हैं वरन् वे दोनों से तटस्थ है । अपने सुप्रसिद्ध लेख 'क्या चैतन्य का अस्तित्व है, ? में जेम्स लिखते हैं कि चैतन्य 'एक असत इकाई का

---

1. एसेज इन रैडिकल एम्पिरिसिज्म, पृ० 49, 'Continuities and discontinuities are then absolutely coordinate matters of immediate feeling.'

2. वही, पृ० 26-27, "Experience is also a collective name for all these sensible natures"

नाम है और इसका मूल तत्वों में कोई स्थान नहीं होना चाहिए ।'[1] पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि वे चैतन्य का एक इकाई के रूप में निषेध करते हैं पर प्रक्रिया (Function) के रूप में उसका निषेध नहीं करते । चैतन्य कोई इकाई तो नहीं है पर यह एक प्रक्रिया अवश्य है। जिस प्रकार जड़-तत्व भौतिक वस्तुओं का उपादान है उसी प्रकार चैतन्य-तत्व हमारे विचारो का उपादान नहीं है । हमारे अनुभवों में एक प्रक्रिया होती है जिसे विचार संपादित करता है; इस प्रक्रिया के के कर्त्ता-रूप में ही चैतन्य का आह्वान किया जाता है । चैतन्य कोई सत्ता नहीं है; वह जानने की एक प्रक्रिया (Function of Knowing) है ।[2] जेम्स यहाँ चैतन्य की एक जैविक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । हमारा कोई एक अनुभव स्वत न तो मानसिक होता है और न भौतिक ही । पर ज्यों ही अन्य अनुभवों और वस्तुओं के परिप्रेक्ष्य में हम किसी अनुभव को देखते हैं वह भौतिक या मानसिक हो जाता है । मान लिया कि हम किसी कमरे में बैठे हैं और हमें उस कमरे का अनुभव हो रहा है । यदि कमरे के अनुभव को हमारे अन्य अनुभवों के सन्दर्भ में देखा जाय तो वह मानसिक होगा पर उसी को यदि मकान के अन्य भागों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो वह भौतिक होगा । पर वास्तव में वह न तो मानसिक है और न भौतिक ही, वह तटस्थ या उदासीन (Neutral) ही है । इसी प्रकार जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो वह अनुभव भौतिक हो जाता है पर जब हमें उसकी स्मृति (Retrospective Experience) होती है तो वह मानसिक हो जाता है । पर अनुभव वास्तव में न तो भौतिक है और न मानसिक है, वह तटस्थ (Neutral) ही है । पुनः, जब हम किसी अनुभव को जीवन के संस्कारों के सन्दर्भ में देखते हैं तो वह मानसिक है पर जब उसी को बाह्य जगत के एक अंश के रूप में देखते हैं तो वह भौतिक हो जाता है । वास्तव में अनुभव न मानसिक है और न भौतिक, वह तटस्थ (Neutral) है । अथवा, वह मानिक और भौतिक दोनों है । इस प्रश्न के उत्तर में कि एक ही वस्तु भौतिक और मानसिक दोनों कैसे हो सकती है, जेम्स कहते हैं कि जिस प्रकार यदि दो सरल रेखाएँ एक विन्दु पर काटती हैं तो वह विन्दु दोनो रेखाओं पर निवास करता है, उसी प्रकार एक ही वस्तु मानसिक और भौतिक दोनों हो सकती है ।[3]

आगे चलकर विशुद्ध या तटस्थ अनुभव की व्याख्या करते हुए जेम्स कहते हैं कि विशुद्ध अनुभव जीवन का एक अव्यवहित प्रवाह है जो हमारे भावी चिन्तन की सभी सामग्री को प्रस्तुत करता है । यह विशुद्ध अनुभव केवल नवजात शिशुओं, अर्द्ध-निद्रित, अर्द्ध-मूर्छित एवं तन्द्रिल व्यक्तियों को ही प्राप्त हो सकता है जो वर्तमान में अनिश्चित और निर्विकल्प भले ही हो पर बाद में वह निश्चित और सविकल्प हो सकता है; वह प्रारम्भ में अभिन्न और समरूप भले ही दीखता हो पर भविष्य में उसके सुभिन्न और विषमरूप होने की सम्भावना सदा विद्यमान रहती है । इस

1. वही. पृ० 2, "Consciousness is the name of a non-entity and has no right to a place among first principles."

2. वही, पृ० 3-4.

3. वही, पृ० 12.

स्थिति में विशुद्ध अनुभव या तटस्थ अनुभव को संवेदना या भावना भी कहा जा सकता है।[1]

जेम्स ने अपने विशुद्ध या तटस्थ अनुभवों के द्वारा डेकार्ट्स के द्वैतवाद को समाप्त कर दिया। आत्म व अनात्म के बीच कोई मौलिक भेद नहीं है जैसा द्वैतवादियों का कहना है। उनके बीच कुछ सामान्य विशेषताएँ पाई जाती हैं। दोनों का काल से सम्बन्ध है। जिस प्रकार वस्तुएँ सुन्दर, रुचिकर, सामान्य व विशेष होती हैं उसी प्रकार विचार भी सुन्दर, रुचिकर, सामान्य व विशेष होते है। पुनः, जिस प्रकार वस्तुएँ शीतल, उष्ण, कोष्ण व असुन्दर होती हैं उसी प्रकार भावनाओं को भी शीतल, उष्ण, कोष्ण व असुन्दर कहा जाता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्तुओं और विचारों में बहुत सी समान विशेषताएँ पाई जाती हैं। भौतिक और मानसिक जगत के बीच जो अन्तर है वह इसलिए नहीं है कि उनमें परस्पर विरोधी विशेषताएँ पाई जाती हैं वरन् इसलिए है कि उनके संस्थान या विन्यास में स्पष्ट अन्तर पाया जाता है। जिन्हें हम भौतिक वस्तुएँ कहते हैं उनके बीच एक प्रकार का अनम्य, कठोर व अपरिवर्तनीय सम्बन्ध पाया जाता है; इसके विपरीत, विचारों के बीच नम्य, अस्थिर व परिवर्तनीय सम्बंध पाया जाता है। भौतिक अग्नि कागज को अवश्य प्रज्वलित कर देगी पर मानसिक अग्नि कागज़ को प्रज्वलित कर भी सकती है और नहीं भी कर सकती। भौतिक जल भौतिक शरीर के प्यास को अवश्य बुझा देगा पर मानसिक जल मानसिक शरीर की प्यास को बुझा भी सकता है और उसे बढ़ा भी सकता है। अतः भौतिक और मानसिक वस्तुओं के बीच जो भेद है वह उनके आन्तरिक स्वभाव, के भेद के कारण नहीं है वरन् उनके संस्थान या विन्यास (Arrangement) के अन्तर के कारण है। भौतिक रूप मे उनके बीच कोई भेद नहीं है। हमारे प्रत्यक्षात्मक एवं प्रत्ययात्मक अनुभव दृश्य-प्रपञ्चों के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं, उनमें स्वतः आत्मनिष्ठता या वस्तुनिष्ठता के कोई लक्षण नहीं पाए जाते।

हमारी अनुभूतियों का स्रोत क्या है ? वे कहाँ से आती हैं और कैसे आती हैं ? जेम्स के अनुसार इनके विषय में विचार करने से कोई लाभ नहीं है। हमारे अनुभव ही हमारे ज्ञान के एकमात्र स्रोत हैं। उन्हें ही हमें मूलभूत रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार ह्यूम की तरह जेम्स दृश्यप्रपञ्चवादी (Phenomenalist) है। यही उसका उत्कट अनुभववाद है। जेम्स के तटस्थवाद (Neutralism) ने बाद में बर्ट्रण्ड रसेल के तटस्थ एकतत्ववाद (Netural Monism) को उत्पन्न किया। दोनों के बीच अन्तर केवल इतना है कि जहाँ जेम्स "तटस्थ अनुभव" (Neutral Experience) का प्रयोग करते है वहीं रसेल "तटस्थ इकाइयों" (Neutral Entities) का प्रयोग करते हैं। यद्यपि जेम्स अनुभववादी, प्रकृतिवादी एवं बहुलवादी हैं पर वे अन्य अनुभववादियों की तरह जड़तत्ववादी नही है। यद्यपि उन्होंने चैतन्य की व्याख्या शारीरिक अनुभवों व प्रक्रियाओं के माध्यम से करने की चेष्टा की है, पर उनका दर्शन जड़तत्ववाद नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने जड़ तत्व व आत्म-तत्व दोनों की व्याख्या "तटस्थ अनुभव" के माध्यम से की है।

---

1. वही, पृ० 93 94.

(द) सत्य की अवधारणा—अर्थक्रियावाद अपने सत्य के सिद्धान्त के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यदि हम दो विचारों के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझना चाहते हैं तो उनके व्यावहारिक परिणामों के अन्तर द्वारा ही समझ सकते हैं। जेम्स के शब्दों में 'किसी विचार या विश्वास की यथार्थता का परीक्षण करने के लिए यह देखना होगा कि इसके यथार्थ होने से हमारे वास्तविक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है।"[1] चार्ल्स पियर्स ने अर्थक्रियावाद को सत्य के एक निकष (Criterion) के रूप में स्वीकार किया था, यद्यपि आगे चलकर इसका प्रयोग सत्य के स्वरूप के लिए भी किया जाने लगा। कोई दार्शनिक सत्य के स्वरूप के लिए **संवादिता** (Correspondence) या **संसक्तता** (Coherence) में विश्वास करते हुए भी निकष के रूप में अर्थक्रियावाद में विश्वास कर सकता है। चार्ल्स पियर्स स्वयं सत्य के स्वरूप के रूप में संवादिता सिद्धान्त तथा निकष के रूप में अर्थक्रियावाद में विश्वास करता था।

जीव-विज्ञान की उन्नति के साथ अर्थक्रियावाद पर उसके प्रभाव में भी पर्याप्त बृद्धि हुई। इस प्रभाव के फलस्वरूप जेम्स ने ज्ञान की जैविक व्याख्या प्रस्तुत की जिसके अनुसार किसी ज्ञान की वैधता या प्रामाणिकता इस बात से निर्धारित नहीं की जाती है कि वाह्य तथ्य के साथ उसकी संवादिता है अथवा नहीं है बल्कि इस बात से निर्धारित की जाती है कि **परिस्थिति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में या जीवन में व्यावहारिक निपुणता** (Practical Efficiency) लाने में वह कहाँ तक सहायक हो सकता है। यदि ज्ञान के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाय, तो इसके अनुसार ज्ञान भविष्य-सम्बन्धी कार्यों की एक योजना (Plan for future action) है जो यदि सफलता की ओर ले जाता है तो सत्य है, अन्यथा वह असत्य है। जेम्स के शब्दों में "वास्तविक विचार वे हैं जिन्हें हम आत्मसात्, प्रमाणित, परिपुष्ट और सत्यापित कर सकते हैं। अवास्तविक विचार वे हैं जिन्हें हम ऐसा नहीं कर सकते।"[2] चूंकि यहाँ जेम्स ने ज्ञान को व्यावहारिक निपुणता का साधन माना है इसलिए अर्थक्रियाबाद में ज्ञान के भीतर साध्य-मूल्य न मान कर केवल साधन-मूल्य ही माना गया। वास्तविक ज्ञान वही है जो परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायक बने। जो ज्ञान ऐसा नहीं कर सकता वह असत्य है।

ज्ञान की दूसरी विशेषता यह है कि ज्ञान अनुदर्शी (Retrospective) न होकर अग्रदर्शी (Prospective) होता है। जीवन की जैविक व्याख्या के अनुसार जिस प्रकार शरीर का प्रत्येक अंग जीवन के किसी न किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया गया है, उसी प्रकार ज्ञान भी जीवन में निपुणता या परिस्थिति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए आवश्यक साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है। यदि भविष्य में हमारा ज्ञान व्यावहारिक निपुणता उत्पन्न करता है या परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायक होता है तो वह सत् है अन्यथा असत् है। इसी कारण जेम्स ज्ञान को अनुदर्शी न मानकर अग्रदर्शी मानते हैं।

---

1. प्रैग्मैटिज्म, पृ० 200

1. वही पृ० 201, 'True ideas are those that we can assimilate, validate, corroborate and verify. False ideas are those that we cannot.'

कुछ तत्व-शास्त्री सत्य व तत्व (Truth and Reality) के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं जैसे हेगल और अद्वैत वेदान्त। पर जेम्स के अनुसार दोनों को एक नहीं माना जा सकता। वे सत्य को ज्ञान का एक विशेषण ही मानते हैं जिसकी जीवन में उपयोगिता है। जिस प्रकार कोई वस्तु भारी या हलकी होती है उसी प्रकार ज्ञान भी सत्य या असत्य होता है जो **मानवीय मूल्यांकन** (Human Evaluation) का का परिणाम होता है। ज्ञान स्वयं में न तो सत्य होता है और न असत्य ही। यदि वह जीवन के लिए **उपयोगी** है तो वह यथार्थ है पर यदि वह **अनुपयोगी** है तो वह अयथार्थ है। ज्ञान के एक गुण के रूप में सत्य मानवीय उद्देश्य का सापेक्षिक है। इसीलिए जेम्स के अनुसार सत्य मानव-निर्मित गुण है। मानवीय मूल्यांकन का तात्पर्य है: व्यवहार में किसी ज्ञान की उपयोगिता का सत्यापन। जब व्यवहार में किसी ज्ञान की उपयोगिता का सत्यापन होता है तो वह यथार्थ कहा जाता है अन्यथा अयथार्थ कहा जाता है। जब हमारा विश्वास सत्यापित हो जाता है तो सत्य की उत्पत्ति होती है। जेम्स के शब्दों में: "यथार्थता किसी विचार का स्थिर या समवायी गुण नहीं है। यथार्थता एक घटना है जो परिणामों द्वारा निर्मित या घटित होती है। इसकी यथार्थता वस्तुतः एक घटना है, एक प्रक्रिया है: यह प्रक्रिया उसके सत्यापित होने की है, या उसका सत्यापन है। इसकी प्रामाणिकता उसके **प्रमाणीकरण** की प्रक्रिया है।"[1] जेम्स के अनुसार जिस प्रकार धन, स्वास्थ्य व शक्ति का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार सत्य का भी मनुष्य द्वारा निर्माण किया जाता है।[2]

चूँकि किसी ज्ञान की सत्यता व्यावहारिक परिणामों या मानवीय मूल्यांकन पर आश्रित है, अतः कोई ज्ञान सार्वभौम सत्य या निरपेक्ष सत्य नहीं हो सकता। वह सदा विशेष, सापेक्षिक व परिवर्तनशील ही होगा। उदाहरण के लिए, विज्ञान का कोई भी सिद्धान्त सार्वभौम व निरपेक्ष कभी भी नहीं होता। टोलेमेई (Ptolemy) का **भू-केन्द्रिक सिद्धान्त** (Geo-centric Teory) उसके समय में यथार्थ कहा जा सकता था क्योंकि तत्कालीन बहुत सी घटनाओं की वह यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत करता था। पर विज्ञान की प्रगति के साथ जब अन्य घटनाओं की व्याख्या करने की आवश्यकता हुई तो टोलेमेई के सिद्धान्त के स्थान पर कॉपर्निकस के **सूर्य-केन्द्रिक सिद्धान्त** (Heleo-centric Theory) को स्वीकार किया गया। पर यह भी कोई अन्तिम सिद्धान्त नहीं है। आगे चलकर इसके स्थान पर कोई नवीन सिद्धान्त आ सकता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या संसार में अनिवार्य सत्य का बिलकुल अभाव है? जेम्स के अनुसार बात ऐसी नहीं है। ह्यूम के अनुसार जिस प्रकार विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में हमारा ज्ञान अनिवार्य होता है उसी प्रकार

---

1. वही, पृ० 201 "The truth of an idea is not a stagnant property inherent in it. Truth happens to an idea. It becomes true, is made true by events. Its verity is in fact an event, a process, the process namely of its verifying itself, its verification. Its validity is the process of its valid-ation."

2. वही, पृ० 218, "Truth is made just, as health, wealth and strength are made in the course of experience."

जेम्स के अनुसार भी विज्ञातों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान अनिवार्यतः सत्य होता है। उनके असत्य होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। पर जहाँ हमारा ज्ञान अनुभव पर आश्रित है, वह सापेक्षिक और विशेष ही होगा। उसमें अनिवार्यता की कोई गुंजाइश नहीं है। पर कुछ अन्य अर्थक्रियावादियों जैसे शिलर व डेवी ने सार्वभौम व निरपेक्ष सत्य के अस्तित्व से बिलकुल इनकार किया। उनके अनुसार ऐसा ज्ञान भी सापेक्षिक व अस्थाई ही होता है। उदाहरण के लिए 2 + 2 = 4 तभी सत्य होगा जब कि सभी वस्तुएँ अपना पृथक् अस्तित्व स्थिर रक्खें। 2 बूँद जल + 2 बूँद जल = 1 बूँद पानी ही होगा। शिलर ने यह भी कहा कि 2 शेर + 2 मेमना = 4 इकाइयाँ न होकर केवल 2 ही इकाइयाँ होंगी।[1] अतः उसके अनुसार प्रत्येक सत्य निरुपाधिक न होकर सोपाधिक ही होता है।

इसी प्रकार अर्थ-क्रियावादी सत्य की मात्राओं या कोटियों (Degrees of Truth) का भी वर्णन करते हैं। किसी ज्ञान के भीतर सत्य की कितनी मात्रा विद्यमान है यह इस बात पर आधारित होगी कि वह ज्ञान हमारे जीवन के लिए कितना उपयोगी है। अथवा वह ज्ञान हमारे जीवन में कितनी व्यावहारिक निपुणता उत्पन्न करता है। जो ज्ञान हमारे जीवन के लिए जितना ही अधिक उपयोगी होगा अथवा वह जितना अधिक व्यावहारिक निपुणता उत्पन्न करता होगा, उसके भीतर सत्य की उतनी ही अधिक मात्रा विद्यमान होगी। इसके विपरीत, जो ज्ञान जितना कम उपयोगी होगा अथवा कम व्यावहारिक निपुणता उत्पन्न करता होगा उसमें सत्य की उतनी ही कम मात्रा विद्यमान होगी।

(य) **सत्य एवं उपयोगिता का पारस्परिक सम्बन्ध**—चार्ल्स पियर्स ने सत्य और उपयोगिता के बीच अन्तर को स्पष्ट किया था। उसके अनुसार उपयोगिता सत्य नहीं वरन् उसका केवल निकष (Criterion) है। इसके विपरीत जेम्स ने सत्य व उपयोगिता के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। उन्हीं के शब्दों में "आप या तो यह कह सकते हैं कि 'यह उपयोगी है क्योंकि यह सत्य है' अथवा 'यह सत्य है क्योंकि यह उपयोगी है।' इन दोनों प्रयोगों का बिलकुल समान अर्थ है और वह यह है कि यहाँ एक ऐसा विचार है जो सम्पादित और सत्यापित हो सकता है।"[2] पर दूसरे अर्थ-क्रियावादी दार्शनिक शिलर पुनः दोनों के बीच अन्तर स्थापित करते हैं। वे कहते हैं, "इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिए या यों कहिए कि इस पर बल देना चाहिए कि यह कहना कि सभी सत्य व्यावहारिक व उपयोगी होना चाहिए, सत्य को परिभाषित करना नहीं है। यह केवल एक महत्वपूर्ण एवं अत्यावश्यक बात पर जोर देना ही है जिसकी दुर्भाग्यवश उपेक्षा की गई है, किन्तु यह सत्य की परिभाषा नहीं है। यह सत्य को व्यवहारिकता का विनिमेय नहीं मानता और न

1. स्टडीज़ इन ह्यूमैनिज्म, पृ० 9।

2. प्रैग्मेटिज्म, पृ० 204, "You can say of it either that 'it is useful because it is true' or that 'it is true because it is useful. Both these uses mean exactly the same thing, namely that here is an idea that gets fulfilled and can be verified"

ही सत्य का उपयोगिता के साथ तादात्म्य सम्बन्ध ही स्थापित करता है। यद्यपि आद्यतम काल से ही गलत रूप में इस भ्रमपूर्ण विनिमेयता को अर्थ-क्रियावाद के ऊपर आरोपित किया गया है।"[1]

पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि शिलर के अनुसार उपयोगिता सत्य का व्यावर्तक गुण नहीं है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उपयोगिता का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके अनुसार **उपयोगिता के बिना सत्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।** ज्ञान उपयोगी होने पर ही सत्य का रूप धारण करता है। शिलर के शब्दों मे "यह उपयोगिता ही वस्तुतः, सत्य का जनक है। किसी भी सत्य की तब तक उत्पत्ति नहीं हो सकती, किसी सत्य का तब तक समर्थन नहीं किया जा सकता जब तक कि वह किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपयोगी घोषित न कर दिया गया हो। यह उपयोगिता सत्य की उत्पत्ति की पूर्वगामिनी होती है और बाद की घटनाओं से यह बिलकुल अप्रभावित रहती है।"[2] यहाँ उपयोगिता सत्य का स्वभाव नहीं है वरन् उसका जनक है। इसे सत्य का **उत्पत्तिमूलक सिद्धान्त** (Genetic Theory) कहा जा सकता है।

जेम्स सत्य व उपयोगिता के बीच तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित करता है तथा शिलर उपयोगिता को सत्य का जनक मानता है। अब प्रश्न यह है कि क्या उपर्युक्त दोनों विचार एक दूसरे से विलकुल पृथक् हैं या उनके बीच किसी प्रकार का समन्वय किया जा सकता हैं ? कुछ दार्शनिकों के अनुसार एक उपाय अवश्य है जिसके द्वारा जेम्स व शिलर के दृष्टिकोण के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है। जिस प्रकार त्रिभुजता व त्रिकोणता के बीच गुणार्थ की भिन्नता होते हुए भी समानता पाई जाती है, इसी प्रकार सत्य और उपयोगिता के गुणार्थ में भी भिन्नता होते हुए भी उनके बीच समानता पाई जाती हैं। सत्य का अर्थ है सत्य की माँग या उसका अध्यर्थन जिससे किसी प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है तथा उपयोगिता इस प्रक्रिया के लक्ष्य की सिद्धि या उसके अध्यर्थन की चरितार्थता है। इस प्रकार सत्य और उपयोगिता एक ही तथ्य के दो पहलू हैं।

सत्य और उपयोगिता के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण जेम्स सत्य को शुभ (Good) की एक उपजाति के रूप में स्वीकार करते हैं। अर्थ-क्रियावाद के अनुसार सत्य वही हो सकता है जो उपयोगी हो तथा किसी वस्तु के उपयोगी होने का अर्थ है उसका शुभ होना। यहाँ सत्य की व्याख्या उपयोगिता या शुभ के माध्यम से की गई है। इसीलिए सत्य शुभ की एक उपजाति है। जेम्स के ही शब्दों में : 'सत्य शुभ की केवल एक उप-जाति है, और यह शुभ से पृथक् या उसके समकक्ष कोई पदार्थ नहीं है जैसा सामान्यतः लोग समझते हैं। सत्य वही है जो विश्वास के रूप में

1. शिलर, लॉजिक फॉर यूस, पृ० 157

2. वही पृ० 159, "This use is quite literally the ratio essendi of truth No truth can come into being, no truth can be asserted, unless it has been judged useful for some purpose. This use precedes its publication, and is unaffected by whatever may befall it later."

शुभ सिद्ध हो सकता है और वह भी कुछ निश्चित निर्धार्य कारणों के द्वारा[1] ।"
उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि जेम्स के लिए सत्य जीवन का एक मूल्य है जिसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य सचेष्ट रहता है ।

3. फ्रेडरिक शिलर
(F. C. S. Schiller, 1864-1937)

शिलर इग्लैंण्ड में **अर्थ-क्रियावाद** के एकल प्रतिनिधि हैं । वे मानववाद (Humanism) के संस्थापक रूप में विशेष रूप में सुप्रसिद्ध हैं जिन्होंने ग्रीक दार्शनिक प्रोटेगोरस के उस सिद्धान्त को पुनरुज्जीवित किया जिसके अनुसार मानव ही संसार की सभी वस्तुओं का मानदण्ड है । मानववाद के अतिरिक्त शिलर ने तर्कशास्त्र के क्षेत्र में भी पर्याप्त ख्याति अर्जित की । उन्होंने उस आकारिक तर्कशास्त्र (Formal Logic) की कटु आलोचना प्रस्तुत की जो मनोविज्ञान और मानवीय जीवन के कठोर मूर्त तथ्यों से अपने को बिलकुल पृथक् रखती है ।

दार्शनिक कृतियाँ—शिलर के दार्शनिक ग्रन्थों में निम्न ग्रन्थ विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं : आकारिक तर्कशास्त्र (Formal Logic); मानववाद (Humanism); प्रायोगिक तर्कशास्त्र (Logic for Use) एवं मानववाद का अध्ययन (Studies in Humanism)

अर्थ-क्रियावादी तर्कशास्त्र

शिलर ने अपने आकारिक तर्कशास्त्र और प्रायोगिक तर्कशास्त्र में परम्परागत तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों और दृष्टिकोण को चुनौती दी है ।

जिस प्रकार अर्थ-क्रियावाद ने ज्ञान और सत्य की जैविक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है उसी प्रकार उसने चिन्तन और तर्क की भी जैविक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने की चेष्टा की है । शिलर के अनुसार **तर्क जीवन में किसी व्यावहारिक सफलता प्राप्त करने का एक प्रायोगिक उपकरण है** । जिस प्रकार विचार (Ideas) हमारे भविष्य के कार्यों की योजनाएँ हैं तथा प्रत्यय हमारे कार्य-संचालन की रूप-रेखा का प्रतिनिधित्व करते हैं उसी प्रकार हमारी तर्क-प्रणाली हमारे भविष्य के सम्भाव्य कार्यों के सोपानों एवं परिणामों का पूर्वाभ्यास है । अर्थ-क्रियावाद चिन्तन को किसी मूर्त व वास्तविक परिस्थिति में रखकर ही उस पर विचार करता है । यही कारण है कि वह परम्परागत आकारिक तर्कशास्त्र को एक निरर्थक, अवास्तविक और शाब्दिक बौद्धिक विलास ही मानता है ।

---

1. प्रैग्मैटिज्म, पृ० 75-6, "...true is only one specie of good, and not as is usually supposed, a category distinct from good and coordinate with it. The true is the name of whatever 'proves itself to be good in the way of belief, and good, too, for definite assignable reasons."

यदि चिन्तन-सम्बन्धी उपर्युक्त दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाय तो तर्क-शास्त्र विशुद्ध रूप में एक आनुभविक विज्ञान हो जायगा। यदि हमारे अनुभवों को परस्पर-सम्बद्ध और संश्लिष्ट स्वभाव का मान लिया जाय और उन्हें सरल व पारमाणविक तत्वों का समुच्चय न माना जाय तो किसी प्रागनुभविक सिद्धान्त को मानने की आवश्यकता ही शेष न रहे। जैसा कि शिलर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'ज्ञान के प्रागनुभविक सिद्धान्त विचार की अनिवार्यताएँ न होकर जीवन की अनिवार्यताएँ हैं। उनका कार्य ज्ञानमीमांसीय न होकर जैविक ही है।'[1] प्रागनुभविक सिद्धान्त जीवन के लिए अपरिहार्य हैं क्योंकि इनके बिना न तो भविष्य के विषय में हम कोई अनुमान कर सकते हैं और न उनका नियंत्रण ही। हम अपनी जीवन-यात्रा एक प्रायोगिक दृष्टिकोण से प्रारम्भ करते हैं तथा हमारी बुद्धि एक ऐसी अस्थाई व्यवस्था में विश्वास कर लेती है जिसे हम समझते हैं कि वह सफल होगी। किसी कार्य के आधार रूप में जो हम एक अस्थाई व्यवस्था में विश्वास कर लेते हैं उसे अभिधारणा (Postulate) कहते हैं। अभिधारणा सत्य-अभ्यर्थन (Truth-claim) का सर्वाधिक प्राथमिक रूप है।

स्वयंसिद्धि भी एक अभिधारणा ही है जो पूर्ण परीक्षण के उपरान्त उपयोगी और अनिवार्य सिद्ध हो चुकी है। शिलर के ही शब्दों में : "स्वयंसिद्धि एक पूर्णत: सत्यापित अभिधारणा है जो एक सुव्यवस्थित विज्ञान के मूलाधार का कार्य करती है। जब कोई अभिधारणा इस अवस्था तक पहुँच जाती है, उसके तार्किक स्वरूप में पूर्ण परिवर्तन आ जाता है। अब यह प्रकृति से सम्बन्धित केवल मानवीय अभ्यर्थन ही नहीं है। यह अपनी स्थिति के लिए केवल मनुष्य की इच्छा पर ही आश्रित नहीं रहती वरन् वैज्ञानिक तथ्यों के उस सुदृढ़ और सुरक्षित आधार पर स्थित होती है जिन्हें प्रकाश में लाने में यह सहायक हुई है। यह अपने आलोचकों को यह कहते हुए चुनौती दे सकती है कि क्या उनके पास ऐसा कोई विकल्प है जो तथ्यों की श्रेष्ठतर व्याख्या प्रस्तुत करता है?"[2] किन्तु ऐसी बहुत कम अभिधारणाएँ हैं जो वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा पूर्ण रूप में परीक्षित एवं सत्यापित हों। अधिकांशत: वे अस्थाई ही होती हैं और उन्हें हम तब तक सुरक्षित रखते हैं जब तक कि वे भविष्य की घटनाओं के विषय में अनुमान करने में व उन्हें नियंत्रित करने में सहायक होती है। ऐसे ही प्राथमिक नियमों पर तर्कशास्त्र आधारित किया जा सकता है। पर अनुभव

1. लॉजिक फॉर यूस, पृ० 53

2. वही, पृ० 161, "An axiom should be conceived as a fully verified postulate which serves as a principle for a fully established science. When a postulate reaches this stage, its logical character has already been transformed. It is no longer a merely human demand upon nature. It no longer depends on our desire to uphold it, but rests securely on the solid mass of scientific facts, it has been instrumental in eliciting. So, it can defy its critics by blandly requesting them to provide a sub-stitute that will account for the facts in other and better ways."

के इस सुदृढ़ आधार की उपेक्षा करके आकारिक तर्कशास्त्र केवल प्रागनुभविक (Apriori) नियमों पर ही अपना भव्य प्रासाद खड़ा करना चाहता है जिसके कारण वह शब्दाडम्बर व खोखलेपन के दोष से ग्रस्त हो जाता है।

आकारिक तर्क-शास्त्र के अनुसार **पद** (Term) वह शब्द है जिसका एक निश्चित व अपरिवर्तनीय अर्थ हो। इससे शब्दों का वस्तुनिष्ठ, अवैयक्तिक और कोशीय अर्थ उत्पन्न होता है। पर शब्दों का यह वास्तविक अर्थ नहीं होता। शब्दों का वास्तविक अर्थ तब उत्पन्न होता है जब कोई व्यक्ति मूर्त परिस्थितियों में उसका वास्तविक प्रयोग करता है। किसी पद का शाब्दिक अर्थ उसका साध्य-अर्थ (Potential M aning) ही होता है; किसी शब्द का वास्तविक अर्थ (Actual Meaning) वह वैयक्तिक अर्थ (Personal Meaning) है जिसमें कोई व्यक्ति-विशेष किसी विशेष परिस्थिति में उसे स्वीकार करता है। मूर्त परिस्थितियों के साथ अर्थ की जो प्रासंगिकता होती है, आकारिक तर्कशास्त्र उसकी अवहेलना करता है। इसीलिए तथाकथित आकारिक तर्कशास्त्र एक काल्पनिक विज्ञान ही है।

जो भ्रान्ति शब्दों और पदों पर लागू होती है वही भ्रान्ति **निर्णयों** (Judgements) एवं **तर्क-वाक्यों** (Propositions) पर भी लागू होती है। आकारिक तर्कशास्त्र के अनुसार **निर्णयों की शाब्दिक अभिव्यक्ति को ही तर्क-वाक्य** कहते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों में कोई भेद नहीं है। पर बात ऐसी नहीं है। जिस प्रकार व्यक्तियों एवं परिस्थितियों की भिन्नता के अनुसार शब्दों के अर्थ में परिवर्तन होता रहता है उसी प्रकार व्यक्तियों एवं परिस्थितियों की भिन्नता के अनुसार तर्क-वाक्यों के अर्थ में भी परिवर्तन होता रहता है। विभिन्न निर्णय इसी परिवर्तन की अभिव्यक्ति करते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी प्रेरणा से प्रेरित होकर किसी विशिष्ट परिस्थिति में तर्क-वाक्य का प्रयोग करता है तो उसे निर्णय कहते हैं। इसलिए शिलर के अनुसार **'निर्णय एक वैयक्तिक प्रक्रिया है**।[1] कोई तर्क-वाक्य जब अपनी द्व्यर्थकता समाप्त कर देता है तो निर्णय की उत्पत्ति होती है। अत: तर्क-वाक्य व निर्णय में पर्याप्त भेद है। दोनों में केवल यही भेद करना कि तर्क-वाक्य निर्णय की केवल शाब्दिक अभिव्यक्ति है, ठीक नहीं है।

शिलर ने निर्णय की **जैविक व्याख्या** प्रस्तुत की है। जिस प्रकार मनुष्य या जीवों के अंग प्रत्यंग की उत्पत्ति व्यावहारिक समस्याओं के समाधान हेतु हुई है उसी प्रकार निर्णयों की उत्पत्ति भी किसी समस्या के समाधान के लिए ही होती है। जब मनुष्य के जीवन में कोई व्यावहारिक समस्या उठ खड़ी होती है तो वह उस समस्या के समाधान के लिए विभिन्न वैकल्पिक उपायों के विषय में विचार व ऊहापोह करता है। इस विचार या ऊहापोह की अन्तिम परिणति निर्णय में होती है। हमारा निर्णय सदा अस्थायी व प्रयोगात्मक (Experimental) स्तर का ही होता है।

निर्णय एक प्रत्याशा या पूर्वानुमान है। इसके भीतर केवल सत्य-अभ्यर्थन ही होता है। जब हमारी परवर्ती प्रक्रियाएँ एवं अनुभव इसे सत्यापित करने में सफल हो जाते हैं हमारा निर्णय यथार्थ हो जाता है। पर यदि हमारा परवर्ती अनुभव इसे असत्यापित कर देता है, हमारा निर्णय अयथार्थ हो जाता है। अत: यथार्थता या

---

1. वही, पृ०, 193 'Judgement is a personal act.

अयथार्थत निर्णयों की विशेषताएँ हैं, तर्कवाक्यों की नहीं क्योंकि तर्क-वाक्य केवल साध्य निर्णय ही होता है । शिलर के शब्दों में—"एक तर्क-वाक्य साध्य रूप से अधिक यथार्थ नहीं होता, वह वास्तविक रूप में यथार्थ तब होता है जब एक निश्चित सन्दर्भ में इसका प्रयोग किया जाता है, किन्तु तब यह एक निर्णय के रूप में परिवर्तित हो जाता है ।"[1]

निर्णय की तरह अनुमान (Inference) की भी अर्थक्रियावादियों ने जैविक व्याख्या प्रस्तुत की है । इसकी उत्पत्ति भी समस्यात्मक एवं व्यावहारिक परिस्थिति में सम्भव होती है । जब तक जीवन की किसी व्यावहारिक समस्या के समाधान की ओर हम उन्मुख नहीं होंगे तब तक अनुमान की प्रक्रिया की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती । शिलर के अनुसार—' निर्णय और अनुमान दोनों 'प्रयोगात्माक एवं प्रयोजन-मूलक होते हैं जिनका लक्ष्य वस्तुत: अनुभव का नियंत्रण होता है । केवल अनुमान निर्णय की अपेक्षा अधिक सतर्क होता है । यह प्रयोग को दीर्घ करता है । यह कार्य को विलम्बित करता है । यह किसी निर्णय के सतत-अध्यर्थन का परीक्षण सीधे उस पर कार्य करके नहीं करता वरन् प्रथम अन्य निर्णयों की सहायता के माध्यम से करने की चेष्टा करता है । अत:, अनुमान के सन्दर्भ में किसी निर्णय के सत्य-अध्यर्थन की अर्थक्रियावादी प्रासंगिकता दूसरे निर्णयों में निहित होती है : यद्यपि अन्तत: सम्पूर्ण विचार-प्रक्रिया का मूल्यांकन उसके व्यावहारिक प्रयोगों या व्यावहारिक चरितार्थता द्वारा निर्धारित किया जाता है ।"[2]

आकारिक तर्कशास्त्रियों के समक्ष जो सबसे बड़ी समस्या उत्पन्न होती है वह हेत्वानुमान की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में है । यदि निष्कर्ष वह कहता है जो आधार-वाक्यों में पहले से निहित नहीं है तो उसे पूर्णत: अनिवार्य नहीं कहा जा सकता तथा यदि निष्कर्ष वही बात कहता है जो आधार-वाक्यों में पहले से ही निहित है तो इसका यह अर्थ है कि हेत्वानुमान मे हमें किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और वह निरर्थक है । अर्थक्रियावादियों के समक्ष इस प्रकार का उभयतोपाश उपस्थित नहीं होता क्योंकि वे स्पष्ट रूप से उभयतोपाश के प्रथम विकल्प को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं । हमारा निष्कर्ष कभी भी अनिवार्य व निश्चयात्मक नहीं हो सकता । शिलर के शब्दों में—"हमारे सभी तर्क परिकल्पनात्मक एवं प्रयोगात्मक ही होते हैं । न तो हम आधार-वाक्यों की यथार्थता के विषय में पूर्ण रूप से निश्चित होते हैं और न जिस सन्दर्भ में हम किसी पद का प्रयोग करने की चेष्टा करते हैं उसके वास्तविक अर्थ के विषय में ही पूर्ण रूप में आश्वस्त होते हैं । पर यदि हम उनके अर्थ को जानना चाहते हैं तो परीक्षण द्वारा हम भलीभाँति जान सकते हैं ।'[3]

---

1. वही पृ॰ 118. "A proposition is never more than potentially true, it becomes actually true if it is used in a suitable context, but then it turns into a judgement."

2. लॉजिक फॉर यूस, पृ॰ 268.

3. वही, पृ॰ 285 "All our reasoning is hypothetical and experimental. We are not absolutely sure either of the truth of the premises or even of the meaning of our terms in the contexts in which we try to use them. But we are free to try if we are willing to learn,"

जब किसी हेत्वानुमान के आधार-वाक्य ही पूर्णत: निश्चयात्मक व अनिवार्य नहीं हैं तो निष्कर्ष के पूर्णत: निश्चयात्मक व अनिवार्य होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। चूंकि निष्कर्ष भी उतना ही परिकल्पनात्मक व प्रयोगात्मक होता है जितना कि आधार-वाक्य, अत: परवर्ती परिणामों द्वारा हम उसकी यथार्थता को भलीभाँति स्थापित कर सकते हैं तथा इस प्रकार उसकी नवीनता को भी सुरक्षित रख सकते हैं।

आकारिक तर्कशास्त्र जिस पूर्ण अनिवार्यता को अपना लक्ष्य स्वीकार करता है उसे कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। "हमारी युक्ति का उपयोगी होने के लिए प्रामाणिक होना कोई आवश्यक नहीं है, किसी सशक्त उपपत्ति को आकर्षक और विश्वसनीय होने के लिए अनिवार्य होना जरूरी नहीं है, और कोई सत्य कालान्तर में अधिक सम्भाव्य और निश्चयात्मक होते हुए भी हो सकता है कि वह कभी भी निरपेक्ष सत्य का रूप धारण न कर सके। इसके विपरीत, हमारे विचारों को यह अधिकार होना चाहिए कि वह जीवन में जोखिम, उत्साह व उद्यम ग्रहण कर सके तथा आवश्यकताओं को संतुष्ट कर लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सके। सर्वथा निरापद नहीं वरन् निर्भीकतम विचार ही सफलता को प्राप्त करता है। युद्ध-क्षेत्र की तरह विचार-क्षेत्र में भी सफलता बहादुरों का ही वरण करती है।'[1]

हम भलीभाँति जानते हैं कि हमारा आगमनात्मक चिन्तन सदा प्रयोगात्मक और परिकल्पनात्मक ही होता है। चूंकि आगमन में हम सदा ज्ञात से अज्ञात की ओर अग्रसर होते हैं, अत: उसका निष्कर्ष सदा सम्भाव्य ही होता है। परम्परागत तर्कशास्त्र जहाँ सम्पूर्ण चिन्तन को, यहाँ तक कि आगमनात्मक चिन्तन को भी, निगमनात्मक चिन्तन के रूप में घटित करना चाहता है, वहीं अर्थ-क्रियावादी तर्कशास्त्र सम्पूर्ण चिन्तन, यहाँ तक कि निगमनात्मक चिन्तन को भी, आगमनात्मक रूप में घटित करने की चेष्टा करता है। यही दोनों में अन्तर है।

4. जॉन डेवी
(John Dewey : 1859-1952)

जॉन डेवी अमेरिका के सर्वाधिक सुप्रसिद्ध अर्थक्रियावादी दार्शनिक हैं जिनके विचारों का प्रभाव केवल अमेरिका तक ही सीमित नहीं रहा वरन् अमेरिका के बाहर के देशों में भी फैल गया। उन्होंने अर्थक्रियावाद की इतनी विस्तृत व्याख्या की कि इसके प्रभाव से जीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता नही रह पाया। डेवी के अर्थक्रियावाद ने मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, विधि विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, कला, धर्म, विज्ञान, दर्शन सबको प्रभावित किया। जब तक कोई विज्ञान अपने विचारों की अर्थक्रियावादी व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर लेता तब तक वह अपने को अपूर्ण समझता है।

दार्शनिक कृतियाँ—डेवी के विचारों को समझने के लिए उनकी निम्न कृतियों को समझना नितान्त आवश्यक है—1-दर्शन के ऊपर डार्विन का प्रभाव (The Influence of Darwin on Philosophy), 2-प्रायोगिक तर्कशास्त्र पर निबन्ध

1. वही, पृ० 319.

(Essays in Experimental Logic), 3-दर्शन की पुनर्रचना (Reconstruction in Philosophy), 4-अनुभव एवं प्रकृति (Experience and Nature), 5-निश्चिति की खोज (The Quest for Certainty), 6-तर्कशास्त्र:अन्वेषण-सिद्धान्त (Logic : The Theory of Inquiry), 7-मूल्यांकन का सिद्धान्त (Theory of Valuation).

उपकरणवाद एवं प्रयोगवाद
(Instrumentalism and Experimentalism)

यदि पियर्स के दर्शन को **अनुभववाद** (Experientialism) तथा जेम्स के दर्शन को **व्यवहारवाद** (Practicalism) मान लिया जाय तो डेवी के दर्शन को उपकरणवाद (Instrumentalism) और प्रयोगवाद (Experimentalism) मानना होगा। वे जीवन को एक साहसिक कार्य या प्रयोग मानते हैं जिसके द्वारा हम नवीन परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। पियर्स एवं जेम्स की तरह डेवी भी अपना सारा दर्शन अनुभव के सुदृढ़ आधार पर खड़ा करने की चेष्टा करते हैं। **जीव एवं वातावरण की अन्योन्य क्रिया के परिणामस्वरूप जो वस्तु उत्पन्न होती है उसे अनुभव** (Experience) कहते हैं। जो वस्तु हमारे अनुभव का विषय नहीं बन सकती उसका कोई अस्तित्व नहीं है। यदि हम किसी वस्तु का वर्णन करना चाहते हैं तो हमें कहना होगा कि हमें उस वस्तु की कैसी अनुभूति हो रही है।

(i) **अनुभव**—जहाँ तक अनुभव के स्वभाव का प्रश्न है, डेवी के अनुसार, अनुभव कोई अमूर्त वस्तु नहीं है बल्कि उसका सम्बन्ध हमारे जीवन की क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं, दु:ख, दर्द, पीड़ा एवं वेदनाओं (Doings and Sufferings) से है। जिस किसी वस्तु का हमें अव्यवहित ज्ञान होता है वह हमारे अनुभव का अंग हो सकती है। इसी कारण डेवी के अनुभववाद को **अव्यवहित अनुभववाद** (Immediate Empiricism) की भी संज्ञा दी जाती है। अनुभव के स्वभाव का वर्णन करते हुए डेवी लिखते हैं—"आनुभविक दृष्टि से वस्तुएँ मर्मस्पर्शी, कारुणिक, सुन्दर, हास्यकर, स्थिर, अशान्त, सुखद, कष्टकर, बन्ध्या, निष्ठुर, सान्त्वनाप्रद, भव्य, भयंकर होती हैं; ऐसा उनका आन्तरिक स्वभाव होता है।"[1] जिस प्रकार वस्तुओं के भीतर रूप, रंग, स्पर्श, शब्द, घ्राण तथा स्वाद के वस्तुगत गुण पाए जाते हैं उसी प्रकार उनके भीतर उपर्युक्त गुण भी पाए जाते हैं।[2]

अनुभव के विषय में जो दूसरी बात विचारणीय है वह यह है कि हमारा अनुभव एक दृष्टि से ऐकान्तिक व अपवर्जक होता है तो दूसरी दृष्टि से समावेशी व परस्पर-सम्बद्ध होता है। डेवी के शब्दों में "यदि अव्यवहित अनुभव में कहने की क्षमता होती तो यह घोषित करता कि मेरे सम्बन्धी हो सकते हैं पर मैं सम्बन्धित नहीं हूँ"[3] इस प्रकार संसार में जितनी वस्तुएँ हैं उनका अपना आन्तरिक स्वभाव होते हुए भी

1. डेवी, एक्स्पीरिएन्स एण्ड नेचर, पृ० 96.
2. वही, पृ० 96.
3. वही, पृ० 87 'I may have relatives but I am not related.'

वे संसार की अन्य वस्तुओं के साथ इस प्रकार परस्पर-सम्बद्ध हैं कि हमारा उनका ज्ञान संश्लिष्ट व समावेशी ही हो सकता है।

तीसरी बात जो समझने की है वह यह है कि डेवी ने ज्ञान और अनुभव की जैविक व्याख्या प्रस्तुत की है जिसके अनुसार ज्ञान वाह्य परिस्थितियों के साथ सफल समायोजन का एक उपकरण है। यह एक ऐसी विकट परिस्थिति में उत्पन्न होता है जिसमें हमारी प्रक्रिया अवरुद्ध हो गई हो। जब किसी जीव के समक्ष कोई नवीन वस्तु आकर खड़ी हो जाती है तो वह हमारे लिए एक व्यावहारिक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि उसके साथ हम किस प्रकार का व्यवहार करें। उस व्यावहारिक समस्या के समाधान के लिए हमारे मन में जो विचार उत्पन्न होता है डेवी उसे 'ज्ञान' की संज्ञा प्रदान करते हैं। **ज्ञान किसी परिस्थिति का विमर्शात्मक या बौद्धिक बोध है**[1] जो किसी अनुभव से उत्पन्न तो अवश्य होता है पर अनुभव के साथ उसका तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। ज्ञान के विपरीत, **अनुभव** किसी **परिस्थिति का अविमर्शात्मक बोध है**[2] यथा भोजन का स्वाद लेना, किसी वृत्तचित्र की प्रशंसा करना, किसी व्यक्ति से प्रेम करना इत्यादि। यदि हमे नीले रंग की संवेदना हो रही है तो यह डेवी के अनुसार 'अनुभव' न होकर अनुभव का बौद्धिक विमर्श है। इस प्रकार डेवी ने लॉक, बर्कले एवं ह्यूम के परम्परागत अनुभववाद का खण्डन करके अपने वास्तविक अनुभववाद की स्थापना किया।

जब हमारे समक्ष कोई व्यावहारिक समस्या उपस्थित होती है तो हमारा चिन्तन अनुभव को दो भागों में विभाजित कर देता है: प्रथम प्रदत्त है जो विशुद्ध तथ्य के रूप में आता है, द्वितीय वह विचार या प्रस्ताव है जो समस्या के समाधान के लिए हमारे मन में उत्पन्न होता है। विचार या प्रस्ताव तथ्य एवं उद्देश्य के बीच अन्तर को कम करने की चेष्टा करता है। ये प्रस्ताव वे उपकरण (Instrument) हैं जो तथ्यों को इस प्रकार परिवर्तित कर देते हैं कि समस्या का समाधान स्वतः हो जाता है।

(ii) **उपकरणवाद**— हम पहले ही देख चुके हैं कि विचार हमारे भविष्य की क्रियाओं की योजना है। डेवी की भी यही मान्यता है। उनके अनुसार "विचार एक प्रकार का ड्राफ्ट या धनादेश है जिसके द्वारा हम इस प्रकार कार्य करते हैं कि वस्तुओं के भीतर व्यवस्था स्थापित हो जाती है।"[3] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "यदि हमारे ड्राफ्ट का सम्मान किया जाता है अथवा यदि हम अपने विचारों के अनुसार कार्य करने से परिस्थिति में सुव्यवस्था या सामञ्जस्य स्थापित करने में

---

1. Knowledge is a reflective or intellectual grasp of a situaation"

2. Experience is a non-reflective way of dealing with a situation.

3. रिकॉन्स्ट्रक्शन इन फिलॉसॉफी, पृ० 145 "...an idea is a draft drawn upon existing things, and intention to act so as to arrange them in a certain way."

सफल हो जाते हैं तो हमारा विचार यथार्थ है।"[1] **इस प्रकार विचार एक प्रकार के उपकरण** (Tools) हैं।"इसमें साध्य-मूल्य नहीं होता; इनका मूल्य इस बात में निहित होता है कि इनका प्रयोग किसी समस्या के समाधान की कितनी योग्यता रखता है।"[2]

(iii) **प्रायोगिकअनुभववाद**—डेवी ने अपने अर्थ (Meaning) के सिद्धान्त को प्रायोगिक अनुभववाद[3] (Experimental Empiricism) की संज्ञा दी है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु के भौतिक गुण विभिन्न प्रयोगों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इसमें डेवी ने प्रो० ब्रिग्मैन[4] (Prof. Bridgmann) से प्रेरणा ग्रहण की है तथा उनकी सहमति से वे उन्हें इस प्रकार उद्धृत करते हैं, "किसी प्रत्यय से हमारा तात्पर्य संक्रियाओं के समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, प्रत्यय संक्रियाओं के समूह का ही पर्याय है।"[5] इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की भौतिक विशेषताएँ उसके समवायी गुण नहीं हैं वरन् वे कुछ साभिप्राय संक्रियाओं (Intentional Operations) के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुओं के भीतर निरपेक्ष गुण न होकर केवल सापेक्ष गुण ही पाये जाते हैं। यदि किसी वस्तु के ऊपर कुछ साभिप्राय संक्रियाएँ सम्पादित की जाती हैं तो उस वस्तु के अन्दर कुछ सविशेष गुण प्रकट होंगे। वस्तु का सोपपाधिक या सापेक्ष स्वभाव स्पष्ट करता है कि उसके भीतर जो इस समय गुण दिखाई दे रहे हैं वे उसके अन्तिम व पूर्ण गुण नहीं हैं वरन् वे मध्यवर्ती या उपकरणात्मक गुण ही हैं।[6] उदाहरण के लिए हम हाइड्रोजन गैस को ले सकते हैं। विज्ञान बताता है कि हाइड्रोजन एक रंगहीन, गंधहीन, स्वादहीन व ज्वलनशील गैस है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वस्तु के भीतर ये गुण किस प्रकार प्रकट होते हैं। हाइड्रोजन के इन गुणों का ज्ञान न तो हमें बुद्धि द्वारा प्राप्त हो सकता है और न इन्द्रियानुभव द्वारा ही। वस्तु के भीतर उपर्युक्त गुण तब उत्पन्न होते हैं जबकि उस पर कुछ साभिप्राय संक्रियाएँ सम्पादित की जाती हैं। चूँकि जब तक किसी वस्तु के ऊपर कुछ साभिप्राय संक्रियाएँ या प्रयोग (Experiment) न किए जाँय तब तक उनके गुणों का हमें अनुभव नहीं हो सकता, इसीलिए डेवी के अनुभववाद को प्रायोगिक अनुभववाद (Experimental Empiricism) की संज्ञा दी जाती है।

(iv) **सांसारिकवाद** (Temporalism)—डेवी किसी स्थिर या शाश्वत जगत में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार जगत परिवर्तनशील, प्रवहमान व अस्थिर

---

1. वही "....from which it follows that if the draft is honoured, if existences following upon the action re-arrange or re-adjust themselves in the way the idea intends, the idea is true."

2. वही।

3. द क्वेस्ट फॉर सर्टेनटी, पृ०, 108.

4. द लॉजिक ऑव मॉडर्न फिजिक्स, पृ० 5.

5. द क्वेस्ट फॉर सर्टेनटी, पृ० 111, "We mean by any concept nothing more than a set of operations, the concept is synonymous with the corresponding set of operations.

6. लॉजिक, पृ० 456.

वस्तु है। उसके भीतर कोई स्थिर या स्थायी गुण नहीं पाये जाते। वस्तुओं के गुण सापेक्षिक, सोपाधिक व परिस्थति-सापेक्ष होते हैं। किसी वस्तु के ऊपर जिस प्रकार के प्रयोग किये जायेंगे उसी प्रकार के गुण भी उसके भीतर परिलक्षित होंगे। संसार की सभी वस्तुएँ काल के प्रवाह में निमग्न हैं व समय के परिवर्तन के अनुसार उनके स्वभाव में परिवर्तन होता रहता है। संसार का अर्थ ही है : परिवर्तन; जगत का अर्थ ही है वह वस्तु जो उत्पन्न होती है और बाद में नष्ट हो जाती है। डेवी के ही शब्दों में—"सभी व्याप्त्यर्थों का जो हमारे अनुभव का निर्माण करते हैं, एक इतिहास होता है, वे काल-प्रवाह में निमग्न हैं"[1] इसी प्रकार, "वर्तमान अनुभव के सभी विषयों मे कालगत अनुक्रमण की वास्तविकता पाई जाती है।"[2] पुन: "किसी वस्तु के स्थिर होने पर भी उसे शाश्वत नहीं कहा जा सकता। एक निश्चित अवस्था के बाद वह काल-दन्त की चपेट से ध्वस्त हो जायगा। प्रत्येक सत् एक घटना है।"[3] इस प्रकार डेवी संसार की सांसारिकता में अटूट विश्वास रखते हैं।

(v) व्यावहारिकवाद (Practicalism)—डेवी डार्विन के विकासवाद से विशेष प्रभावित थे। जिस प्रकार किसी जीव या प्राणी का कोई अंग बाह्य परिस्थितियो के साथ समायोजन या अनुकूलन का उपकरण है, उसी प्रकार किसी विचार की सार्थकता इस बात में निहित होती है कि वह हमारी व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में कितना सहायक होता है। उन्हीं के शब्दों में—"किसी विचार की सार्थकता उन परिवर्तनों में निहित है जो वह हमारी अभिवृत्ति के रूप में वस्तुओं को प्रभावित करता है।"[4]

यद्यपि डेवी ने तथ्यात्मक **निर्णयों** (Judgements of Fact) एवं **व्याहारिक निर्णयों** (Judgement of Practice) में विभेद किया है पर अन्त में वे तथ्यात्मक निर्णयों को व्यावहारिक निर्णयों में घटित करने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए जब हमें कुर्सी का ज्ञान होता है तो लोग यही कहेंगे कि हमें एक तथ्य के रूप में कुर्सी का ज्ञान हो रहा है, पर डेवी के अनुसार बात ऐसी नहीं है। उन्हीं के शब्दों में—"हम कुर्सी के विभिन्न पृथक् गुणों की गणना करके कुर्सी को नहीं जानते वरन् इन गुणों को किसी अन्य वस्तु—उस उद्देश्य के साथ सम्बंधित करके ही जानते हैं जो उस वस्तु को मेज न बनाकर कुर्सी बनाती है।"[5]

आगे चलकर डेवी ने अपने व्यावहारिकवाद को **संक्रियावाद** (Operationalism) के साथ सम्बंधित करके उसे और अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की। हमारे

1. एक्सपीरिएन्स एण्ड नेचर, पृ० 28.

2. वही पृ०, 29, "Objects of present experience have the actuality of temporal procession."

3. वही, पृ० 71.

4. एसेज इन एक्सपेरिमेण्टल लॉजिक पृ० 315, "The meaning of an idea is the changes it, as our attitude, effects in objects."

5. डेवी, जे०, डेमॉक्रेसी एण्ड एजुकेशन, पृ० 168.

सभी प्रत्ययों एवं बौद्धिक वर्णनों की व्याख्या संक्रियाओं के माध्यम से होनी चाहिए। उदाहरण के लिए जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु मीठी या मधुर है तो इसका यह अर्थ होता है कि जब उस वस्तु का स्वाद लिया जायगा तो उसके कुछ निश्चित परिणाम उत्पन्न होंगे।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि, **किसी विचार की सार्थकता संक्रियाओं में तथा उसकी वैधता परिणामों में निहित है।** यही डेवी का व्यावहारिक-वाद है।

अर्थक्रियावाद : एक दार्शनिक प्रणाली

अर्थक्रियावाद— महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं के समाधान की एक प्रणाली भी है। चार्ल्स पियर्स के अनुसार अर्थक्रियावाद 'अनुचिन्तन की एक प्रणाली है, जिसका उद्देश्य विचारों को स्पष्ट करना होता है।'' जेम्स ने भी अर्थक्रियावाद को तात्विक समस्याओं के समाधान की एक प्रणाली के रूप में स्वीकार किया था, जिसके अभाव में ये समस्याएँ असमाप्य ही होतीं।[2] उन्होंने संकेत किया था कि यदि विभिन्न तात्विक विकल्प यथा भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद अथवा वस्तुवाद एवं विज्ञानवाद, जीवन में कोई व्यावहारिक अन्तर उत्पन्न नहीं करते तो व्यावहारिक दृष्टि से इन विकल्पों के समान अर्थ हैं और इनसे सम्बन्धित सभी विवाद निरर्थक हैं। इसी प्रकार जॉन डेवी ने भी कहा था कि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में जो वस्तुवाद और विज्ञानवाद का अथवा अव्यवहितत्ववाद और प्रतिनिधानवाद के बीच ज्ञानमीमांसीय विवाद है वे ज्ञाता और ज्ञेय के आत्यन्तिक विरोध के कारण हैं। डेवी ने ज्ञान के इस प्रेक्षक रूप (Spectator's View) का घोर विरोध किया। ज्ञाता और ज्ञेय किसी का भी स्वभाव स्थिर नहीं होता। जब कोई विषय हमारे समक्ष उपस्थित होता है वह एक उत्तेजना (Provocation) या चुनौती (Challenge) के रूप में हमारे सामने आता है जिसका सामना करने के लिए हम ज्ञाता के भीतर कुछ परिवर्तन कर देते हैं तथा इसी प्रकार अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए हम विषय या ज्ञेय वस्तु के भीतर भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य कर देते हैं। दूसरी बात जो यहाँ ध्यान देने की है वह यह है कि ज्ञाता या विषयी जगत के बाहर नहीं हैं, वह जगत के भीतर ही है। डेवी के अनुसार, हमारे अनुसंधान के विषय ''दैनिक अनुभव की वस्तुएँ या जगत की वे मूर्त घटनाएँ हैं जिनके बीच हम रहते हैं तथा जो व्यावहारिक बातों या सुख-दुख के दृष्टिकोण से हमारे उस जगत का निर्माण करती हैं जिनके बीच हम निवास करते हैं।''[3] इस प्रकार डेवी मनो-भौतिक द्वैतवाद का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार प्राकृतिक एवं भौतिक प्रक्रियाएँ एक ही सतत् और अविच्छिन्न प्रक्रिया के अंग है। ''इसे दो भागों में विभाजित करने की प्रक्रिया एवं पुन: कार्योत्पादक शक्ति द्वारा संयुक्त करने की प्रक्रिया समान रूप में याद्दच्छिक और निराधार है।''[4]

---

1. द क्वेस्ट फॉर सर्टेनटी, पृ० 137.

2. प्रैग्मैटिज्म, पृ० 45, "Pragmatism is a method of settling metaphysical disputes than otherwise might be interminable"

3. द क्वेस्ट फार सर्टेनटी, पृ०, 195.

4. एक्सपीरिएन्स एण्ड नेचर, पृ०, 275.

इसी प्रकार कुछ दार्शनिकों के अनुसार आदर्श, यथार्थ से बिलकुल पृथक है पर डेवी के अनुसार आदर्श यथार्थ से ही उत्पन्न होता है तथा उसके विकास की सम्भाव्यता को व्यक्त करता है। यदि दार्शनिक लोग दुखी मानवता को इस बात के लिए आश्वस्त कर सकें कि आदर्श यथार्थ से पृथक् और अतीत नही हैं वरन् उससे अविच्छिन्न हैं तथा यदि मनुष्य प्रयेत्न करें तो आदर्शों को प्राप्त कर सकते हैं, तो मानव-समाज का बड़ा कल्याण हो सकता है। डेवी के अर्थक्रियावाद का यही प्रमुख उद्देश्य था।

अर्थक्रियावाद ने धार्मिक समस्याओं के समाधान में भी पर्याप्त योगदान किया। ईश्वर, आत्मा की अमरता, प्रयोजन, उद्देश्य इत्यादि को कुछ लोगों ने इसलिए अस्वीकार कर दिया कि इनके अस्तित्व के लिए कोई ययेष्ट प्रमाण नहीं हैं। पर अर्थक्रियावादियों ने इन्हें इसलिए स्वीकार कर लिया कि जीवन में इनकी व्यावहारिक उपयोगिता है। **आस्था या विश्वास मानव-जीवन की पूर्वापेक्षा है। संदेहवाद** व अज्ञेयवाद से हमारा जीवन दूभर हो जायगा। विश्वास या आस्था ही हमारे जीवन का आरम्भ बिन्दु है।

व्यावहारिक और जैविक दृष्टिकोण मे ईश्वर के अस्तित्व या अनस्तित्व की कोई प्रासंगिकता नहीं है। डेवी के अनुसार **धर्म का मूल मन्तव्य है— किसी उच्च शक्ति के प्रति समर्पण की भावना**। धार्मिक अभिवृत्ति के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि हमारे समक्ष एक उच्च आदर्श हो और उस आदर्श की सिद्धता के प्रति संमर्पित भाव हो। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि किसी उच्च आदर्श के प्रति समर्पित होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उस आदर्श के पूर्व अस्तित्व का हमारे पास पूर्ण प्रमाण मौजूद हो; इसके लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि उक्त आदर्श को स्वीकार करने से हमारे जीवन में समुन्नति और गुणात्मक वृद्धि होती रहे।[1] ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास हमारे जीवन की प्रारम्भिक अभिधारणा है।

अर्थ-क्रियावाद का मूल्यांकन

अर्थ-क्रियावाद ऊपर से देखने पर पर्याप्त आकर्षक सिद्धान्त दिखाई पड़ता है तथा वह आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रवृत्ति के बिलकुल अनुकूल भी है। पर यदि उसका तार्किक विश्लेषण किया जाय तो उसमें हमें पर्याप्त दोष भी दिखाई पड़ते हैं, जिनका हम संक्षेप में नीचे वर्णन करेंगे --

(i) ज्ञान की जैविक व्याख्या प्रस्तुत करके विलियम जेम्स ने मानवीय और जानवरों के ज्ञान को एक स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया। जब अर्थ-क्रियावादी यह कहते हैं कि ज्ञान का वास्तविक अर्थ तत्व-प्रकाशन नहीं वरन् भविष्य में कार्य करने की योजना या सन्नद्धता है तो ज्ञान की यह परिभाषा केवल जानवरों पर ही लागू होती है, मनुष्यों पर नहीं। ज्ञान-विज्ञान का इतिहास जेम्स के अर्थ-क्रियावाद की पुष्टि नहीं करता। विज्ञान के अनुसंधान निष्काम भाव से किये जाते हैं। ज्ञान की खोज में कितने ही जिज्ञासुओं ने अपने प्राणों की आहुति दे डाली। हम जानते

1. डेवी. द क्वेस्ट फॉर सर्टेनटी, पृ० 288–91.

हैं कि पोटैशियम साइनाइड (Potassium Cynide) के स्वाद का ज्ञान प्राप्त करने में कितने ही वैज्ञानिकों ने अपनी जान गवाँ दी है। यहाँ जेम्स का अर्थ-क्रियावाद इस तथ्य की व्याख्या करने में बिलकुल असमर्थ हो जाता है। फराडे (Faraday), मैक्सवेल (Maxwell), हर्टज (Hertz) इत्यादि वैज्ञानिकों ने जब अपने मौलिक अनुसंधान प्रस्तुत किये उनके मन में इन अनुसंधानों की व्यावहारिक उपयोगिता का विचार भी न आया होगा। अत: यह कहना कि मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य व्यावहारिक उपयोगिता द्वारा ही संचालित होते हैं, ठीक नहीं है।

2. अर्थ-क्रियावादी अवैयक्तिक ज्ञान (Impersonal Knowledge) से इनकार करते हैं। उनके अनुसार हमारा सभी ज्ञान व्यक्तिगत इच्छाओं और प्रेरणाओं से प्रभावित होते हैं। पर यह वास्तविकता के प्रतिकूल है। 'ज्ञान' एक पवित्र वस्तु है। यदि हम किसी ज्ञान को सकाम भाव से या फल की इच्छा के लिए प्राप्त करना चाहते हैं तो वह वास्तविक ज्ञान कभी नहीं हो सकता। ज्ञान का आदर्श "ज्ञान, ज्ञान के लिए (Knowledge for the sake of Knowledge) होता है। अत:, इस सम्बन्ध में अर्थ-क्रियावाद का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

(3) अर्थ-क्रियावादियों का जो अर्थ (Meaning) का सिद्धान्त है वह भी अनेक तार्किक कठिनाइयों से भरा पड़ा है। डेवी के अनुसार, "किसी वस्तु के मधुर कहने का अर्थ यह भविष्यकथन करना है कि यदि उसका स्वाद लिया जायगा तो उससे अमुक परिणाम प्राप्त होंगे।"1 परन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि निम्न दो निर्णयों : प्रथम "चीनी मधुर है" और द्वितीय "यदि मैं चीनी का स्वाद लूँगा, मुझे मधुरता का अनुभव प्राप्त होगा" के अर्थ समान नहीं हैं। इसके दो कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि प्रथम के सत्य होते हुए भी दूसरा निर्णय असत्य हो सकता है। यदि हमारी स्वाद-कलिकाएँ (Taste-Bulbs) किसी प्रकार निष्क्रिय बना दी जाँय, चीनी को जिह्वा पर रखने के बाद भी हमें मधुरता का अनुभव नहीं होगा। अत: दोनों निर्णयों के अर्थ समान नहीं हैं। दूसरा कारण यह है कि यदि कोई व्यक्ति प्रथम निर्णय की यथार्थता को चुनौती देता है, उसकी यथार्थता को सिद्ध करने के लिए हम द्वितीय निर्णय को एक स्वतन्त्र निकष के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। यदि दोनों निर्णयों के अर्थ समान होते तो प्रथम निर्णय की यथार्थता को सिद्ध करने के लिए द्वितीय निर्णय को आधार बनाने की आवश्यकता कदापि न होती। इससे स्पष्ट है कि अर्थ-कियावादियों के कथन के बावजूद उपर्युक्त दोनों कथनों के अर्थ समान नहीं है।

(4) यदि अर्थ-क्रियावाद के अनुसार हमारे सभी विचार अग्रदर्शी (Prospective) हैं, तो इसका निहितार्थ यह है कि हमे भूतकाल के विषय में कोई ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता जो सर्वथा गलत है। इसमें दूसरी कठिनाई यह है कि यदि सभी विचार अग्रदर्शी हैं तो किसी निर्णय का सत्यापन (Verification) किया ही नहीं जा सकता। कल्पना किया कि एक विचार वि है जो अग्रदर्शी है। इसके सत्यापन के लिए भविष्य में घटित होने वाले अ1 की आवश्यकता होगी। अब, अ को भी एक विचार या निर्णय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिसके सत्यापन के लिए अनुभव अ2 की आवश्यकता होगी। इस प्रकार इसमें अनवस्था-दोष की प्राप्ति होगी।

---

1. डेवी, क्वेस्ट फार सर्टेनटी, पृ० 137.

(5) यदि अर्थ-क्रियावाद को यथार्थ मान लिया जाय तो सामान्य तर्क-वाक्यों (General Propositions) की सत्यता का निर्धारण कभी किया ही नहीं जा सकता। किसी सर्वव्यापी सामान्य तर्क-वाक्य की सत्यता के निर्धारण के लिए अनन्त परिणामों का अवलोकन करना होगा जो व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। सामान्य तर्क-वाक्यों की सत्यता को तो छोड़ दीजिए, उनके अर्थ को भी निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि किसी सामान्य तर्क-वाक्य का वास्तविक अर्थ उन सभी विशिष्ट अनुभवों द्वारा निर्धारित होगा जो भूतकाल में घटित हो चुके हैं, वर्तमान में घटित हो रहे हैं और भविष्य में घटित होंगे। इन सभी घटनाओं का एक व्यक्ति के लिए अनुभव करना असम्भव ही है। यदि यह सही है तो न तो कोई अनुमान सम्भव होगा और न कोई विज्ञान ही क्योंकि प्रत्येक विज्ञान कम से कम एक सर्वव्यापी सामान्य तर्क-वाक्य पर आधारित है और वह है : प्रकृति की समरूपता का नियम । अर्थ-क्रियावाद के आधार पर कोई भी विज्ञान स्वयं अपने को प्रमाणित नहीं कर सकता।

(6) कुछ अर्थ-क्रियावादी जैसे डेवी किसी निर्णय के अर्थ (Meaning) व उसके सत्यापन (Verification) में भेद नहीं करते। वे इन दोनों के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं। पर यह उचित नहीं है। यदि किसी निर्णय के भीतर पहले से ही कोई अर्थ नहीं है, तो उसके सत्यापन का कोई अर्थ नहीं हैं। किसी निरर्थक वाक्य का सत्यापन नहीं किया जाता। अर्थ एवं सत्यापन के तादात्म्य का एक कुपरिणाम यह निकलेगा कि वह हमें अहंमात्रवाद (Solipsism) की ओर ले जायेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने आत्मनिष्ठ अनुभवों तक ही सीमित रहेगा और उसे वस्तुनिष्ठ जगत का ज्ञान ही नहीं हो पाएगा। ऐसी स्थिति में विचारों का आदान-प्रदान ही असम्भव हो जाएगा।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी अर्थ-क्रियावाद के कुछ गुणों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। अर्थ-क्रियावाद ने काल्पनिक जगत से हमारा ध्यान हटाकर वास्तविक जगत में केन्द्रीभूत किया। मानव ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। जब तक कोई विचार या कल्पना मानव द्वारा अनुमोदित नहीं होगी, संसार में उसका कोई मूल्य नहीं होगा। इस दृष्टि से अर्थ-क्रियावाद एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

5

हेनरी बर्गसाँ

(Henry Bergson : 1859–1941)

जीवन-वृत्त– हेनरी बर्गसाँ का जन्म सन् 1859 ई० में फ्रान्स के पेरिस नगर में हुआ था। इनके पिता फ्रान्सीसी किन्तु माता यहूदी समुदाय की थीं। सर्वप्रथम उन्होंने गणित एवं भौतिक शास्त्र में विशिष्टता प्राप्त की किन्तु बाद में इन विषयों में निहित गूढ़ समस्याओं ने इनके मन में तत्त्व-विज्ञान के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न की। इसके परिणामस्वरूप वे सन् 1878 में दर्शन-शास्त्र के विद्यार्थी हो गए और स्नातक-उपाधि प्राप्त करने के बाद **क्लर्मोण्ट-फेराण्ड** के **शिक्षा-संस्थान** (Lycee of Clermont Ferrand) में वे दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त किए गए। इसके बाद का उनका सारा समय दर्शन-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन व लेखन में व्यतीत हुआ। 1898 ई० में बर्गसाँ **एकोल नॉर्मेल** (Ecole Normale) में तथा 1900 में **फ्रान्स के कालेज** (College de France) में दर्शन-शास्त्र के आचार्य नियुक्त हुए। वहीं 1941 में उनकी मृत्यु हो गई।

रचनाएँ—बर्गसाँ ने दर्शन-शास्त्र के विभिन्न विषयों पर अनेक मौलिक रचनाएँ लिखी हैं। 1888 ई० में उनकी प्रथम मौलिक कृति **काल और संकल्प-स्वातन्त्र्य** (Time and Free Will) प्रकाशित हुई। 8 वर्ष के अन्तराल के बाद उनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति **जड़-तत्त्व और स्मृति** (Matter and Memory) 1896 ई० में प्रकाशित हुई। इसके बाद 1903 में बर्गसाँ ने **तत्त्व-विज्ञान का परिचय** (An Inroduction to Metaphysics) प्रकाशित कराया। उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति **सृजनात्मक विकास** (Creative Evolution), जिससे दर्शन-जगत में उनकी पर्याप्त ख्याति हुई, 1907 में प्रकाशित हुई। उनकी अन्तिम महत्त्वपूर्ण पुस्तक **नैतिकता और धर्म के दो स्रोत** (The two Sources of Morality and Religion) 1932 में प्रकाशित हुई।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

उन्नीसवीं शताब्दी की बुद्धिवादी एवं विज्ञानवादी विचारधारा की प्रमुख विशेषता थी : उसका नियन्त्रणवाद (Determinism) जिसमें स्वातन्त्र्य, नेतृत्व, उत्तरदायित्व, नवीनता, साहस, अवसर, स्वच्छन्दता इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं था। इस समय एक ऐसी विचारधारा की आवश्यकता थी जिसमें **सामान्य** की अपेक्षा **विशेष** पर अधिक बल दिया जाता हो, जिसमें **यन्त्रवाद** की अपेक्षा **अवयवीवाद** का प्राधान्य हो, जिसमें **बुद्धि** की अपेक्षा **संकल्पशक्ति** की विशेषता हो, जिसमें **तर्क** की अपेक्षा **निर्विकल्प अनुभूति** का बोलबाला हो, तथा जिसमें **ईश्वर** की अपेक्षा **मनुष्य** का आनयन हो। दर्शनशास्त्र में जो विचारधारा विशेषों, अवयवीवाद, संकल्प-शक्ति, निर्विकल्प अनुभूति और मनुष्य पर विशेष बल देती है, उसे **स्वच्छन्दतावाद** (Romanticism) कहा जाता

है। स्वच्छन्दतावादी विचारधाराओं में अस्तित्ववाद (Existentialism), अर्थक्रियावाद (Pragmatism) एवं अन्त:प्रज्ञावाद (Intuitionism) विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। यहाँ बर्गसाँ के अन्त:प्रज्ञावाद के विषय में ही उल्लेख किया जायेगा।

बर्गसाँ के दर्शन के ऊपर जीव-विज्ञान की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। भौतिकवादी संसार की सभी वस्तुओं की व्याख्या जड़-तत्त्व के माध्यम से करने की चेष्टा करता है; विज्ञानवादी संसार की सभी वस्तुओं की व्याख्या चैतन्य के माध्यम से करने की चेष्टा करता है; बर्गसाँ संसार की सभी वस्तुओं की व्याख्या प्राण-तत्त्व के माध्यम से करने की चेष्टा करता है। इसीलिए उसके दर्शन को **प्राणवाद** (Vitalism) के नाम से अभिहित किया जाता है। बर्गसाँ के दर्शन का प्रमुख उद्देश्य आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व के द्वैत को समाप्त करना था। उन्होंने देखा कि आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व के बीच इतना आत्यन्तिक विरोध है कि इस विरोध का समाधान न तो विज्ञानवाद कर सकता है और न भौतिकवाद। यह प्राण-तत्त्व द्वारा ही सम्भव है जो आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व के बीच आता है। आधुनिक भौतिक शास्त्र ने जड़-तत्त्व को ऊर्जा के रूप में घटित करके तथा आधुनिक मनोविज्ञान ने आत्म-तत्त्व को शारीरिक प्रतिक्रियाओं के रूप में घटित करके प्रदर्शित कर दिया है कि आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व के बीच उतना आत्यन्तिक विरोध नहीं है जितना साधारण मनुष्य समझते हैं। उनके बीच ऐसा उभयनिष्ठ तत्त्व है जिसके माध्यम से आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व दोनों की यथेष्ट व्याख्या की जा सकती है। बर्गसाँ के अनुसार वह उभयनिष्ठ तत्त्व **प्राण-तत्त्व** (Elan Vital) है। इस प्रकार बर्गसाँ का प्राणवाद आधुनिक विज्ञान के अनुसंधानों से पर्याप्त निकट है।

तत्व-विज्ञान

Metaphysics

यदि बर्गसाँ की रचनाओं का अध्ययन किया जाय तो हम देखेंगे कि कभी उनके दर्शन में हमें **द्वैतवाद** (जड़-चैतन्य) की झलक मिलती है और कभी **अद्वैतवाद** (प्राण-तत्त्व) की। ऊपर से देखने पर प्रतीत होता है कि उनके दर्शन में कुछ अन्तर्विरोध अवश्य है। किन्तु यदि उनके दर्शन का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो उसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं पाया जायेगा। बर्गसाँ का द्वैतवाद केवल प्रारम्भिक और अनन्तिम है। स्वयं वैज्ञानिक होने के कारण उन्होंने निरीक्षण किया कि संसार में दो परस्पर विरोधी शक्तियाँ कार्य कर रही है; प्रथम चैतन्य-शक्ति और द्वितीय, जड़-शक्ति। चैतन्य-शक्ति जड़-शक्ति को पराभूत करके उस पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करती है। कभी वह सफल होती है और कभी असफल। चैतन्य-शक्ति और जड़-शक्ति का संघर्ष मनुष्य, जानवर व वनस्पतियाँ सभी स्तर पर देखा जा सकता है। यदि हम अपने आन्तरिक जगत का अवलोकन करें, वहाँ भी हमें दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। एक एकीकरण और संगठन की तथा दूसरी विभेदीकरण और विघटन की। इस प्रकार 'चतन्य और जड़-तत्त्व अस्तित्त्व के दो आत्यन्तिक विरोधी रूपों में हमें दिखाई देते हैं।'[1] पर

---

1. Bergson, H. Mind Energy, p. 13, "Consciousness and matter appear to us, then, as radically different forms of existence."

तत्त्व-ज्ञानी होने के कारण बर्गसाँ चैतन्य और जड़-तत्त्व के द्वैतवाद से संतुष्ट नहीं है। वे जानते हैं कि यदि चैतन्य और जड़-तत्त्व के बीच आत्यन्तिक विरोध को स्वीकार कर लिया जाय तो दोनों के बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। इन दोनों के बीच सम्बन्ध तभी सम्भव है जबकि "........दोनों तत्त्व जड़ और चैतन्य एक ही सामान्य स्रोत से निष्कर्षित होते हों।"[1] उपर्युक्त निष्कर्ष इस बात पर आधारित है कि जड़ और चैतन्य दोनों को प्रवृत्तियों और संक्रियाओं के रूप में घटित किया जा सकता है। बर्गसाँ के अनुसार संसार में एक ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ या संक्रियाएँ चारों ओर दिखाई देती हैं चाहे वे निर्माण-कार्य में संलग्न हों या विघटन के कार्य में संलग्न हों। इसके अतिरिक्त वे प्रवृत्तियाँ सृजनात्मक भी हैं क्योंकि वे सदा किसी न किसी नवीन वस्तु को विकसित करती रहती हैं। जहाँ चैतन्य सृष्टि की अग्रगामी प्रवृत्ति है वहीं जड़ पश्चगामी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वह सामान्य स्रोत या उभयनिष्ठ तत्त्व क्या है जो एक ओर चैतन्य को और दूसरी ओर जड़-तत्त्व को उत्पन्न करता है? प्रारम्भ में यह तत्व अवश्य ही अभेदित रूप में रहा होगा जो बाद में अपनी तान्ति को शिथिल करके विभिन्न रूपों में भेदित हुआ होगा। इस अभेदित तत्त्व को किस नाम से अभिहित किया जाय? थोड़े समय के लिए, बर्गसाँ के अनुसार, इसे चैतन्य (Consciousness) की संज्ञा दी जा सकती है। पर यह वह संकुचित चैतन्य नहीं है जो हम लोगों के भीतर साधारण रूप में कार्य करता है। यह वह चैतन्य है जिसका स्वभाव **विशुद्ध संकल्प** (Pure Willing) या **विशुद्ध आवेग** (Pure Impulse) है जिससे एक ओर संकुचित चैतन्य और दूसरी ओर जड़-तत्त्व निष्कर्षित होता है। इस विशुद्ध आवेग को "चैतन्य" की भी संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि विस्तृत अर्थ में, चैतन्य के भीतर स्मृति, प्रत्याशा और चयन की शक्ति विद्यमान होती है जो वर्तमान के ऊपर भूत को संकलित कर नवीन भविष्य का निर्माण कर सकती है। सृष्टि के इस मूल स्रोत को ईश्वर (God) भी कहा जा सकता है। बर्गसाँ के शब्दों में: "ईश्वर की परिभाषा के अनुसार उसमें कोई भी पूर्व निर्मित वस्तुएँ विद्यमान नहीं हैं; वह अविच्छिन्न जीवन, प्रक्रिया और स्वातन्त्र्य है। इस विचार के अनुसार सृष्टि कोई रहस्य नहीं है; जब हम स्वतन्त्र रूप में प्रक्रिया करते हैं, हमें स्वयं अपने भीतर इसकी अनुभूति होती है।"[2] साधारणतया, बर्गसाँ इसे **प्राण-तत्त्व** (Elan Vital) कहते हैं जिसका वे आगे चलकर ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं।

प्राण ही एक मात्र तत्त्व है। इसका व्यावर्तक गुण है: स्वातन्त्र्य एवं अनियन्त्रित व्यापार। जड़-तत्व का व्यापार नियन्त्रित हैं पर प्राण-तत्व का व्यापार अनियन्त्रित है। प्राण-तत्व, चैतन्य और जड़ दोनों का मूलाधार है। यही कारण है कि इसके

1. वही, पृ० 18, "........that two realities matter and consciousness, are derived from a common source."

2. क्रिएटिव एवॉल्यूशन, पृ० 262, "God thus defined, has nothing of the already made; He is unceasing life, action, freedom. Creation so conceived, is not a mystery; we experience it in ourselves when we act freely."

भीतर चैतन्य और जड़ दोनों के अंश पाए जाते हैं। इसीलिए कुछ दार्शनिक प्राण-तत्व को इस प्रकार भी परिभाषित करते हैं : चैतन्य जब जड़-तत्व को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयोग करता है तब उसे जीवन या प्राण कहते हैं।

एक ही तत्व के दो रूप होने के कारण चैतन्य और जड़ दोनों एक दूसरे के पूरक हैं : एक के बिना दूसरा अपूर्ण हैं। दोनों एक-दूसरे के बिना विकास नहीं कर सकते। चैतन्य की अभिव्यक्ति जड़-तत्व के माध्यम से ही हो सकती है तथा जड़ तत्व का विकास चैतन्य के माध्यम से ही हो सकता है। चैतन्य जड़-तत्व को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयोग करके नवीन वस्तुओं का निर्माण करता है जिसे विकास कहा जाता है।

काल और परिवर्तन

(Time and Change)

दर्शन-शास्त्र में काल की समस्या अत्यन्त प्राचीन है। कुछ दार्शनिक काल को सत् मानते हैं और कुछ इसे आभास मात्र मानते हैं। काण्ट के अनुसार काल प्रत्यक्ष का एक मानसिक द्वार है जिसके माध्यम से हम संवेदनाओं को ग्रहण करते हैं। पर इन सभी दार्शनिकों के अनुसार **काल** ऐसे सजातीय क्षणों का आनन्तर्य है जो स्वभाव या गुण में एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। काल की इस कल्पना के अनुसार **परिवर्तन** (Change) का अर्थ है : किसी वस्तु की एक अवस्था का दूसरी अवस्था में आनन्तर्य और प्रति-स्थापन तथा **गति** (Motion) का अर्थ है : किसी परमाणु का काल के विभिन्न क्षणों में देश के विभिन्न स्थानों का अभिग्रहण। काल की इस गणितीय कल्पना के कारण हम दर्शन-शास्त्र में विभिन्न विरोधाभासों में उलझ जाते हैं जिनका समुचित समाधान ढूंढ़ना हमारे लिए आसान नहीं होता। बर्गसाँ इस गणितीय काल की कठिनाइयों से पूर्ण परिचित थे। इसी कारण गणितीय काल को वे वास्तविक काल नहीं मानते थे। पर गणितीय काल आभास नहीं है; वह वास्तविक काल का केवल अप्रामाणिक रूप ही है। इस वास्तविक काल को बर्गसाँ **अवधि** (Duration) नाम देते हैं जिसके स्वभाव के विषय में यहाँ विस्तार पूर्वक विचार किया जायेगा।

बर्गसाँ के अनुसार हमारे मानसिक जीवन के दो पक्ष हैं। प्रथम पृष्ठीय या आभासी पक्ष और द्वितीय गहन पक्ष। पृष्ठीय पक्ष के भीतर संवेदनाएँ, विचार, भावनाएँ और संवेग आते हैं जो परस्पर विविक्त, पृथक् और भिन्न अवस्थाओं में पाए जाते हैं। जहाँ तक आनन्तर्य (Succession) का प्रश्न है वह इसी पृष्ठीय पक्ष की विशेषता है। किन्तु इस पृष्ठीय पक्ष के अतिरिक्त हमारे मानसिक जीवन का एक गहन पक्ष भी है जिसमें हमारी विभिन्न अनुभूतियाँ इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध और अन्तर्वेधित होती हैं कि उनके बीच किसी प्रकार के आनन्तर्य की कल्पना नहीं की जा सकती।[1] इस गहन पक्ष की अनुभूति हमें **प्रचण्ड प्रेम** (Violent Love) या **गम्भीर विषाद** (Deep Melancholy) की अवस्था में प्राप्त होती है जिसमें हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व उद्वेलित हो जाता है। यह अनुभूति जितनी अधिक तीव्र होगी, उसके विभिन्न अवयवों को एक दूसरे

1. बर्गसाँ, टाइम एण्ड फ्री विल, पृ० 129.

से पृथक् करना उतना ही अधिक कठिन होगा। यह विभिन्न तत्वों का एक ऐसा **अभेदित साकल्य** होता है जिसकी तीव्रता अन्तर्बेधित अवयवों की संकलित शक्ति द्वारा सुरक्षित रहती है। इसी तीव्र और प्रचण्ड अनुभूति के माध्यम से बर्गसाँ काल, परिवर्तन, गति, विकास और अवधि की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

बर्गसाँ के अनुसार **वास्तविक काल** (Real Time) चेतन अनुभूतियों का वह अविच्छिन्न प्रवाह है जिसमें भूत, वर्तमान एवं भविष्य दोनों में अवस्थित और अन्तर्व्याप्त रहता है। वर्तमान में जो मैं अनुभव कर रहा हूँ वह हमारे पूर्व अनुभवों का साक्षात् परिणाम है। किसी भी क्षण हमारी चेतना भूतकाल की अनुभूतियों एवं भविष्य की प्रत्याशा से गर्भित होती है। यही कारण है कि हमारी चेतना के लिए काल का भूत, भविष्य, वर्तमान अथवा घण्टा, मिनट, सेकण्ड में विभाजन नहीं किया जा सकता। वास्तविक काल एक अविच्छिन्न प्रवाह है जिसमें भूत, वर्तमान एवं भविष्य दोनों में अन्तर्व्याप्त रहता है और साथ-साथ परिवर्द्धित भी होता है। **इसीलिए वास्तविक काल में किसी भी क्षण की पुनरावृत्ति नहीं होती**। इसके निरन्तर व अविच्छिन्न प्रवाह में कोई भी दो क्षण समान नहीं हो सकते। प्रत्येक क्षण एक विशिष्ट क्षण होता है। जब प्रत्येक क्षण का अपना भिन्न भूत है तो उनके समान होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि **वास्तविक काल में आनन्तर्य न होकर अन्तर्व्याप्ति** (Interpenetration) **होती है**। दूसरे शब्दों में : **वास्तविक काल संचयन, वृद्धि एवं अवधि है**। बर्गसाँ के शब्दों में **"अवधि भूत की एक अविच्छिन्न प्रगति है जो भविष्य में अन्तर्व्याप्त होती है और प्रत्येक बढ़ते चरण के साथ अभिवृद्धि को प्राप्त होती है।"**[1] एक अन्य स्थल पर बर्गसाँ ने कहा है कि "अवधि" का एक चरण भूतकाल में तथा दूसरा चरण भविष्य काल में रहता है।[2] यद्यपि हम अपने भूतकाल के केवल एक लघु अंश को लेकर ही चिन्तन करते हैं किन्तु जहाँ तक हमारी इच्छाओं, संकल्प और व्यवहार का प्रश्न है, हमारा सम्पूर्ण भूत उसमें समाहित रहता है।

हमारे मानसिक जीवन में स्मृति, अवधि की संवाहिका है जो हमारे भूत को सुरक्षित रखती है। स्मृति अवधि की दासी के रूप में कार्य करती है। इसमें भूतकाल की इतनी अनुभूतियाँ संगृहीत होती हैं कि उनके आधार पर किसी परिस्थिति के प्रति हम कई वैकल्पिक रूप में प्रतिक्रिया कर सकते हैं। ज्यों-ज्यों हमारे जीवन के क्षेत्र में विस्तार होता है और उसकी विरासत एवं स्मृति में वृद्धि होती है, हमारे वैकल्पिक चयन के परास में भी वृद्धि होती है। अन्त में एक ऐसी अवस्था आती है जब हमारी सम्भाव्य प्रतिक्रियाओं की विविधता हमारे भीतर चैतन्य (Consciousness) उत्पन्न

---

1. क्रिएटिव एवॉल्यूशन, पृ० 5, "Duration is the continuous progress of the past which grows into the future and which swells as it advances".

2. मैटर एण्ड मेमोरी, पृ० 176-7, "It has one foot in the past and another in the future."

करती है जो कुछ नहीं बल्कि प्रतिक्रियाओं का पूर्वाभ्यास ही है। हमारे भीतर चयन की शक्ति जितनी अधिक होगी, चैतन्य की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। चैतन्य हमारी क्षमताओं के क्षेत्र को प्रकाशित करता है। हम आज क्या करते हैं और भविष्य में क्या कर सकते हैं, इसके अन्तर को मिटाने वाली शक्ति ही चैतन्य है।

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब संसार में सब कुछ गतिशील है, प्रवहमान है और परिवर्तनशील है तो हमें स्थिरता और अगति का भ्रम किस प्रकार होता है? बर्गसाँ के अनुसार इसके दो कारण हैं, प्रथम व्यावहारिकता एवं द्वितीय भाषा की आवश्यकताएँ। व्यावहारिक जीवन तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि संसार की वस्तुओं को हम स्थिर और स्थायी न मान लें। यदि सभी लोग संसार की वस्तुओं को प्रवहमान और गतिशील मान लें तो व्यवहार असम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार समाज में हम अपने विचारों, भावनाओं और इच्छाओं का भाषा के माध्यम से संचरण तभी कर सकते हैं जबकि शब्दों के अर्थ बिलकुल निश्चित हों। संसार की वस्तुएँ भले ही परिवर्तनशील हों, किन्तु जिन शब्दों के माध्यम से हम वस्तुओं की अभिव्यक्ति करते हैं, उनके अर्थ बिलकुल स्थिर और निश्चित होते हैं। इन्हीं दो कारणों से हमें परिवर्तन-शील जगत में अपरिवर्तन का भ्रम होता है।

उपर्युक्त भ्रम का एक साक्षात् परिणाम यह होता है कि जहाँ संसार की वस्तुओं में आन्तरिक सम्बन्ध होता है, वहाँ हमें उनके बीच बाह्य सम्बन्ध दिखाई देने लगता है। हमारी गहन अनुभूतियों जैसे––प्रेम, प्रत्याशा, भय, सौन्दर्य इत्यादि में जो प्रबलता पाई जाती है, उसकी शक्ति का स्रोत वे विभिन्न तत्व हैं जो अभेदित रूप में उन अनुभूतियों के भीतर पाए जाते हैं। किन्तु व्यावहारिक एवं भाषिक आवश्यकताएँ आन्तरिक सम्बन्धों के स्थान पर बाह्य सम्बन्धों अर्थात् विस्तार (Extension) को जन्म देती हैं। यदि गहन मानसिक अनुभूतियों की प्रबलता हमारे भीतर तनाव (Tension) को उत्पन्न करती हैं, विस्तार हमारे भीतर श्लथन (Relaxation) को उत्पन्न करता है।

सजातीय क्षणों के आनन्तर्य के रूप में जो हमारे भीतर काल की साधारण कल्पना है, वह देश के प्रतिमान के ऊपर आधारित है जिसमें प्रत्येक बिन्दु एक दूसरे से बाह्य होता है। यह बात इससे स्पष्ट हो जाती है कि हम साधारणतया काल को एक सरल रेखा के माध्यम से प्रदर्शित करते हैं, जिसके विभिन्न बिन्दु या क्षण भूत, वर्तमान एवं भविष्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। काल के देशीकरण का एक भयंकर परिणाम यह होता है कि हमारी दृष्टि केवल वर्तमान पर ही केन्द्रित हो जाती है क्योंकि हम समझते हैं कि भूत मर गया है और भविष्य उत्पन्न ही नहीं हुआ है। हम भूल जाते हैं कि वर्तमान भूत और भविष्य दोनों को प्रदर्शित करता है। वास्तविक काल के भूत और अविच्छिन्न प्रवाह को न समझने के कारण ही लोग अमूर्त स्वतन्त्र क्षणों के आनन्तर्य को ही काल समझ बैठते हैं जो ठीक नहीं है।

यहाँ हमारे समक्ष एक दूसरी समस्या उत्पन्न हो जाती है। क्या अमूर्त, देशीकृत, विविक्त और पृथक् क्षणों के माध्यम से परिवर्तन और गति की समस्या का समाधान किया जा सकता है? **जब तक इन विविक्त और पृथक् क्षणों को एक सूत्र में जोड़ने वाली कड़ी नहीं होगी तब तक परिवर्तन और गति की समस्या का समुचित समाधान नहीं किया जा सकता।** केवल विभिन्न सजातीय क्षणों की आवृत्ति और

आनन्तर्य द्वारा परिवर्तन और गति की समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। इन विविक्त और पृथक् क्षणों के बीच ऐसी कोई वस्तु अवश्य होनी चाहिए जो विभिन्न अवस्थाओं में सतत् और प्रत्याहृत रूप में विकसित हो रही हो। इसके अभाव में गति या परिवर्तन सम्भव ही नहीं हो सकेगा।

उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न उपाय सुझाए हैं। कुछ दार्शनिकों ने मानसिक अवस्थाओं में गति और परिवर्तन की व्याख्या के लिए एक **नित्य आत्मा** की कल्पना की तथा भौतिक अवस्थाओं में गति और परिवर्तन की व्याख्या के लिए **नित्य जड़-तत्व** को प्रस्तावित किया। किन्तु बर्गसाँ के अनुसार किसी स्थिर तत्व के संयोग से स्थिर क्षणों में परिवर्तन की व्याख्या नहीं की जा सकती। उन्हीं के शब्दों में "**घनों के ऊपर घन को ग्रथित करने से उस कालावधि का निर्माण नहीं किया जा सकता जो प्रवहमान है।**"[1] उनके कहने का तात्पर्य यह है कि गति या परिवर्तन की समुचित व्याख्या वही तत्व कर सकता है जो नित्य होने के साथ सतत् परिवर्तनशील भी हो। वह तत्व प्राण-तत्व ही हो सकता है।

वास्तविक काल का मापन नहीं किया जा सकता। मापन वहीं सम्भव होता है जहाँ कोई वस्तु सजातीय तत्वों के संयोजन से निर्मित हुई हो। पर वास्तविक काल के विषय में यह बात लागू नहीं होती। वास्तविक काल एक निरन्तर विकासमान और बर्द्धमान वस्तु है जिसका कोई भी दो क्षण समान नहीं होता। सच बात तो यह है कि इसके कोई भी दो क्षण उसके स्वरूप को नष्ट किए बिना, एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। वास्तविक काल के प्रत्येक क्षण एक दूसर में अन्तर्व्याप्ति होते हैं।

सृजनात्मक विकासवाद
(Creative Evolution)

हम पहले ही देख चुके हैं कि बर्गसाँ के अनुसार प्राण-तत्व ही एक मात्र तत्व है जो एक ओर चैतन्य को उत्पन्न करता है और दूसरी ओर जड़-तत्व को। इसे **सृजनात्मक शक्ति** (Creative Force) भी कहते हैं। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस सृजनात्मक शक्ति से हमारा क्या तात्पर्य है? बर्गसाँ के अनुसार सृजनात्मक शक्ति वह शक्ति है जो वर्तमान के ऊपर भूत को संकलित कर नवीन भविष्य का निर्माण करती है। भूतमिश्रित वर्तमान के आधार पर नवीन भविष्य का निर्माण कैसे और किस प्रकार सम्भव होता है, इसे अच्छी प्रकार समझने के लिए सृजनात्मक शक्ति के स्वभाव पर विचार कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ सृजनात्मक शक्ति की व्याख्या यन्त्रवाद (Mechanism) एवं उद्देश्यवाद (Finalism or Teleology) के परिप्रेक्ष्य में किया जायगा।

(i) **यन्त्रवाद और उद्देश्यवाद दोनों त्रुटिपूर्ण हैं**—बर्गसाँ अपने सृजनात्मक विकासवाद को यन्त्रवाद और उद्देश्यवाद दोनों से भेदित करते हैं। यन्त्रवाद का भौतिक विज्ञानों जैसे भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र इत्यादि में एकछत्र राज्य पाया

---

1. क्रिएटिव एवॉल्यूशन, पृ० 4, "Never can solids strung upon a solid make up that duration which flows."

जाता है। इन विज्ञानों की सफलता देखकर कुछ अन्य विज्ञान जैसे जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान ने भी जीवन और मन की व्याख्या के लिए यन्त्रवाद को स्वीकार कर लिया है। यन्त्रवाद के अनुसार संसार में जो भी घटना घटित होती है वह अपनी पूर्ववर्ती उपाधियों द्वारा पूर्ण रूप में निर्धारित की जा सकती है। बर्गसाँ के शब्दों में, "यान्त्रिक व्याख्या का वास्तव में सार तत्व यह है कि भूत और भविष्य वर्तमान के गण्य फलन है और इस प्रकार यहाँ सब कुछ पहले से ही प्रदत्त है। इस प्राक्कल्पना के आधार पर कोई भी अति-मानवीय बुद्धि अव्यवहित रूप में भूत, वर्तमान एवं भविष्य के विषय में गणना कर सकती है।"[1]

यन्त्रवाद में प्रत्येक घटना पूर्वनिर्धारित होती है और उसमें चयन के लिए कोई अवकाश नहीं होता। यदि वर्तमान में ही हम भविष्य के विषय में आकलन नहीं कर पाते तो यह किसी घटना की पूर्ववर्ती उपाधियों के विषय में हमारी अज्ञानता का ही सूचक है। भूत, वर्तमान एवं भविष्य की कल्पना एक अपूर्ण मस्तिष्क की उपज है। किसी सर्वज्ञ मस्तिष्क में इनके लिए कोई स्थान नहीं है। यन्त्रवाद में काल का कोई महत्व नहीं है। उत्कट यन्त्रवाद ऐसे तत्व-विज्ञान की स्थापना करता है जिसमें सभी वस्तुएँ एक साथ प्रदत्त होती हैं और जिसमें कालावधि की कल्पना एक दुर्बल मस्तिष्क की ही उपज समझी जाती है जो संसार की सभी वस्तुओं को एक साथ नहीं देख सकती।[2]

पर सृष्टि की यन्त्रवादी व्याख्या बर्गसाँ के तत्व-विज्ञान के लिए बिलकुल ही उपयुक्त नहीं है। उनके तत्ववाद में सृजनात्मक शक्ति वर्तमान के ऊपर भूत को संकलित कर नवीन भविष्य का निर्माण करती है। अपने प्रत्येक बढ़ते चरण के साथ, हिम-कंदुक (Snow-Ball) की तरह वह अभिवृद्धि को प्राप्त होती है। यहा भूतकाल की भविष्य में पुनरावृत्ति की कोई गुंजाइश नहीं है। विकास का प्रत्येक क्षण भूतकाल से पृथक् और नवीन होता है। इस नवीनता का कारण यह है कि प्रत्येक जैव-व्यवहार स्वतन्त्र, अनियन्त्रित या स्वनियन्त्रित होता है। प्रत्येक अनुवर्ती क्षण पूर्ववर्ती क्षण द्वारा प्रभावित होता है किन्तु वह किस प्रकार प्रभावित होता है अथवा वह अन्य अनुवर्ती क्षण को किस प्रकार प्रभावित करेगा, इसका पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता। यन्त्रवाद में इस प्रकार की स्वतःप्रवर्तिता और नवीनता के लिए कोई अवकाश नहीं है। बर्गसाँ के अनुसार, यन्त्रवाद तत्व के खण्डित या आंशिक रूप की भले ही व्याख्या करता हो, पूर्ण तत्व की व्याख्या करने के लिए यह बिलकुल अनुपयुक्त है। यन्त्रवाद की तरह उद्देश्यवाद (Finalism or Teleology) भी सृष्टि के विकास की व्याख्या करने में असमर्थ है। "उद्देश्यवाद जिसका चरम रूप हमें लाइब्नित्स में प्राप्त होता है, के अनुसार सभी वस्तुएँ और सत्ताएँ एक ऐसे उद्देश्य को प्राप्त करने में सचेष्ट हैं जो पूर्वनिर्धारित हैं। किन्तु यदि विश्व में कोई अनिर्धार्य, आविष्कार, या नवीन सृष्टि नहीं है, काल पुनः निरर्थक

---

1. क्रिएटिव एवॉल्यूशन पृ० 39-40, "The essence of mechanical explanation, in fact, is to regard the future and the past as the calculable functions of the present and thus to claim that all is given. On this hypothesis, past present and future would be open at a glance to a superhuman intellect capable of making the calculation."

2. वही, पृ० 41.

है। यन्त्रवादी प्राक्कल्पना की तरह यहाँ भी समझा जाता है कि सब कुछ पूर्व-प्रदत्त है। इस प्रकार उद्देश्यवाद एक प्रकार का प्रतिलोमित यन्त्रवाद है। दोनों एक ही प्रकार की पूर्व-धारणा पर आधारित हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि हमारी सीमित बुद्धि की आनुक्रमिक वस्तुओं के ऊपर गति में जहाँ उद्देश्यवाद में प्रकाश सामने से हमारा पथ-प्रदर्शन करता है, वहाँ यन्त्रवाद में वह पृष्ठ भाग से पथ-प्रदर्शन करता है। एक में यदि भविष्य का आकर्षण है तो दूसरे में भूत का प्रवर्तन।"[1] यहाँ भी एक सर्वज्ञ मस्तिष्क के लिए सब कुछ पहले से ही निर्धारित है। इसमें भी न कोई स्वतःप्रवर्तिता है। और न कोई नवीनता। अतः बर्गसाँ के सृजनात्मक विकास के लिए उद्देश्यवाद की भी कोई प्रासंगिकता नहीं हो सकती। उद्देश्यवाद में विश्वास करने वाले दार्शनिक यह सोचते हैं कि संसार में जो व्यवस्था, क्रम, सामंजस्य या सौन्दर्य पाया जाता है, उसकी व्याख्या किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान आत्मा के बिना नहीं की जा सकती। किन्तु बर्गसाँ के अनुसार संसार में हमें कहीं ऐसा पूर्ण समन्वय और सामंजस्य नहीं दिखाई देता जैसा उद्देश्यवादी आग्रह करते हैं।[2] हाँ! हम यह अवश्य देखते हैं कि संसार की वस्तुओं में सामंजस्य प्राप्त करने का एक **आवेग** (Impulse) होता है जिसके द्वारा वे वाह्य परिस्थितियों के साथ अनुकूलन और समायोजन करके पूर्ण सामंजस्य प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं। सच पूछा जाय तो संसार में समन्वय और सामंजस्य की अपेक्षा विरोध और संघर्ष अधिक पाया जाता है। समन्वय तथ्य रूप में तो नहीं वरन् सिद्धान्त रूप में अवश्य पाया जाता है। संसार की सभी वस्तुओं में पूर्णता प्राप्त करने का एक सामान्य आवेग पाया जाता है। विकास-क्रम में हम जितना ही उच्चतर स्तर पर पहुँचते हैं, वस्तुओं के भीतर विरोध की अपेक्षा परस्पर-पूरकता अधिक पाई जाती है। अतः संसार का समन्वय किसी सामान्य उद्देश्य के कारण नहीं वरन् सामान्य आवेग के कारण है।[3]

(ii) **प्राण-तत्व ही सृष्टि का स्रोत है**--भौतिकवाद यन्त्रवाद में विश्वास करता है तथा विज्ञानवाद उद्देश्यवाद में विश्वास करता है। बर्गसाँ के अनुसार सृष्टि की वास्तविक व्याख्या न तो यन्त्रवाद या भौतिकवाद द्वारा हो सकती है और न उद्देश्यवाद या विज्ञानवाद द्वारा ही। दोनों ही हमें एक प्रकार के **नियन्त्रणवाद** की ओर अग्रसर कराते हैं जिसमें नवीनता, स्वतन्त्रता और सृजनात्मकता के लिए कोई अवकाश नहीं होता। इन गुणों की निष्पत्ति प्राण-तत्व द्वारा ही हो सकती है जो स्वतन्त्र रूप में अपने को विभिन्न दिशाओं में अभिव्यक्त कर सन्तुलन और समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है।

---

1. वही, पृष्ठ 41-,42, "The doctrine of teleology, in its extreme form ··· implies that things and beings merely realize a programme previously arranged. But if there is nothing unforeseen, no invention or creation in the universe, time is again useless. As in the mechanistic hypothesis, here again it is supposed that all is given. Finalism thus understood is only inverted mechanism. It springs from the same postulate, with this sole difference that——it holds in front of us the light with which it claims to guide us, in stead of putting it behind. It substitutes the attraction of the future for the impulsion of the past."

2. वही, पृ० 53.

3. वही, पृ० 53-54.

बर्गसाँ के अनुसार यन्त्रवाद और उद्देश्यवाद दोनों मानवतारोपी (Anthropomorphic) प्रत्यय हैं। दोनों के अनुसार, सृष्टि की उत्पत्ति विभिन्न तत्वों के संयोग द्वारा हुई है। जिस प्रकार कोई मनुष्य विभिन्न प्रकार की सामग्री को एकत्रित कर किसी संश्लिष्ट वस्तु का निर्माण करता है, उसी प्रकार यन्त्रवाद और उद्देश्यवाद के अनुसार विभिन्न तत्वों के संयोग से सृष्टि की रचना होती है। मानवीय उत्पादन सदा अनेक से एक की ओर अग्रसर होता है किन्तु **प्रकृति में जीवित प्राणियों का विकास सदा एक से अनेक की ओर अग्रसर होता है।** सृष्टि में अनेक के संयोग से एक वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती वरन् एक वस्तु के विस्फोट (Explosion) से अनेक वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। बर्गसाँ के शब्दों में : "जीवन विभिन्न तत्वों के साहचर्य और संयोजन से अग्रसर नहीं होता वरन् विच्छेदन और विभाजन से अग्रसर होता है।"[1] एक ही कोशाणु विभाजित होकर अनेक कोशिकाओं को उत्पन्न करता है। एक ही बीज प्रस्फुटित होकर अनेक जड़ों, तना, पत्तियों, फूलों और फलों को उत्पन्न करता है। विकास की दिशा सदा सरलता से जटिलता, एकता से अनेकता तथा अभेदित अवस्था से विभेदित अवस्था की ओर होती है। इसी कारण विकास अनेक तत्वों के संयोजन से सम्भव न होकर एक ही प्राण-शक्ति के विभिन्न दिशाओं में विस्फोट और विभाजन से सम्भव होता है।

उपर्युक्त प्राक्कल्पना का एक लाभ यह है कि इसके माध्यम से हम प्रकृति के भीतर पाए जाने वाले समन्वय और सामञ्जस्य की व्याख्या, यन्त्रवाद और उद्देश्यवाद की अपेक्षा अधिक तार्किक ढंग से कर सकते हैं। सृष्टि के भीतर समन्वय इसलिए नहीं है कि उसके भीतर सभी वस्तुएँ किसी समान लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट हैं बल्कि उसमें समन्वय इस कारण है क्योंकि सभी वस्तुएँ एक ही प्राण-शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। जिस प्रकार एक अवयवी के विभिन्न अवयवों में कार्यों की विविधता होते हुए भी परस्पर सामञ्जस्य पाया जाता है उसी प्रकार सृष्टि की विभिन्न वस्तुओं में विषमता होते हुए भी परस्पर-सामञ्जस्य पाया जाता है।

(iii) **सृजनात्मक विकासवाद एवं अन्य जैविक सिद्धान्त**—बर्गसाँ का सृजनात्मक विकासवाद अन्य जैविक सिद्धान्तों जैसे डार्विन या हर्बर्ट स्पेन्सर के विकासवाद की अपेक्षा जीवित प्राणियों की अधिक सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत करता है। सृजनात्मक विकासवाद की श्रेष्ठता प्रगट करने के लिए अन्य विकासवादी सिद्धान्तों का मूल्यांकन करना आवश्यक है। यहाँ हम बर्गसाँ के सृजनात्मक विकासवाद के सन्दर्भ में डार्विन और लैमार्क के विकासवादी सिद्धान्तों का विशेष रूप में मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे।

डार्विन ने अपनी दो पुस्तकों **"उप-जातियों का उद्भव"** (Origin of Species) और **"मनुष्य का आविर्भाव"** (Descent of Man) में जैविक विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके विकासवाद की प्रमुख बातें अग्रलिखित हैं—

1. वही, पृ० 94, "Life does not proceed by the association and addition of elements, but by dissociation and division."

(1) **अत्यधिक सन्तानोत्पत्ति** (Over-Production)—पौधों एवं जन्तुओं में सन्तानोत्पत्ति की प्रचुर शक्ति होती है। सरसों के एक पौधे से सैकड़ों बीज उत्पन्न होते हैं। एक-तारा मछली एक बार एक लाख अण्डे देती है। एक ड्रासोफिला एक माह में बीस लाख से भी अधिक बच्चों को उत्पन्न करता है। इनमें से अधिकांश किसी न किसी कारण नष्ट हो जाते हैं जिससे इनकी जाति की संख्या में सन्तुलन बना रहे।

(2) **जीवन-संघर्ष** (Struggle for Existence)—हम ऊपर देख चुके हैं कि प्राणियों में सन्तानोत्पत्ति की प्रचुर शक्ति के कारण इनकी संख्या में अत्यधिक वृद्धि होती है। इनमें अपने जीवन हेतु उचित स्थान, भोज्य पदार्थ एवं जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आपस में संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है जिसे जीवन-संघर्ष कहते हैं। अब यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस संघर्ष में किसकी जीत होगी और किसकी हार होगी ?

(3) **आकस्मिक परिवर्तन** (Fortuitous Variations)—प्रत्येक जैविक शरीर के कोशाणुओं में बाह्य परिस्थितियों से स्वतन्त्र कुछ आकस्मिक या स्वतः परिवर्तन होते हैं। कुछ परिवर्तन अनुकूल तथा अन्य प्रतिकूल होते हैं। अनुकूल परिवर्तन व्यक्ति को परिस्थिति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में सहायक होते हैं और प्रतिकूल परिवर्तन उसके अस्तित्व के लिए संकट उत्पन्न करते है।

(4) **प्राकृतिक चयन** (Natural Selection)—ऐसे शारीरिक परिवर्तन जो परिस्थिति के अनुकूल हैं, दृढ़ और प्रबल होते हैं तथा अन्य परिवर्तन जो परिस्थिति के अनुकूल नहीं हैं वे दुर्बल होकर नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् प्रकृति केवल ऐसे परिवर्तनों का ही चयन करती है जो बाह्य वातावरण के अनुकूल होते हैं और शेष को नष्ट कर देती है। इसी को **योग्यतम की विजय** (Survival of the Fittest) का सिद्धान्त कहते हैं। प्रकृति स्वयं सुयोग्य प्राणियों का चयन करके उनकी रक्षा करती है तथा अयोग्य को किसी न किसी भाँति नष्ट कर देती है। इसको प्राकृतिक चुनाव कहते हैं।

(5) **अनुकूल परिवर्तनों का वंशानुक्रमण** (Transmission of Variations)—शारीरिक कोशिकाओं में होने वाले आकस्मिक परिवर्तन वंश-परम्परा द्वारा आगे आने वाली पीढ़ी में पहुँच जाते हैं। इससे नवीन जातियों की उत्पत्ति में पर्याप्त सहायता मिलती है।

(6) **नवीन जाति की उत्पत्ति** (Origin of New Species)—लाभदायक परिवर्तन धीरे-धीरे प्राणियों की सन्तानों में प्रेषित होते रहते हैं। प्रत्येक पीढ़ी के वे परिवर्तन संकलित होकर ऐसी नवीन जातियों को उत्पन्न करते हैं जो अपने पूर्वजों से बिलकुल भिन्न होती है।

बर्गसाँ ने डार्विन के विकासवाद की आलोचना करते हुए कहा है कि डार्विन ने जिन आकस्मिक परिवर्तनों के ऊपर इतना बल दिया है, उनके द्वारा विकास की सम्यक् व्याख्या नहीं हो सकती। दो विभिन्न जातियों के आँख के विकास को ही ले लिया जाय। यदि दो भिन्न जातियों में पृथक् और स्वतन्त्र रूप में आकस्मिक परिवर्तन प्राकृतिक चयन और वंशानुक्रमण द्वारा आँख का विकास हुआ है, तो उनके बीच इतन

समानताएँ किस प्रकार पाई जाती हैं ? एक जीव के आँख के विकास को ही ले लिया जाय। आँख की एक संश्लिष्ट रचना होती है जिसमें विभिन्न अवयव सम्मिलित होते हैं। आँख के विभिन्न अवयव क्रमश: आकस्मिक परिवर्तन, प्राकृतिक चयन और वंशानुक्रमण द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हुए होंगे। किन्तु डार्विन के सिद्धान्त के अनुसार ही यह असम्भव है क्योंकि प्रत्येक अवयव स्वत: पृथक् रूप में अनुपयोगी है और इस कारण उसे लुप्त हो जाना चाहिए था।

प्राकृतिक चयन का सिद्धान्त भी विकास की समुचित व्याख्या करने में असमर्थ है। योग्यतम की विजय के लिए प्राकृतिक चयन के स्थान पर बौद्धिक अथवा मानसिक चुनाव होना चाहिए। डार्विन के अनुसार प्रकृति जड़ है। जड़-तत्व जो चेतना शून्य है वह विकल्पों का चयन कैसे कर सकता है ? बर्गसाँ के अनुसार यह प्राण-तत्व द्वारा ही सम्भव है। चयन एक बौद्धिक प्रक्रिया है; इसमें निरीक्षण, निर्णय और अनुमान की आवश्यकता पड़ती है। इस अर्थ में प्रकृति चयन नहीं कर सकती। प्राकृतिक चयन एक यान्त्रिक और बुद्धि रहित प्रक्रिया है जो विकास की सम्यक् व्याख्या नहीं कर सकती।

इसी प्रकार प्रकृतिवाद के आधार पर वंशानुक्रमण के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। वंशानुक्रमण के पूर्व किसी चेतन सत्ता द्वारा आकस्मिक परिवर्तनों का अर्जन और संकलन होना चाहिए। इसके उपरान्त ही अर्जित गुणों के संक्रमण का प्रश्न उठाया जा सकता है। इन सभी कारणों से बर्गसाँ डार्विन के सिद्धान्त को विकास की व्याख्या के लिए अक्षम पाते हैं।

जिस प्रकार बर्गसाँ ने डार्विन के विकासवाद की अपर्याप्तता को प्रदर्शित किया है, उसी प्रकार उसने **लैमार्क** (Lamarck) के विकासवाद की भी आलोचना प्रस्तुत की है। लैमार्क के विकासवाद की कुछ बातें निम्न हैं—

(1) **वातावरण का प्रभाव** (Environmental Effects)—डार्विन के अनुसार कोशिकाओं में आकस्मिक और स्वत: परिवर्तन होता है जिसमें बाह्य वातावरण का कोई प्रभाव नहीं होता, किन्तु लैमार्क के अनुसार शारीरिक कोशिकाओं में आकस्मिक और स्वत: परिवर्तन हो ही नहीं सकते और न इस परिवर्तन से किसी निष्कर्ष पर ही पहुँचा जा सकता है। सम्पूर्ण शारीरिक परिवर्तन बाह्य परिस्थितियो द्वारा उत्पन्न होते हैं।

(2) **शारीरिक आवश्यकताएँ** (Bodily Needs)—बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव के परिणामस्वरूप जीव के शरीर में तदनुकूल इच्छाएँ एवं प्रेरणाएँ उत्पन्न होती हैं जो अभिव्यक्ति की खोज करती हैं। इन आन्तरिक इच्छाओं एवं आवश्यकताओं के तनाव के कारण क्रमश: अंगों (Organs) का निर्माण होता है। जहाँ डार्विन के अनुसार प्रथम अंग उत्पन्न होते हैं और बाद में प्रक्रिया होती है, वहाँ लैमार्क के अनुसार प्रथम प्रक्रिया उत्पन्न होती हैं और बाद में अंग उत्पन्न होते हैं। यही दोनों के सिद्धान्तों में अन्तर है।

(3) **अंगों का उपयोग और अनुपयोग** (Use and Disuse of Organs)—बाह्य वातावरण के प्रभाव से जीव जिस अंग का निरन्तर उपयोग करता है वह अंग

1. वही, पृ० 68.

बलिष्ठ एवं विकसित होता जाता है। परन्तु जिस अंग का निरन्तर उपयोग नहीं किया जाता, उसका धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है और अन्त में कार्य-विहीन होकर वह समाप्त हो जाता है।

(4) **उपार्जित लक्षणों की वंशागति** (Inheritance of acquired characters)—उपयोग और अनुपयोग के परिणामस्वरूप प्राप्त हुए परिवर्तित लक्षणों को उपार्जित लक्षण कहते हैं। वे लक्षण पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवों की सन्तानों में पहुँचते रहते हैं और अनेक पीढ़ियों के बाद उनकी सन्तानों में विकसित हो जाते हैं, जिससे वे अपने पूर्वजों से भिन्न दिखाई देते थे। इस प्रकार नई जातियों की उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिए, बाह्य वातावरण में कुछ स्थानों में हरी-हरी और कोमल पत्तियाँ वृक्षों की ऊँची शाखाओं में पाई जाती थीं। इस विकट परिस्थिति के प्रभाव से कुछ प्राणियों के समक्ष यह समस्या उत्पन्न हुई कि उक्त ऊँची पत्तियों तक किस प्रकार पहुँचा जाय। इस कठिनाई का सामना करने के लिए उन जीवों की आन्तरिक शक्तियाँ जोर लगाने लगीं। ऐसी इच्छा और आवश्यकता के कारण उनकी गर्दन में परिवर्तन होने लगा जिसके कारण वह काफी लम्बी होने लगी। पुनः, गर्दन के बार-बार उपयोग करने के कारण यह परिवर्तन दृढ़ हो गया और धीरे-धीरे कई पीढ़ियों तक इस गुण का संचय होता गया। अन्त में, लम्बी गर्दन वाले नए प्रकार के जीव: ऊँट और जिराफ पृथ्वी पर दिखाई देने लगे।

बर्गसाँ के अनुसार, लैमार्क का सिद्धान्त विकास की समस्या का सर्वाधिक सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत करता है। विभिन्न जीवों में जो समान विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं वे समान वातावरण के प्रभाव के कारण होती हैं। यदि समस्या के समाधान की दिशा केवल एक है, तो ऐसी स्थिति में समान विशेषताओं के उत्पन्न होने में पर्याप्त सहायता मिलती है।[1]

किन्तु इतना होते हुए भी बर्गसाँ लैमार्क के विकासवाद से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हैं। लैमार्क का सिद्धान्त किसी वस्तु के आकार या परिमाण के परिवर्तन की व्याख्या तो कर सकता है पर उसके स्वरूप के परिवर्तन की व्याख्या करने में असमर्थ है। बर्गसाँ के शब्दों में "इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि अभ्यास द्वारा कोई अंग शक्तिशाली और विकसित बनाया जा सकता है। किन्तु यह किसी मोलस्क (चूर्णप्रावार) और मेरुदण्डी (Vertebrates) की आँख के प्रगतिशील विकास से कोसों दूर है।"[2] बाह्य परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न शारीरिक परिवर्तन केवल पृष्ठीय परिवर्तन होते हैं जो नवीन उपजातियों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकते। बाह्य परिस्थिति किसी जीव के विकास की प्रक्रिया में केवल उद्दीपन का कार्य करती है।। वास्तविक सृजन का कार्य एक ऐसी आन्तरिक शक्ति द्वारा सम्पन्न होता है जिसे प्राण-शक्ति कहते हैं। इस बात को लैमार्क और उसके अनुयायी भी स्वीकार करते हैं क्योंकि उनके अनुसार भी बाह्य उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया करने के लिए आन्तरिक शक्तियाँ, आवश्यकताएँ और इच्छाएँ वेग से आगे बढ़ती हैं। अतः, लैमार्क को भी स्वीकार कर लेना चाहिए था कि प्राण-शक्ति ही विकास की जननी है।

---

1. वही, पृ० 81.
2. वही, पृ० 82.

इसी प्रकार बर्गसाँ ने **वाइज़मैन** (Weismann) के विकासवाद की भी आलोचना प्रस्तुत की है। वाइजमैन के विकासवाद की प्रमुख बातें निम्न हैं––

(1) **शारीरिक कोशिकाओं द्वारा अर्जित परिवर्तन वंशानुक्रमण द्वारा वितरित नहीं होते**––वाइज़मैन के अनुसार हमारे शरीर में दो प्रकार की कोशिकाएँ पाई जाती हैं : प्रथम शारीरिक कोशिकाएँ (Somatic Cells) एवं द्वितीय जनन-कोशिकाएँ (Germ Cells)। बाह्य वातावरण का जो प्रभाव शारीरिक कोशिकाओं पर पड़ता है वह वंशानुक्रमण द्वारा अगली पीढ़ी में वितरित नहीं होता। इस प्रकार वाइज़मैन लैमार्क के इस मत का खण्डन करता है कि उपार्जित परिवर्तन वंशानुक्रमण द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी वितरित होते हैं।

(2) **जनन-कोशिकाओं के आकस्मिक परिवर्तन ही वंशानुक्रमण द्वारा वितरित किए जा सकते हैं**––वाइजमैन के अनुसार बाह्य वातावरण का जनन-कोशिकाओं (Germ-Cells) पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। जनन-कोशिकाओं में जो परिवर्तन होते हैं वे स्वतः और आकस्मिक होते हैं और इन्हीं परिवर्तनों का वंशानुक्रमण द्वारा वितरण होता है और नयी उप जातियों की उत्पत्ति होती है।

(3) **जनन-कोशिकाएँ अमर होती हैं**––वाइज़मैन जनन-कोशिकाओं को अक्षुण्ण और अमर मानता है। एक पीढ़ी के व्यक्ति की जनन-कोशिकाएँ आगे आने वाली पीढ़ी के व्यक्तियों के शरीर को ही उत्पन्न नहीं करतीं वरन् उनकी जनन-कोशिकाओं को भी उत्पन्न करती हैं। शरीर जनन-कोशिकाओं को उत्पन्न नहीं करता वरन् पूर्वजों से प्राप्त जनन-कोशिकाओं की केवल रक्षा करता है। इस प्रकार जनन-कोशिकाओं की निरन्तरता और अक्षुण्णता बनी रहती है।

अब बर्गसाँ वाइज़मैन के उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन प्रस्तुत करते हैं। यदि जनन-कोशिकाओं के आकस्मिक या स्वतः परिवर्तन के संकलन से नई उप-जातियों की उत्पत्ति होती है तो इन परिवर्तनों की दिशा समान होनी चाहिए। यदि भिन्न-भिन्न जनन-कोशिकाओं के आकस्मिक परिवर्तनों की दिशाएँ भिन्न हैं तो कोई नवीन अंग विकसित नहीं हो सकते। भिन्न-भिन्न जनन-कोशिकाओं को समान दिशा प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि शारीरिक कोशिकाओं एवं जनन-कोशिकाओं का स्रोत एक ही हो। क्या यह तथ्य इस बात की ओर संकेत नहीं करता कि सभी प्रकार की कोशिकाएँ एक ही प्राण-तत्व से निष्कासित हुई हैं ? यही प्राण-तत्व कोशिकाओं का निर्देशन करके विकास के मार्ग पर अग्रसारित करता है।

इस प्रकार बर्गसाँ विकास के विभिन्न सिद्धान्तों का खण्डन करके अपने सृजनात्मक विकासवाद की स्थापना करते हैं।

विकास की विविध दिशाएँ

इस जगत में प्राण-शक्ति विभिन्न भौतिक माध्यमों के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करना चाहती है। इस चेष्टा के परिणामस्वरूप प्राण-शक्ति तीन रूपों में हमारे समक्ष प्रकट होती है : वनस्पति, इतर पशु एवं मनुष्य। हम पहले ही देख चुके हैं कि चैतन्य विकास के सभी स्तरों पर जड़-तत्व के ऊपर विजय प्राप्त करके स्वतन्त्र होना चाहता है। कहीं वह इस प्रयत्न में सफल होता है और कहीं असफल। वनस्पतियों के

क्षेत्र में चैतन्य जड़-तत्व के विरोध को समाप्त करने में असफल रहता है; वह उससे पराभूत होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वनस्पतियों में चैतन्य का बिलकुल अभाव पाया जाता है; उनमें चैतन्य सुषुप्ति की अवस्था में विद्यमान होता है। बर्गसाँ ने इस अवस्था को जड़ता (Torpor) की अवस्था का नाम दिया है। विकास की दूसरी अवस्था इतर पशुओं की अवस्था है जिसमें चैतन्य केवल आंशिक रूप में ही अपने को शरीर और बाह्य वातावरण के प्रभाव से मुक्त कर पाता है। यह बात उसकी संवेदनाओं एवं व्यवहार से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। पशुओं का व्यवहार बुद्धि एवं विवेक द्वारा संचालित न होकर मात्र मूल प्रवृत्तियों (Instincts) द्वारा ही संचालित होता है। यहाँ चैतन्य का केवल आंशिक प्रकाशन ही संभव हो पाता है। बर्गसाँ ने इसे **मूल प्रवृत्ति** (Instinct) की अवस्था का नाम दिया है। विकास की अन्तिम अवस्था मनुष्यों की अवस्था है जिसमें चैतन्य जड़-तत्व को पराभूत करके **बुद्धि** और **विवेक** से अपने कार्यों को संचालित करता है। इस प्रकार जड़ता, मूल प्रवृत्ति और बुद्धि वे तीन प्रवृत्तियाँ हैं जिनके माध्यम से हम विकास की तीन अवस्थाओं को निर्धारित कर सकते हैं।

पर उपर्युक्त विवेचन से हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि विकास की केवल तीन ही दिशाएँ हो सकती हैं। वास्तव में विकास की अनन्त दिशाएँ हो हो सकती हैं। जीवन का विकास एक ठोस तोप के गोले की तरह सरल रेखीय नहीं होता वरन **"एक बम के गोले के विस्फोट की तरह होता है जो फूटकर कई खण्डों में विभाजित हो जाता है जो खण्ड पुनः फूटकर कई उपखण्डों में विभाजित हो जाते हैं और इस प्रकार यह प्रक्रिया अनन्त तक चलती रहती है।"**[1] यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि विकास की अनन्त दिशाएँ हैं : कुछ दिशाओं में विकास की प्रक्रिया सफल होती है और अन्य दिशाओं में असफल। उदाहरण के लिए वनस्पति-पशु-मनुष्य के रूप में जो विकास हुआ है वह अत्यंत सफल रहा है, किन्तु अन्य दिशाओं में प्राण-तत्व के विकास को उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई है। कुछ अवस्थाओं में विकास की प्रगति अवरुद्ध हो गई है, कुछ अवस्थाओं में उसकी दिशा का अपवर्तन कर दिया गया है, कुछ स्थितियों में इसका प्रतिक्रमण हुआ है तथा अन्य कुछ दशाओं में तो इसका विनाश ही कर दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि बर्गसाँ के दर्शन में विकास का अर्थ केवल प्रगति (Progress) ही नहीं है; इसके भीतर अधोगति, अवनति अथवा प्रतिक्रमण (Retrogression) का भी समावेश होता है।

विकास के सम्बन्ध में जो दूसरी बात ध्यान देने की है वह यह है कि जब यह कहा जाता है कि प्राण-तत्व वनस्पति-पशु-मनुष्य के रूप में विकसित होकर निम्नतर श्रेणी से उच्चतर श्रेणी की ओर अग्रसर होता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि विकास सरल-रेखीय या स्तम्भवत है; वास्तव में बर्गसाँ के लिए विकास एक वृक्ष की वृद्धि के के समान है जिसमें तना जो बीज से उत्पन्न होता है विभिन्न शाखाओं और उपशाखाओं में वितरित होकर अन्त में टहनियों और पत्तियों में परिणत हो जाता है।

---

1. क्रिएटिव एवॉल्यूशन, पृ० 103, Life proceeds like a "shell which suddenly bursts into fragments which fragments, being themselves shells, burst in their turn into fragments, destined to burst again and so on."

वनस्पतियाँ, पशु एवं मनुष्य इस जीवन रूपी वृक्ष में एक ही शाखा के उच्चतर और निम्नतर भाग नहीं है, वरन् उस एक जीवन-वृक्ष की विभिन्न शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके बीच मात्रा का भेद न होकर प्रकार-भेद पाया जाता है।

विकास के सम्बन्ध में जो तीसरी बात ध्यान देने की है, वह यह है कि चूँकि जड़ता, मूल प्रवृति एवं बुद्धि इन तीनों का स्रोत एक ही है अर्थात् प्राण-तत्व, अतः विभिन्नताओं के होते हुए भी इनके बीच स्पष्ट भेद करना सम्भव नहीं होता। फिर भी उनके भीतर पाई जाने वाली प्रधान प्रवृत्तियों के द्वारा उनके बीच भेद स्थापित किया जा सकता है। वनस्पतियाँ जो जड़ता का प्रतिनिधित्व करती हैं, अपने बाह्य वातावरण में वायु, जल, कार्बन, नाइट्रोजन इत्यादि खनिज पदार्थों को एक ही स्थान पर स्थिर रहकर ग्रहण कर सकती हैं, अतः, उन्हें न गति की आवश्यकता है और न चैतन्य क । पशु जो मूल-प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं; सीधे खनिज पदार्थों को ग्रहण नहीं कर सकते। उन्हें खनिज पदार्थों को ढूँढ़ने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना पड़ता है जिसके निर्देशन के लिए चैतन्य की आवश्यकता होती। इस चैतन्य को क्रिया-रूप देने के लिए पशुओं को ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-तंत्र को विकसित करना पड़ता है जिससे कि वे आसानी से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

जड़ता और मूलप्रवृत्ति के बीच उतनी समानताएँ नहीं पाई जातीं जितनी मूलप्रवृत्ति और बुद्धि के बीच पाई जाती हैं। इसी कारण दोनों को एक दूसरे से पृथक् करना आसान नहीं होता। एक ही पशु के भीतर दोनों को साथ-साथ देखा जा सकता है। हाथी पशु होने के कारण लगभग सभी कार्य मूलप्रवृत्तियों द्वारा संपादित करता है किन्तु उसके कुछ कार्य बुद्धिमत्तापूर्ण भी होते हैं: चिड़ियाँ आत्म-सुरक्षा की मूल-प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने घोंसले का निर्माण करती है पर उनके स्थान, समय और योजना के चयन में बुद्धि के प्रयोग की झलक दिखाई पड़ती है। मनुष्यों के अधिकांश कार्य बुद्धि द्वारा संचालित होते हैं किन्तु उनकी बहुत सी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मूल-प्रवृत्तियाँ द्वारा प्रेरित होती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीव के कार्यों में मूलप्रवृत्तियों एवं बुद्धि के बीच परस्पर-पूरकता पाई जाती है। पर इतना होते हुए भी मूलप्रवृत्तियों एवं बुद्धि के बीच कुछ मौलिक भेद पाए जाते हैं। दो प्रकार के जानवरों सन्धिपाद (Arthropods) एवं मेरुदण्डी (Vertebrates) के बीच का भेद मूल प्रवृत्तियों एवं बुद्धि के आधार पर ही स्थापित किया जाता है। सन्धिपाद में मूल-प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है तो मेरुदण्डी में बुद्धि का आनयन होता है। दूसरा भेद यह है कि मूल प्रवृत्तियों में चयन और चैतन्य की मात्रा बहुत ही कम होती है पर बुद्धि में इनकी मात्रा पर्याप्त होती है। उनके बीच तीसरा भेद यह है कि जहाँ मूलप्रवृत्तियाँ सजीव उपकरणों का प्रयोग करती हैं, वहाँ बुद्धि निर्जीव पदार्थों से निर्मित कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग करती है। उदाहरण के लिए मक्खियाँ और चींटियाँ बाह्य परि-स्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए अपने शरीर के सजीव अंगों का उपयोग करती हैं, किन्तु मनुष्य अपनी बाह्य परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए बाह्य एवं निर्जीव उपकरणों का प्रयोग करता है। मनुष्य मुख्यतया एक निर्माता है। वह निर्जीव पदार्थों से सार्थक वस्तुओं का निर्माण करके उन्हें जीवनोपयोगी बनाने की क्षमता रखता है। इसी कारण बर्गसाँ के अनुसार उसे सम्प्रज्ञ (Homo

sapiens) कहने की अपेक्षा **संकर्त्ता** (Homo Faber) कहना अधिक उपयुक्त होगा। मूलप्रवृत्ति और बुद्धि के बीच चौथा भेद यह है कि मूलप्रवृत्ति केवल द्रव्य (Matter) को जानती है और उसी रूप में उसका प्रयोग करती है, पर बुद्धि केवल स्वरूप (Form) को जानती है और उसी रूप में उसका उपयोग भी करती है है। बर्गसाँ के शब्दों में : "यदि मूलप्रवृत्ति किसी जैविक प्राकृतिक उपकरण के प्रयोग की शक्ति है, इसके भीतर उस उपकरण और उस उपकरण के विषय जिस पर उसका प्रयोग किया जाता है, का आजानिक ज्ञान सम्मिलित होना चाहिए। अत:मूलप्रवृत्ति किसी वस्तुका आजानिक ज्ञान है।"[1] इसके विपरीत बुद्धि की आवश्यकता वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ मूलप्रवृत्ति बाह्य परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ हो जाती है। इसका कार्य उन विधियों और पद्धतियों का अनुसंधान करना है जिनके माध्यम से जीव किसी विशिष्ट और कठिन परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सफल हो जाता है। **बुद्धि किसी परिस्थिति और उसके समाधान के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की शक्ति है।** वह उस सम्बन्ध को एक औपचारिक रूप में जानने की चेष्टा करती है। इसके सोचने की विधि बहुत कुछ इस प्रकार है,"यदि अमुक प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होगी, उसके समाधान के लिए अमुक प्रकार की विधि का प्रयोग करना होगा।" अत:, **बुद्धि, जहाँ तक वह आजानिक है, स्वरूप का ज्ञान है; मूलप्रवृत्ति केवल द्रव्य के ज्ञान को ही आपादित करती है।**[2]

अन्त में बर्गसाँ मूलप्रवृत्ति और बुद्धि के कुछ गुण-दोषों पर भी विचार करते हैं। हमारे जीवन में दोनों के पृथक्-पृथक् कार्य हैं। यदि जीवन में सभी कार्य बुद्धि के भरोसे छोड़ दिया जाय तो हानि की सम्भावना बढ़ जाती है। कभी-कभी हमारे समक्ष कुछ ऐसी विकट और भयंकर परिस्थितियाँ आ जाती हैं जिनमें तात्कालिक एवं त्वरित प्रतिक्रिया की आवश्यकता होती है। बुद्धि इस त्वरित कार्य को सम्पादित नहीं कर सकती। उसे निर्णय लेने में थोड़ा समय लगता है। इस बीच जीवन का अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है। इस असाधारण परिस्थिति का सामना करने के लिए ही प्रकृति ने मूलप्रवृत्ति की व्यवस्था की है। यही उसका गुण है। पर इसका सबसे बड़ा दोष यह हैं कि इसके व्यवहार में लचीलापन नहीं है; यह बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार कार्य करने में असमर्थ है। इसके विपरीत बुद्धि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने कृत्रिम उपकरणों की सहायता से परिवर्तनशील परिस्थितियों के प्रति भी क्रिया करने में समर्थ है। इसका दोष यह है कि यह किसी परिस्थिति के प्रति तात्कालिक एवं त्वरित प्रतिक्रिया नहीं कर सकती। बुद्धि, सर्वप्रथम कई विकल्पों का विचार करती है और पर्याप्त ऊहापोह के बाद उनमें से एक विकल्प का चयन करती है। इसका दूसरा दोष यह है कि बुद्धि के उपकरण सदा अपूर्ण होते हैं। इस कारण इसके प्रयोग में पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार बर्गसाँ इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं हैं कि मूलप्रवृत्ति और बुद्धि प्राण-तत्व की दो विभिन्न दिशाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। यद्यपि इन दोनों का स्रोत एक ही है पर उनमें इतनी गुणात्मक विभिन्नताएँ पाई जाती हैं कि उन्हें एक ही प्रकार की वस्तु के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

---

1. क्रिएटिव एवॉल्यूशन, पृ० 158.

2. वही, पृ० 1 "Intelligence, in so far as it is innate, is the knowledge of a form, instinct implies the knowledge of matter."

अनुभव, बुद्धि एवं प्रतिभान

(Experience, Intellect and Intuition)

बर्गसाँ ने अपने दर्शन में अनुभव, बुद्धि एवं प्रतिभान तीनों को स्थान दिया है पर तीनों का प्रयोग उसी अर्थ में नहीं किया गया है जैसा पूर्ववर्ती दार्शनिक अपने दर्शन में प्रयोग करते थे। वे अपने दर्शन का प्रारम्भ 'अनुभव' से करते हैं। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सृजनात्मक विकास' में उन्होंने अपने को अनुभववादी कहा है और 'अनुभव' के सुदृढ़ आधार पर अपने दर्शन के प्रासाद को निर्मित करने की घोषणा की है। पर यहाँ ध्यान में रखने की बात है कि बर्गसाँ ने अपने दर्शन में 'अनुभव' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में नहीं किया है जिस अर्थ में ब्रिटिश अनुभववादी दार्शनिक प्रयोग करते थे। उनके अनुसार 'अनुभव' न तो ज्ञान का एक मात्र स्रोत है और न उसका तात्पर्य 'इन्द्रियानुभव' से ही है। उन्होंने अनुभव के तीन विभिन्न स्तरों की चर्चा की है : प्रथम बाह्य दैशिक इन्द्रियानुभव है जो पृथक्-पृथक् विशिष्ट और विविक्त इकाइयों से निर्मित हैं ; द्वितीय आन्तरिक मानसिक अनुभव है जो बाह्य इन्द्रियानुभव की ही भाँति विशिष्ट और विविक्त इकाइयों से निर्मित है पर अन्तर्दर्शन द्वारा ज्ञात होता है तथा तृतीय हमारी अन्तरतम अनुभूतियों का वह अभेदित प्रवाह है जो हमारे सभी बाह्य और आन्तरिक अनुभवों का आधार है। बर्गसाँ इस तृतीय अनुभूति के साथ ही तत्व का तादात्म्य स्थापित करते हैं। शेष दो प्रकार के अनुभव इस अन्तरतम अनुभूति के ही आभास मात्र हैं। इन्द्रियानुभव द्वारा हमें इस तत्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता क्योंकि इसके द्वारा हमें तत्व के केवल अमूर्त, स्थैतिक, सापेक्षिक और दैशिक-कालिक खण्डों का ही ज्ञान प्राप्त होता है। इन्द्रियानुभव हमारे समक्ष सम्भाव्य कार्यों की योजना को ही प्रस्तुत करता है, तत्व का ज्ञान प्राप्त नहीं कराता। यही बात आन्तरिक मानसिक अनुभवों पर भी लागू होती है। हमारी बुद्धि अनुभव के इन विशिष्ट, विविक्त और सापेक्षिक खण्डों को चाहे कितना ही संश्लिष्ट करके प्रस्तुत करने की चेष्टा करे, उनका समुच्चय तत्व का स्थान नहीं ले सकता। तत्व एक अभेदित काल-प्रवाह है, अवधि (Duration) जिसका स्वभाव है। अनुभव के विशिष्ट और विविक्त खण्डों का समुच्चय तत्व के विषय में उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकता जिस प्रकार किसी गतिशील वस्तु की विभिन्न स्थितियों का चित्र-समूह हमें गति का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकता।

तत्व के विखण्डन की इस प्रक्रिया को जिसका प्रारम्भ इन्द्रियानुभव से हुआ था, हमारी बुद्धि और आगे बढ़ाती है। इसकी प्रेरणा व्यावहारिकता से प्राप्त होती है। हमारे व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण ही गतिशील और प्रवहमान जगत के स्थान पर देश में जड़ता का स्थैतिक जगत दिखाई पड़ता है। बर्गसाँ के अनुसार **मन की बौद्धिकता और वस्तुओं की भौतिकता एक ही प्राण-तत्व की प्रतिलोम गतियों के दो सह-सम्बन्धित पहलू हैं।** "चैतन्य का जितना ही अधिक बौद्धिकीकरण किया गया होगा, जड़-तत्व का उतना ही अधिक दैशिकीकरण होगा।"[1] उनके कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि जो गतिशील और प्रवहमान तत्व को विघटित करके विविक्त और स्थिर खण्डों के माध्यम से उसे जानने का प्रयत्न करती है, अन्ततः तत्व को जानने में असफल ही रहेगी।

---

1. क्रिएटिव एवॉल्यूशन, पृ० 199. "The more consciousness is intellectualized, the more is matter spatialized."

विलियन जेम्स की तरह बर्गसाँ ने भी बुद्धि की जैविक व्याख्या प्रस्तुत की है। बुद्धि जो प्राण-शक्ति की ही उपज है हमारे जीवन-क्रम में एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही विकसित हुई है। वह निश्चित उद्देश्य है : व्यवहार में सहायक होना या जीवन में हमारी निपुणता में वृद्धि करना। बात यह है कि किसी गतिशील वस्तु के साथ व्यवहार करना कठिन होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए हमारी बुद्धि गतिशील प्रवाह से कुछ सुविधाजनक और अपरिवर्तनशील अनुभागों को पृथक कर उनके प्रति प्रतिक्रिया करने की कोशिश करती है। हम बुद्धि के प्रभाव से काल-प्रवाह में से कुछ प्रातिनिधिक अंश (Cross-Section) को अपने व्यावहारिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए पृथक कर लेते हैं और पुनः इन कृत्रिम अंशों को संयुक्त कर एक स्थिर जड़ जगत की रचना कर डालते है जो यान्त्रिक नियमों के अनुसार व्यवहार करता है। जिस प्रकार सिनेमा में क्षणिक स्थिर चित्रों को तीव्र अनुक्रम में परदे पर प्रक्षेपित करने से मस्तिष्क में गति का भ्रम उत्पन्न होता है, उसी प्रकार बुद्धि द्वारा पृथक किए गए प्रातिनिधिक अंशों को मस्तिष्क में तीव्र अनुक्रम में उत्पन्न होने पर हमें सृष्टि में परिवर्तन का बोध होता है। किन्तु गति की यह प्रतीति वास्तविक नहीं है। वास्तविक गति एक धारा है, प्रवाह है जिसे सुविधाजनक प्रातिनिधिक अंशों में विभाजित नहीं किया जा सकता और न उन्हें पुनः संयुक्त ही किया जा सकता है। व्यावहारिक गति एक आभास ही है। यह एक प्रकार का उपयोगी भ्रम है जिसे बुद्धि उत्पन्न करती है। वास्तविक जगत परिवर्तन का एक नियत अविच्छिन्न प्रवाह है जिसे बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती। वह केवल निर्विकल्प अनुभूति या प्रतिभान (Intuition) द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है जो निरन्तर प्रवाहित होने वाली जीवनी-शक्ति की अपरोक्ष अनुभूति है। इस प्रकार भौतिक शास्त्र का जो जड़-जगत है वह तत्व का एक विकृत रूप ही है। वास्तविक तत्व निरन्तर प्रवहमान, गतिशील प्राण-शक्ति है जो अपनी सृजनात्मक शक्ति द्वारा निरन्तर नवीन स्वरूपों को उत्पन्न करने में प्रयत्नशील है। वह केवल एक गति है, प्रक्रिया है, अथवा एक प्रवाह है।

अब हमारे समक्ष स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि हम तत्व को न तो अनुभव के माध्यम से जान सकते हैं और न बुद्धि द्वारा ही, तो फिर तत्व को हम किस प्रकार जान सकते हैं ? बर्गसाँ के अनुसार तत्व को जानने का एक मात्र स्रोत **निर्विकल्प अनुभूति या प्रतिभान** (Intuition) है। इस प्रतिभान का सम्बन्ध तत्व के मौलिक स्वरूप से है। हम पहले ही देख चुके हैं कि बर्गसाँ के लिए तत्व मौलिक अनुभूतियों का एक निरन्तर अविच्छिन्न प्रवाह है। जीवन के प्रति हमारा व्यावहारिक दृष्टिकोण अनुभूति के इस अविच्छिन्न प्रवाह को विखण्डित करके संवेदना, संकल्प, भावना, प्रत्यय इत्यादि विविक्त इकाइयों में विभाजित कर देता है। यदि हम अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति का परित्याग करके एक बार पुनः अन्तर्मुखी हो जायँ तो हम अनुभूतियों के अविच्छिन्न प्रवाह में अवगाहन कर तत्व का साक्षात्कार कर सकते हैं।

दार्शनिक पद्धति एवं वैज्ञानिक पद्धति के बीच भेद करते हुए बर्गसाँ कहते हैं कि विज्ञान का दृष्टिकोण पूर्णतया व्यावहारिक होता है और वह बुद्धि द्वारा ग्रहीत भौतिक जगत तक ही अपने को सीमित रखता है। अतः, बुद्धि वैज्ञानिक अनुसंधान का

एक उपयुक्त उपकरण है। जिस बुद्धि की उत्पत्ति ही हमारी जैविक एवं व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई है, वह हमें परमार्थ का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करा सकती है ? परमार्थ का ज्ञान हमें केवल उसी विधि द्वारा प्राप्त हो सकता है जो तत्व को विखण्डित किए बिना ही समग्र रूप में उसका साक्षात्कार करा सके। वह उपयुक्त विधि प्रतिभान या निर्विकल्प अनुभूति की विधि है जिसका दर्शन शास्त्र अनुशीलन करता है। दर्शनशास्त्र का प्रयत्न यह होना चाहिए कि जिस समष्टि या जीवन—समुद्र में हम निमज्जित हैं, जहाँ से हमें जिजीविषा की शक्ति प्राप्त होती है तथा जहाँ से जड़-तत्व और बुद्धि दोनों की उत्पत्ति होती है उसी में हम पुनः विलीन हो जायँ।[1] यह प्रतिभान द्वारा ही सम्भव है जिसमें बुद्धि अपने मूल स्रोत में आत्मसात् होकर हमें तत्व का ज्ञान प्राप्त कराने में सक्षम हो जाती है। प्रतिभान हमें उस तत्व का ज्ञान प्राप्त कराता है जो एक निरन्तर सतत् अविच्छिन्न प्रवाह है जो वर्तमान के ऊपर भूत काल की अनुभूतियों को संकलित कर नवीन भविष्य का निर्माण करता है।

प्रतिभान के ऊपर आधारित दर्शन हमें परमतत्व की अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी दोनों विधाओं का ज्ञान प्राप्त करा सकता है। वह एक ओर हमें जीवन के निगूढ़ स्रोत में अवगाहन कराने की क्षमता रखता है तो दूसरी ओर बाह्य जड़-जगत के अन्तर्तम रहस्यों का उद्घाटन भी करने की योग्यता रखता है। प्रतिभान के द्वारा हमें यह भी ज्ञात होता है कि विस्तृत जगत की उत्पत्ति प्राण-शक्ति की तान्ति के श्लथन (Relaxation of Tension) के परिणामस्वरूप हुई है; अतः जड़-तत्व और कुछ नहीं, प्राण-शक्ति की प्रतिलोम गति ही है। बर्गसाँ का दर्शन ही नहीं, संसार के सभी महान् दर्शन तत्व के प्रतिभान या निर्विकल्प अनुभूति पर आधारित हैं। पर प्रतिभान का सबसे बड़ा अवगुण यह है कि वह सदा क्षणिक और विविक्त होता है तथा तत्व की नैमित्तिक झलक ही हमें प्रदान करा सकता है। ऐसी स्थिति में प्रतिभान तभी उपयोगी हो सकता है जब कि बुद्धि उसकी सहायता करे। यही कारण है कि प्रतिभान से निःसृत् वाक्यों की भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न व्याख्या प्रस्तुत की है। यदि इस प्रतिभान को हम किसी प्रकार दीर्घ और प्रवर्द्धित करने में सफल हो जाँय तो न केवल कोई दार्शनिक अपने ही विचारों से पूर्णरूप में सहमत हो जायगा वरन् सभी दार्शनिक एक-दूसरे के विचारों से सहमत हो जाँयेंगे। इसीलिए बर्गसाँ ने कहा है: "यदि यह प्रतिभान दीर्घ, सामान्य तथा सबके ऊपर, बाह्य सन्दर्भ-बिन्दुओं में सुनिश्चित हो जाय जिससे कि वह इधर-उधर भटक न सके, तो दर्शन का उद्देश्य पूरा हो जायगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रकृति और आत्मा के बीच सतत् समागम अनिवार्य है।"[2]

यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना अप्रासंगिक न होगा और वह यह है कि प्रतिभान के सम्बन्ध में जो पाश्चात्य दार्शनिकों का विचार है वह भारतीय दार्शनिकों

---

1. वही, पृ० 202.

2. वही, पृ० 252, 'The object of philosophy would be reached if this intuition could be sustained, generalized, and above all, assured of external points of reference in order not to go astray. To that end a continual coming and going is necessary between nature and mind."

के विचार से पर्याप्त भिन्न है। भारतीय ऋषियों ने जो प्रतिभान द्वारा तत्व का साक्षात्कार किया था जिसका वर्णन हमें श्रुतियों में प्राप्त होता है, वह क्षणिक, विरल, विच्छिन्नऔर नैमित्तिक न होकर नित्य, सतत्, अविच्छिन्न व स्थायी है, इसके विपरीत पाश्चात्य दार्शनिकों ने जिस प्रतिभान का अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है वह क्षणिक, खण्डित, आत्मनिष्ठ और अस्थिर ही है। इसी कारण पाश्चात्य चिन्तन-प्रणाली में अखण्ड तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्राप्त प्रतिभानों को संकलित कर एक समुच्चय बनाने की आवश्यकता होती है। बर्गसाँ के शब्दों में : दार्शनिक "सफलता एक ही प्रयास में उपलब्ध नहीं की जा सकती; वह अनिवार्यतः सामूहिक और आनुक्रमिक होती है। यह संस्कारों के एकान्तरण द्वारा सम्पन्न होती है जिसमें परस्पर संशोधन और संयोजन द्वारा हमारे अन्दर निहित मानवता का विकास होता है और यहाँ तक कि कभी हम उसका अतिक्रमण भी कर जाते हैं।"[1] इस प्रकार हम विशिष्ट और आत्मनिष्ठ ज्ञान से ऊपर उठकर सामान्य और वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

सम्पूर्ण सृष्टि के मूलतत्व अर्थात् प्राण-शक्ति के प्रतिभान पर आधारित दर्शन केवल चिन्तन में ही सहायक नहीं होता, वह हमें क्रिया करने और जीवित रहने की अधिक शक्ति भी प्रदान करता है। इसके द्वारा न हम स्वयं को मानवता से पृथक् पाते हैं और न मानवता को प्रकृति से ही पृथक् देखते हैं। इस ज्ञान के माध्यम से हम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ तादात्म्य स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। परमतत्व की निर्विकल्प अनुभूति हमें एक ऐसी आन्तरिक प्रेरणा और शक्ति प्रदान करती है जिसके समक्ष कोई भी प्रतिरोध चाहे वह कितना ही सबल हो, टिक नहीं सकता।

मूल प्रवृत्ति, बुद्धि एवं प्रतिभान में पारस्परिक भेद एवं सम्बन्ध

ज्ञान की एक विधा के रूप में प्रतिभान का मूल प्रवृत्ति एवं बुद्धि से क्या समानताएँ एवं विभिन्नताएँ है, इसे समझना नितान्त आवश्यक है। हम पहले ही देख चुके हैं कि मूल प्रवृत्ति शरीर के सजीव अंगों के माध्यम से क्रिया करती है किन्तु बुद्धि निष्क्रिय जड़-तत्व द्वारा निर्मित कृत्रिम उपकरणों के माध्यम से कार्य करती है। मूल प्रवृत्ति को प्राण-तत्व के स्वभाव की केवल अभिज्ञा (Awareness) ही होती है, ज्ञान नहीं होता, किन्तु बुद्धि को निष्क्रिय जड़-तत्व का ज्ञान (Knowledge) होता है। इस प्रकार बर्गसाँ के अनुसार मूल प्रवृत्ति एवं बुद्धि के स्वभाव में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। पर यही बात मूल प्रवृत्ति एवं प्रतिभान पर लागू नहीं होती। चूँकि मूल प्रवृत्ति एवं प्रतिभान दोनों का सम्बन्ध प्राण-तत्व से होता है; अतः प्रतिभान बुद्धि की अपेक्षा मूल प्रवृत्ति के अधिक निकट है। पर दोनों के बीच पर्याप्त अन्तर भी पाया जाता है। मूल प्रवृत्ति द्वारा प्राण-तत्व का ज्ञान धुंधला, अस्पष्ट एवं अवचेतन स्तर का ही होता है तथा वह क्रिया-प्रवण होता है; इसके विपरीत, प्रतिभान द्वारा प्राण-तत्व का ज्ञान साफ, स्पष्ट एवं चेतन स्तर का होता है तथा वह बोध-प्रवण होता है। यहाँ एक अन्य बात की ओर भी बर्गसाँ ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और वह यह है कि यदि मूल प्रवृत्ति के सुषुप्त चैतन्य को पुनर्जागरित कर दिया जाय तो प्राण-तत्व के निगूढ़ एवं गहनतम रहस्यों का उद्घाटन किया जा सकता है। अतः, पूर्ण प्रबुद्ध एवं चेतन मूल

1. वही, पृ० 202.

प्रवृत्ति ही प्रतिभान है। बर्गसाँ के शब्दों में **"प्रतिभान से हमारा तात्पर्य उस मूल प्रवृत्ति से है जो निष्पक्ष, स्व-चेतन, अपने विषय पर विमर्श करने तथा उसे अपरिमित रूप में परिवर्द्धित करने में सक्षम है।"**[1]

मूल प्रवृत्ति एवं प्रतिभान के बीच समानताओं और विभिन्नताओं को दर्शाने के बाद बर्गसाँ आगे कहते हैं कि जिस प्रकार मूल प्रवृत्ति एवं बुद्धि के बीच भेद पाया जाता है, उसी प्रकार बुद्धि एवं प्रतिभान के बीच भी भेद पाया जाता है। बुद्धि प्राण-तत्व के भीतर प्रवेश कर या उसके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित करके उसका ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करती, वह केवल प्रेक्षक दृष्टि (Spectator's View) से ही उसका अवलोकन करती है; पर प्रतिभान प्राण-तत्व के अन्तर्तम स्थल पर पहुँच कर उसकी अनुभूति कराता है। इसी कारण बर्गसाँ ने प्रतिभान को ज्ञान न कहकर **तदनुभूति** (Empathy) नाम दिया है। पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि प्रतिभान बुद्धि से भिन्न विधा है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों एक-दूसरे से बिलकुल निरपेक्ष हैं। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध पाया जाता है। ज्ञान के प्रति जिज्ञासा बुद्धि से ही प्राप्त होती है जिसके बिना प्रतिभान मूल प्रवृत्ति के स्तर पर किसी व्यावहारिक अभिरुचि के विषय के साथ ही संलग्न रहेगा। "संसार में ऐसी वस्तुएँ (अर्थात् परमतत्व का स्पष्ट ज्ञान) हैं जिनके अनुसंधान का प्रयास केवल बुद्धि ही कर सकती है, यद्यपि स्वतः वह उसे प्राप्त नहीं कर सकती। इसी प्रकार इन वस्तुओं की प्राप्ति केवल मूल प्रवृत्ति द्वारा ही सम्भव हो सकती है, यद्यपि स्वतः वह उन्हें प्राप्त करने का प्रयास नहीं करेगी (जब तक कि बुद्धि उसे इसके लिए आग्रह नहीं करेगी)'[2] इस प्रकार बुद्धि मूल प्रवृत्ति एवं प्रतिभान के बीच एक कड़ी का कार्य करती है।

बुद्धि का एक दूसरा भी कार्य है। वह केवल मूल प्रवृत्ति को प्रतिभान में परिवर्तित करने का ही कार्य नहीं करती, प्रतिभान द्वारा किए गए अधूरे कार्य को पूर्ण करने में भी सहायक होती है। प्रतिभान को जो परमतत्व की पृथक्-पृथक् झलक प्राप्त होती है उनमें परस्पर-सम्बन्ध स्थापित करके बुद्धि, दर्शन के एक सुसंगत निकाय को निर्मित करने की भी चेष्टा करती है। जिस प्रकार बुद्धि बाह्य संस्कारों एवं संवेदनाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करके भौतिक जगत एवं भौतिक विज्ञानों का निर्माण करती है, उसी प्रकार प्रतिभान द्वारा प्राप्त विभिन्न दृष्टियों एवं झलकों को संकलित कर बुद्धि एक आध्यात्मिक जगत एवं अध्यात्म विज्ञान का निर्माण कर डालती है। अतः, बर्गसाँ के दर्शन में बुद्धि की उपयोगिता और महत्व को भली-भाँति स्वीकार किया गया है। यद्यपि कुछ स्थलों पर बर्गसाँ ने अपनी रचनाओं में बुद्धि की निन्दा की है जैसे—एक स्थल पर वे लिखते है कि बुद्धि प्राण को घनीभूत करती है, जड़-तत्व को उत्पन्न करती है, केवल ठोस वस्तुओं के साथ व्यवहार करती है तथा सम्भाव्य कार्यों के लिए योजना प्रस्तुत करती है। अर्थात् बुद्धि तत्व के स्वभाव को विकृत कर देती है। पर बुद्धि का यह निषेधात्मक पहलू ही है। इसका भावात्मक पहलू यह है कि बुद्धि मूल प्रवृत्ति को विकसित करती है तथा प्रतिभान को बोधगम्य बनाती है।

---

1. वही, पृ० 186, "... ..by intuition I mean instinct that becomes disinterested, self-conscious, capable of reflecting upon its object and enlarging it indefinitely."

2. वही, पृ० 159.

अन्त में हम मूल प्रवृत्ति, बुद्धि एवं प्रतिभान के सम्बन्ध में बर्गसाँ के दर्शन का समाहार प्रस्तुत करते हुए कह सकते हैं कि **मूल प्रवृत्ति बुद्धि का आधार है तथा प्रतिभान उसका लक्ष्य है।** यदि बुद्धि निरंकुश नहीं है और वह प्रतिभान के नेतृत्व में कार्य करती है तो वह हमें तत्व का ज्ञान प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध हो सकती है। प्रतिभान एवं संवेदनाओं द्वारा प्राप्त अनुभव अस्त-व्यस्त, विच्छिन्न और मूक ही होते हैं। बुद्धि इन अस्त-व्यस्त विच्छिन्न अनुभवों को अपने संप्रत्ययों के माध्यम से सगृहीत कर उनमें समन्वय स्थापित करती है तथा उन्हें मुखरित भी करती है। संवेदना या प्रतिभान पर आधारित दार्शनिक निकायो के निदर्शन के लिए भी बुद्धि की आवश्यकता होती है। बर्गसाँ के ही शब्दों में : "प्रतिभान की उपत्ति के लिए तर्क अनिवार्य है, यह इसलिए भी अनिवार्य है कि प्रतिभान को विभिन्न सम्प्रत्ययों में विभाजित कर उसे अन्य व्यक्तियों तक संचरित किया जा सके; किन्तु अधिक-से-अधिक यह प्रतिभान के निष्कर्षों को जो उससे अतीत होते हैं, विकसित ही कर सकती है।"[1] इस दृष्टिकोण से प्रतिभान और बुद्धि एक दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर-पूरक ही हैं। पर जो बुद्धि प्रतिभान के नेतृत्व में कार्य न कर इन्द्रियानुभव के नेतृत्व में कार्य करती है, वह निन्दनीय अवश्य है। बर्गसाँ इसी इन्द्रियानुगामी बुद्धि का विरोध करते हैं और बुद्धि-वाद-विरोधी कहे जाते हैं।

क्या बर्गसाँ विज्ञानवादी दार्शनिक है?

बर्गसाँ ने जड-तत्व को बुद्धि की एक काल्पनिक रचना या अमूर्त प्रत्याहार के रूप में ही स्वीकार किया है। बुद्धि की निन्दा एवं प्रतिभान की स्तुति से कुछ लोगों के मन में यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि बर्गसाँ एक विज्ञानवादी दार्शनिक हैं। पर इस प्रकार की व्याख्या करना बर्गसाँ के दर्शन के साथ अत्याचार करना ही होगा। सच पूछा जाय तो बर्गसाँ न तो विज्ञानवादी हैं और न वस्तुवादी। वे विज्ञानवाद व वस्तुवाद दोनों के विरोधी हैं। विज्ञानवाद के विरुद्ध वे कहते हैं कि व्यवहार में जीव को एक विरोधी सत्ता के साथ टक्कर होती है जिसे वह स्वयं उत्पन्न नहीं करता। उसका जीव से स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। यदि बाह्य जगत का नियन्त्रण करना है तो हमें उसके प्राकृतिक नियमों एवं विधानों का ज्ञान प्राप्त करना होगा। सफल व्यवहार के लिए विज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार बर्गसाँ वस्तुवाद का भी विरोध करते हैं। चैतन्य की भौतिक एवं शारीरिक तथ्यों के माध्यम से व्याख्या करने से उसके वास्त-विक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। इससे चैतन्य के संकल्प-स्वातन्त्र्य की रक्षा नहीं की जा सकती। सभी वस्तुवाद प्रत्यक्ष और ज्ञान को एक आकस्मिक घटना के रूप में ग्रहण करता है तथा सभी विज्ञानवाद भौतिक विज्ञान को एक आक-स्मिक घटना के रूप में स्वीकार करता है। दोनों वास्तविक सिद्धान्त नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बर्गसाँ विज्ञानवादी या अध्यात्मवादी न होकर विशुद्ध प्राण-तत्ववादी है।

---

1. वही, पृ० 251, "Dialectic is necessary to put intuition to the proof, nceessary also in order that intuition should break itself up into concepts and so be propagated to other men; but all it does, often enough, is to develop the result of that intuition which transcends it."

बर्गसाँ के दर्शन की आलोचना

बर्गसाँ ने डार्विन एवं लैमार्क की अपेक्षा सृष्टि की श्रेष्ठतर व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका दर्शन पर्याप्त आकर्षक भी है। पर इन सारी अच्छाइयों के होते हुए भी उनके सृजनात्मक दर्शन में कुछ खटकने वाली बातें भी पाई जाती हैं जिनका उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। यहाँ हमारी कठिनाई तब और बढ़ जाती हैं जब हम देखते है कि बर्गसाँ ने अपना दर्शन उपमाओं और रूपकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। दार्शनिक तथ्यों को रूपकों के माध्यम से व्यक्त करने से कभी-कभी विरोधाभास भी उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे विरोधाभासों का नीचे उल्लेख करेंगे।

(1) बर्गसाँ प्राण-शक्ति या जैव-शक्ति को ही एक मात्र तत्य मानते हैं। पर हमारे समक्ष समस्या यह है कि इस जैव-शक्ति का वास्तविक स्वरूप क्या है ? एक ओर वे उसे शक्ति (Force) के रूप में लेते हैं, और दूसरी ओर वे उसे भौतिक नही मानते। यदि उसे जैव-शक्ति के रूप में लिया जाय तो वह शक्ति किसके प्रतिकूल कार्य करती है ? जैव-शक्ति से भिन्न संसार में अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व भी तो नहीं है। ऐसी स्थिति में मौलिक रूप में इसकी किस प्रकार अभिव्यक्ति हो सकती है ?

(2) यदि प्रक्रिया के लिए जीव से स्वतन्त्र एक सत्ता की आवश्यकता होती है जिसके विरुद्ध वह प्रतिक्रिया करती है और जड़-जगत बुद्धि का एक अमूर्त प्रत्याहार ही है, तो स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह कौन-सी सत्ता है जिसके विरुद्ध प्राण-शक्ति क्रिया करती है ? वह सत्ता जिससे हमारी बुद्धि प्रातिनिधिक अंशों को पृथक् कर व्यवहार करती है, विकास की सजीव प्रक्रिया ही है जिसका स्वभाव कालावधि (Duration) है। इसके विरुद्ध प्राण-शक्ति द्वारा कार्य करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। सभी जीवों में प्राण-शक्ति का सातत्य पाया जाता है। अतः, प्राण-शक्ति स्वयं अपने विरुद्ध किस प्रकार कार्य कर सकती है ? पुनः, प्राण-शक्ति कोई भौतिक या यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं है, वरन् वह एक अभौतिक और चेतन प्रक्रिया है। अतः, यह किस माध्यम से अभिव्यक्त होती है ? बर्गसाँ इस प्रश्न का कोई समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाते।

(3) पुनः, बर्गसाँ के अनुसार, प्राण-शक्ति के भीतर एक प्रकार का तनाव (Tension) पाया जाता है। तनाव सदा किसी वस्तु के ऊपर दो परस्पर-विरोधी शक्तियों के प्रभाव के कारण उत्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में दो स्वाभाविक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। प्रथम प्रश्न तो यह है कि यदि तत्व एक है, उस तत्व के ऊपर विरोधी-शक्ति के प्रभाव का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है ? दूसरा सम्बन्धित प्रश्न यह है कि यदि प्राण-तत्व के ऊपर दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ कार्य करती हैं, उसके भीतर सृजनात्मक विकास किस प्रकार सम्भव होगा ? यहाँ एक अन्य कठिनाई भी उठ खड़ी होती है। बर्गसाँ कहते हैं कि जब प्राण-शक्ति का शैथिल्य या श्लथन होता है तो इस प्रक्रिया के द्वारा प्राण-शक्ति से जड़-तत्व की उत्पत्ति होती है। किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि आखिर प्राण-शक्ति का श्लथन ही क्यों और किस लिए होता है ? बर्गसाँ इन सारी बातों पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालते।

(4) जड़-जगत् के विषय में बर्गसाँ ने दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। एक ओर तो वे कहते हैं कि जड़-जगत् की उत्पत्ति प्राण-शक्ति की

क्रिया के शैथिल्य के कारण होती है तो दूसरी ओर उन्हीं के अनुसार जड़-जगत बुद्धि का एक अमूर्त प्रत्याहार है। प्रथम व्याख्या के अनुसार जड़-जगत वास्तविक है किन्तु द्वितीय व्याख्या के अनुसार जड़-जगत प्रातिभासिक है। पर यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि जड़-जगत प्रातिभासिक है, तो वह हमारी व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार कर सकता है? क्या हम केवल स्वप्न-जगत् में ही कार्य करते हैं? यदि थोड़े समय के लिए मान भी लिया जाय कि हमारे सारे कार्य स्वप्न-जगत् में ही घटित होते हैं, तो फिर वे सृजनात्मक कैसे कहे जा सकते हैं? बर्गसाँ ने इन प्रश्नों का कहीं भी उत्तर नहीं दिया है।

(5) बर्गसाँ की प्रतिभान की कल्पना भी त्रुटिपूर्ण है। उनके अनुसार बुद्धि तत्व के स्वरूप को विकृत कर प्राण-शक्ति के स्थान पर निष्क्रिय जड़-तत्व को उत्पन्न करती है। प्राण-शक्ति का ज्ञान हमें केवल प्रतिभान द्वारा ही सम्भव हो सकता है। किन्तु बर्गसाँ का प्रतिभान भारतीय दार्शनिकों की अपरोक्षानुभूति नहीं है। वह क्षणिक, विरल और नैमित्तिक ही है। इसके द्वारा हमें तत्व की नैमित्तिक झलक ही प्राप्त हो सकती है। क्षणिक, विरल और नैमित्तिक अनुभूतियों के समुच्चय से पूर्ण तत्व का ज्ञान असम्भव है। तत्व का ज्ञान क्रमिक न होकर युगपद होता है। जिस प्रकार बाह्य संवेदनाओं का पुञ्ज हमें जड़-जगत का ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकता उसी प्रकार आन्तरिक प्रतिभानों का समूह हमें प्राण-तत्व का ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकता। इस संदर्भ में बर्गसाँ का यह कहना कि बुद्धि हमें केवल अवस्थाओं (States) का ज्ञान प्राप्त कराती है और प्रतिभान हमें कालावधि के अविच्छिन्न प्रवाह का ज्ञान प्राप्त कराता है, बिलकुल अर्थहीन है। "जिस प्रकार यौवन की ललित कल्पनाओं को शैशव की परियों की कहानियों द्वारा सुधारा नहीं जा सकता, इसी प्रकार बुद्धि के स्थान पर प्रतिभान को स्थानापन्न करना भी मूर्खता है।[1]

(6) बर्गसाँ के विकास की कल्पना भी त्रुटिपूर्ण है। अपने विकास की प्रक्रिया में नवीनता और स्वतन्त्रता स्थापित करने के लोभ में उन्होंने उसे बिलकुल दिशाहीन कर दिया। जिस प्रक्रिया का न कोई प्रारम्भ है और न अन्त है, वह विकास ही नहीं है। प्रत्येक विकास की प्रक्रिया का एक लक्ष्य या उद्देश्य होना चाहिए जिसे प्राप्त करने के लिए वह सदा सचेष्ट रहती है। इससे विकास-प्रक्रिया की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचता। विकास-प्रक्रिया की दूसरी विशेषता यह है कि इसका अन्तिम चरण पूर्ववर्ती सभी चरणों में सूक्ष्म रूप में विद्यमान होना चाहिए, अन्यथा इसमें असत्कार्यवाद का दोष आ जायगा। बर्गसाँ परिवर्तन मात्र को ही विकास मान लेते हैं जो ठीक नहीं है।

(7) बर्गसाँ ने अपने प्राणवाद के द्वारा जो पुनर्जागरण काल के यन्त्रवाद (Mechanism) का विरोध किया वह तो प्रशंसनीय था, पर यह कार्य उन्होंने जड़-तत्व का निषेध करके किया था। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि प्राण-शक्ति की अभिव्यक्ति का कोई माध्यम ही नहीं रहा। विरोध के एक ध्रुव को समाप्त करने से

---

1. ड्यूरण्ट, वि०, स्टोरी ऑव फिलॉसॉफी, पृ० 464, "........But it was as unwise to offer intuition in place of thought as it would be to correct the fancies of youth with the fairy-tales of childhood."

किसी समस्या का उचित समाधान नहीं हो सकता। समस्या के उचित समाधान के लिए हमें एक ऐसे सामान्य तत्व की आवश्यकता होगी जो दोनों की युगपद व्याख्या कर सके। इस प्रकार के समाधान में बर्गसाँ बुरी तरह असफल रहते हैं।

(8) बर्गसाँ ने ज्ञान की समस्या का भी सम्यक् समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। उनके दर्शन में प्राण-शक्ति तत्व है तथा आत्मा और जड़-तत्व उसकी आनुषंगिक उपज है। आत्मा को प्राण-तत्व का उसी रूप में ज्ञान प्राप्त नहीं होता जैसा कि वास्तव में वह है, बल्कि उसका उस विकृत रूप में ज्ञान प्राप्त होता है जिसे बुद्धि उत्पन्न करती है। उसी प्रकार प्राण-शक्ति से जो आत्मा की उत्पत्ति हुई है, उसका कार्य. तत्व का ज्ञान प्राप्त करना नहीं है, वरन् जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बनना ही है। इस प्रकार बर्गसाँ ज्ञान की समस्या का समाधान करने में भी पूर्ण असफल रहते हैं।

बर्गसाँ के दर्शन का प्रभाव

प्राश्चात्य दर्शन के इतिहास में बर्गसाँ के सृजनात्मक विकासवाद का पर्याप्त महत्व है। उनके नवीन सृजन के सिद्धान्त ने आगे चलकर लॉयड मॉर्गन (Lloyd Morgan) और सैमुएल एलेक्जेण्डर (Samuel Alexander) के उन्मज्जी विकासवाद (Emergent Evolution) को जन्म दिया जो और आगे बढ़कर ह्वाइटहेड (Whitehead) के अंगिवाद (Philosophy of Organism) में परिणत हो गया। पर बर्गसाँ के सृजनात्मक विकासवाद और एलेक्जेण्डर के उन्मज्जी विकासवाद में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। उन्मज्जी विकासवाद में जो नवीनता पाई जाती है वह विभिन्न अवयवों के जटिल संगठन व परस्पर-सम्बन्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है, पर सृजनात्मक विकासवाद में एक ही मूल-तत्व (प्राण-शक्ति) का नाना प्रकार के नवीन रूपों में विभेदीकरण होता है। उन्मज्जी विकासवाद ईश्वर को विकास की पराकाष्ठा मानता है पर सृजनात्मक विकासवाद ईश्वर को विकास का मूल-स्रोत मानता है। अतः, दोनों के विचारों में पर्याप्त अन्तर है।

बर्गसाँ ने अपने दर्शन में परिवर्तन, अवधि एवं काल की एक विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने तत्व के गत्यात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया। उनकी काल (Time) एवं अवधि (Duration) की कल्पना ने आगे चलकर ह्वाइटहेड के तत्व सम्बन्धी परिकल्पना को प्रभावित किया है। ह्वाइटहेड ने अपनी दो रचनाओं **'प्रकृति एवं जीवन'** (Nature and Life) तथा **'प्रक्रिया एवं तत्व'** (Process and Reality) में बर्गसाँ के तत्व-सम्बन्धी विचारों से विशेष प्रेरणा ग्रहण की है। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में बर्गसाँ के दर्शन का पर्याप्त महत्व है।

परिशिष्ट

समकालीन दर्शन की प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियां

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में अर्वाचीन दर्शन (Recent Philosophy) के बाद समकालीन दर्शन (Contemporary Philosophy) का अभ्युदय होता है। जिस प्रकार अर्वाचीन दर्शन को 'विचारधारा का युग' कहा जाता है, उसी प्रकार समकालीन दर्शन को **विश्लेषण का युग** (The Age of Analysis) कहा जाता है। इस युग की विशेषता यह है कि इसमें सभी प्रकार की दार्शनिक समस्याओं का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। समकालीन युग की सभी दार्शनिक प्रवृत्तियाँ विज्ञानवादी हेगल के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। हेगल के विज्ञानवाद ने न केवल उपकरणवाद (Instrumentalism) अस्तित्ववाद (Existentialism) और मार्क्सवाद (Marxism) के सिद्धान्तकारों को प्रभावित किया वरन् किसी न किसी समय बीसवीं शताब्दी की कुछ गौरवशाली दार्शनिक प्रवृत्तियों जैसे तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism), वस्तुवाद (Realism) एवं विश्लेषणात्मक दर्शन (Analytic Philosophy) के सिद्धान्तकारों को भी प्रभावित किया। इसका एक कारण यह है कि जॉन डेवी (John Dewey) कीर्केगार्ड, (Kierkegaard), कार्ल मार्क्स (Karl Marx), बर्ट्रण्ड रसेल (Bertrand Russell) एवं जी० ई० मूर (G. E. Moore) अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में हेगल के विचारों के घनिष्ठ विद्यार्थी रह चुके थे। बाद में भले ही इन दार्शनिकों ने हेगल के विचारों का परित्याग कर दिया हो, पर प्रारम्भ में वे हेगल के विचारों से प्रभावित अवश्य थे। इसका एक प्रमाण यह है कि उपर्युक्त दार्शनिकों के विचारों में हेगल के विचारों के क्षतचिह्न कहीं न कहीं अवश्य पाए जाते हैं।

इंग्लैण्ड में हेगल के विचारों के दो प्रमुख दार्शनिक थे : प्रथम ब्रैडले (F. H. Bradley) एवं द्वितीय मैकटैगार्ट (J E. Mactaggart)। अमेरिका में हेगल के विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले जोशिया रॉयस (Josiah Royce) थे। अमेरिका में विलियम जेम्स ने नव्य-विज्ञानवादियों का खण्डन करते हुए कहा, "निरपेक्ष सत् को लानत दो" (Damn the Absolute)। अमेरिका में हेगल के विचारो के विरुद्ध अर्थक्रियावाद का जन्म हुआ किन्तु इंग्लैण्ड में इस विरोध ने वस्तुवाद (Realism) और तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism) का रूप ग्रहण किया। अब हम समकालीन दर्शन की कुछ प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करेंगे।

1. **मार्क्सवाद**—हेगल के दर्शन के द्वन्द्वात्मक विज्ञानवाद (Dialectical Idealism) कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार विश्वात्मा अपने को द्वन्द्वात्मक रूप में पक्ष-प्रतिपक्ष-संपक्ष के माध्यम से अभिव्यक्त करती है। मार्क्स ने अपने इतिहास-दर्शन में हेगल के द्वन्द्वात्मक विज्ञानवाद को परिवर्तित कर उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) का रूप दिया, जिसमें पूंजीवादी वर्ग पक्ष है, श्रमिक वर्ग

प्रतिपक्ष है तथा साम्यवादी वर्ग संपक्ष है। मार्क्स के विचारों की दार्शनिक महत्ता उतनी नहीं है, जितनी आर्थिक और राजनीतिक। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दास कैपिटल' (Das Capital) विशेष रूप से अर्थशास्त्र पर ही है। इसमें समाज की नई आर्थिक व्यवस्था की उद्भावना की गई है। मार्क्स के जीवन का प्रमुख उद्देश्य देश में आर्थिक समानता की स्थापना करना था। इसी कारण वह जीवन पर्यन्त आर्थिक समस्याओं के समाधान में ही उलझा रहा। उसका दर्शन उसके आर्थिक विचारों को पुष्ट करने और एक सबल आधार प्रदान करने के लिए निर्मित किया गया था। यहाँ हम मार्क्स को आर्थिक एवं राजनीतिक विचारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

(1) **द्वन्द्ववादी भौतिकवाद** (Dialectical Materialism)—प्रगति द्वन्द्ववादी है पर उसकी प्रकृति भौतिक है। "मनुष्य के मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित और विचार रूप में परिवर्तित भौतिक संसार ही मेरा आदर्श है।"[1] सम्पूर्ण अस्तित्व में, हर जगह और हर समय जो अन्तर्विरोध रहता है, द्वन्द्ववाद उसी अन्तर्विरोध का अध्ययन है। विरोधी तत्वों का संघर्ष ही विकास है।

(2) **इतिहास की आर्थिक व्याख्या** (Economic Interpretation of History)—मार्क्स के अनुसार इतिहास की ठीक व्याख्या भौतिक दृष्टिकोण से ही हो सकती है, ईश्वर, उद्देश्य या अभिप्राय के दृष्टिकोण से नहीं। समाज के विकास का इतिहास वास्तव में उत्पादन-प्रणाली के विकास का इतिहास है। दूसरे शब्दों में : सामाजिक विकास का इतिहास उस श्रमिक वर्ग का इतिहास है जो उत्पादन की प्रकिया में प्रमुख भूमिका निभाते हैं और जो समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक मूल्यों का उत्पादन करते हैं। अतः समाज के इतिहास के नियमो के अध्ययन का सूत्र हमें मनुष्यों के मस्तिष्क में, या समाज के विचारों में और दृष्टिकोणों में नहीं, बल्कि एक विशेष ऐतिहासिक युग में अपनाई जाने वाली उत्पादन-प्रणाली में खोजना चाहिए।

(3) **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त** (The Doctrine of Surplus Value)—पूँजीपति श्रमिकों को केवल निर्वाह के लिए मजदूरी देकर उनसे इतना श्रम करवाते हैं कि उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का बाजार मूल्य उनकी मजदूरी से अधिक होता है। इस अतिरिक्त मूल्य को पूँजीपति हड़प लेते हैं। इससे श्रमिकों का शोषण होता है। अतः जितना मूल्य श्रमिकों के निर्वाह के लिए आवश्यक है, उसके अतिरिक्त जो मूल्य उन्होंने उत्पादित किया, वह अतिरिक्त मूल्य है।

(4) **वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त** (The Theory of Class War)—मार्क्स का विश्वास था कि दिन प्रतिदिन धनी लोग अधिकाधिक धनी और गरीब लोग अधिकाधिक गरीब होते जा रहे हैं। अन्त में एक ऐसा समय आयेगा जब गरीब लोग जिनका समाज में अत्यधिक बहुमत है, धनी लोगों को हराकर एक नए समाज की स्थापना करेंगे। इसे मार्क्स ने क्रान्ति की संज्ञा दी है। क्रान्ति के कारण पूँजीपति समाप्त हो जायेंगे और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी।

---

1. मार्क्स, कार्ल, कैपिटल, खण्ड I, पृ० 30, "With me,...... the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and transformed into forms of thought."

(5) **सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व** (Dictatorship of the Proletariat)—मार्क्स का विश्वास है कि पूँजीवादी समाज़ को बलात् नष्ट कर देने के बाद वर्गविहीन समाज़ की स्थापना करने में कुछ समय लग ज़ायगा। उस संक्रान्ति काल में देश के उत्पादन-साधनों पर सर्वहारा वर्ग का स्वामित्व होगा। संक्रान्ति काल में मजदूरों को उनके काम के अनुसार वेतन दिया जायगा। इसमें शोषण के लिए कोई अवकाश नहीं होगा क्योंकि नए समाज में उत्पादन के सभी साधन व्यक्तियों के हाथ में न होकर राज्य के हाथों में रहेंगे। मार्क्स का अन्तिम आदर्श है, "प्रत्येक से उसकी सामर्थ्य के अनुसार (काम) और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार (दाम)। वर्ग-विहीन समाज़ में क्रमशः परिवार, धर्म, राज्य इत्यादि का लोप हो जायेगा और अन्त में वैज्ञानिक समाजवाद की स्थापना होगी।

2. **अस्तित्ववाद** (Existentialism)—समकालीन दर्शन की दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति अस्तित्ववाद की है, जो हेगल और ब्रैडले के विज्ञानवाद, अद्वैतवाद और स्थिर जगत (Block Universe) के विरुद्ध प्रतिक्रिया रूप में उत्पन्न हुई। यह उन सभी दर्शनों का कटु आलोचक है, जो मनुष्य की सत्ता को कोई महत्व न देकर विश्व तथा उसकी समस्याओं को विचार का केन्द्र समझते हैं। अध्यात्मवाद, प्रकृतिवाद, जड़वाद इत्यादि सारे सिद्धान्त मनुष्य की सत्ता को सब कुछ न मानकर उसको गौण स्थान देते हैं। इन सभी सिद्धान्तों में मनुष्य की स्वतन्त्र सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं है। अस्तित्ववाद मनुष्य के स्वतन्त्र अस्तित्व का पक्षपाती है। उसकी दृष्टि आधुनिक युग के मनुष्य और उसकी कठिनाइयों पर टिकी हुई है। अस्तित्ववादी विचारकों में कीर्कगार्ड (Kierkegaard) हाइडेगर (Heidegger), जीन पाल सार्त्र (Jean Paul Sartre), कार्ल जास्पर्स (Karl Jaspers) और गैब्रियल मार्सल (Gabriel Marcel) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अब हम अस्तित्ववाद की प्रमुख बातों का यहाँ उल्लेख करेंगे।

(1) अस्तित्वाद सत्व (Essence) की अपेक्षा **अस्तित्व** (Existence) की पूर्वता (Priority) में विश्वास करता है। सत्व यह बताता है कि वस्तु क्या (What) है तथा अस्तित्व यह बताता है कि वस्तु यह (That) है।

(2) अस्तित्व एक **प्रक्रिया** (Act) है, वह केवल अवस्था (State) नहीं है। यह साध्यता से सिद्धता की ओर संक्रमण का संकेत करता है। अस्तित्ववाद प्रेक्षक दृष्टि (Spectator's View) से दर्शन का प्रतिपादन न कर **कर्ता की दृष्टि** (Actor's View) से दर्शन का प्रतिपादन करता है।

(3) मनुष्य साध्यता से सिद्धता की ओर संक्रमण तभी कर सकता है, जबकि उसके भीतर **स्वतंत्रता** (Liberty) हो। मनुष्य को अपने अभीष्ट के चयन की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(4) मनुष्य शून्य में निवास नहीं करता। वह सदा एक **परिस्थिति** (Situation) में निवास करता है, पर परिस्थिति में निवास करने का यह अर्थ नहीं है कि वह परिस्थितियों का दास है; वह परिस्थिति द्वारा निर्धारित न होकर स्वयं परिस्थितियों को निर्धारित करता है।

(5) मनुष्य की स्वतन्त्रता जीवन में उसे **उत्तरदायित्व** (Responsibility) प्रदान करती है। मनुष्य स्वतन्त्र और साथ-साथ उत्तरदायी प्राणी है। मनुष्य की स्वतन्त्रता का निहितार्थ यह है कि संसार में कोई पूर्व-स्थापित मानदण्ड नहीं है, जो उसके जीवन को संचालित करता है। वह पूर्णतया स्वतन्त्र है।

(6) अस्तित्ववादी मनुष्य के अस्तित्व की गूढ़ बातों को समझने के लिए तर्क या बुद्धि पर विश्वास नहीं करता। तर्क अस्तित्व की गहनता को समझने में असमर्थ है। इसी कारण अस्तित्ववाद को अबुद्धिवाद का दर्शन (Philosophy of Irrationalism) कहा जाता है।

3. **तार्किक विश्लेषण का दर्शन** (Philosophy of Logical Analysis)— बीसवीं शताब्दी में तार्किक विश्लेषण का दर्शन सर्वाधिक गौरवशाली दर्शन है, जो गणित और विज्ञान की नवीनतम खोजों से प्रभावित है। यह एक विशाल दर्शन है, जिसे हम निम्न चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) **वस्तुवादी पक्ष** (Realistic Phase)—रसेल (Russell) एवं मूर (Moore) इस पक्ष के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं। इन दोनों ने ग्रीन एवं ब्रैडले के विज्ञानवाद का खण्डन कर दर्शन में वस्तुवाद (Realism) की स्थापना की। यह पक्ष मूर के "विज्ञानवाद के खण्डन" (Refutation of Idealism) के साथ प्रारम्भ होता है। इसमें मूर ने ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद का खण्डन कर ज्ञानमीमांसीय वस्तुवाद की स्थापना की है। विज्ञानवाद के खण्डन के साथ मूर ने "आन्तरिक सम्बन्ध" (Internal Relation) का भी खण्डन किया है। बर्ट्रण्ड रसेल ने भी अपनी "दर्शन की समस्याएँ" (Problems of Philosophy) में विज्ञानवाद की अपेक्षा वस्तुवाद की स्थापना की है।

(2) **विश्लेषणात्मक पक्ष** (Analytic Phase)—इस पक्ष का प्रारम्भ रसेल के तार्किक परमाणुवाद (Logical Atomism) से होता है। पुनः, विटेगेन्स्टाइन (Wittgenstein) ने अपनी पुस्तक ट्रैक्टेटस (Tractatus) में रसेल के तार्किक परमाणुवाद की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। वियना केन्द्र (Vienna Circle) के सिद्धान्तकारों ने इस सूत्र को ग्रहण कर तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism) की स्थापना की जिनका सर्वाधिक सफल वर्णन हमें ए० जे० एयर (A. J. Ayer) के भाषा, सत्य एवं तर्कशास्त्र' (Language, Truth and Logic) में मिलता है। तार्किक प्रत्यक्षवाद ह्यूम के अनुभववाद एवं रसेल और ह्वाइटहेड के गणितीय तर्कशास्त्र (Mathematical Logic) का सम्मिश्रण है। यह रसेल की प्रिंसिपिया मैथमेटिका (Principia Mathematica) के तीन प्रमुख सिद्धान्तों : व्याप्ति-सिद्धान्त (Principle of Extensionality), वर्णन-सिद्धान्त (Theory of Description) तथा प्ररूप-सिद्धान्त (Theory of Types) का खुलकर प्रयोग करता है।

(3) **साधारण भाषा-दर्शन** (Ordinary Language Philosophy)—जहाँ तार्किक प्रत्यक्षवादी किसी भाषा के तार्किक स्वरूप के स्पष्ट करने के लिए उसके परिवर्तन में विश्वास करते हैं, वहाँ साधारण भाषा-दर्शन के विचारकों के अनुसार साधारण भाषा के विश्लेषण से ही हमें जगत के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो सकती है। विटगेन्स्टाइन का दार्शनिक अन्वेषण (Philosophical Investigations), राइल का

'आत्मा का प्रत्यय' (Concept of Mind) तथा ऑस्टिन का 'दार्शनिक प्रलेख' (Philosophical Papers) साधारण भाषा-दर्शन की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं।

(4) **निकायात्मक पक्ष** (Systematic Phase)—इधर कुछ वर्षों से पाश्चात्य दर्शन में भाषा-दर्शन के प्रति लोगों के मन में अरुचि बढ़ी है और दार्शनिक एक बार पुनः प्राचीन निकायों की ओर लौट आना चाहते हैं। कार्ल पॉपर (Popper), स्ट्रॉसन (Strawson) एवं हैम्पशायर (Hampshire) इस पक्ष के प्रमुख दार्शनिक हैं।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के दर्शन में हमें अनेक गौरवशाली प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। यहाँ इन प्रवृत्तियों का हम संक्षेप में वर्णन करेंगे।

(1) वस्तुवाद (Realism) –पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में 'वस्तुवाद' शब्द का प्रयोग सत्तामीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय दोनों अर्थों में किया गया है। सत्तामीमांसीय अर्थ में वस्तुवाद की यह मान्यता है कि 'सामान्य' (Universal) का ज्ञाता से स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं होता वरन् संसार की विशिष्ट वस्तुओं से उसका श्रेष्ठ अस्तित्व होता है। संसार की वस्तुएँ सामान्यों की प्रतिलिपि मात्र है। इस दृष्टि से प्लेटो को वस्तुवादी कहा जा सकता है। पर समकालीन दर्शन में 'वस्तुवाद' शब्द का प्रयोग ज्ञानमीमांसीय अर्थ में किया जाता है, जिसके अनुसार ज्ञान का विषय सदा ज्ञाता से स्वतन्त्र होता है। यह ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद का विरोधी सिद्धान्त है, जिसके अनुसार ज्ञान का विषय सदा ज्ञाता के ऊपर आश्रित होता है। यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि ज्ञानमीमांसीय वस्तुवाद और ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद परस्पर-विरोधी सिद्धान्त हैं, पर ज्ञानमीसांसीय वस्तुवाद की तत्वमीमांसीय विज्ञानवाद के साथ सुसंगति हो सकती हैं। ज्ञान का विषय ज्ञाता से स्वतन्त्र होते हुए भी चेतन हो सकता है। समकालीन वस्तुवाद का सम्बन्ध मुख्य रूप से ज्ञानमीमांसीय वस्तुवाद से ही है; सत्तामीमांसीय वस्तुवाद से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

समकालीन दर्शन में 'वस्तुवाद' की स्थापना का श्रेय इंग्लैण्ड के दो सुप्रसिद्ध दार्शनिकों : जी० ई० मूर (G. E. Moore) एवं बर्ट्रैण्ड रसेल (Bertrand Russell) को जाता है। आगे चलकर वस्तुवादी प्रवृत्ति इंग्लैण्ड तक ही सीमित नहीं रह सकी; वह अटलाण्टिक महासागर को पारकर अमेरिका पहुँच गई जहाँ ई०बी० हॉल्ट (E.B.Holt), डब्ल्यू० पी० मॉण्टेग (W. P. Montague), आर बी. पेरी (R. B Perry) इत्यादि दार्शनिको ने वस्तुवादी विचारधारा को अग्रसारित किया। पर ब्रिटिश एवं अमेरिकी वस्तुवाद की जड़ हमें जर्मन वस्तुवादियों जैसे ब्रेण्टेनों (Brentano), मीनङ्ग (Meanong) एवं हुशर्ल (Husserl) में ही दिखाई पड़ जाती है, जिन्होंने ज्ञान की प्रत्येक परिस्थिति में क्रिया (Act) और विषय (Object) के बीच भेद स्थापित किया था। यहाँ हम केवल ब्रिटिश वस्तुवाद के विषय में विशेष रूप से चर्चा करेंगे।

ब्रिटेन में प्रो० जी० ई० मूर वस्तुवाद के प्रतिनिधि दार्शनिक माने जाते है। उनके दर्शन को नव्य-वस्तुवाद (Neo-Realism) कहा जाता है, जिसके अनुसार हमें बाह्य वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। वे अपने वस्तुवाद की स्थापना के लिए बर्कले के 'सत्ता दृश्यता है' (Esse est percipi) का खण्डन प्रस्तुत करते हैं। वर्कले का 'सत्ता दृश्यता है' का सिद्धान्त ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद का प्रतिनिधित्व करता है। मूर के अनुसार यदि इस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया जाय, तो इससे सम्पूर्ण ज्ञानमींमां-

सीय विज्ञानवाद स्वतः खण्डित हो जायगा और ज्ञानमीमांसीय वस्तुवाद की स्थापना हो जायगी। यही उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध लेख 'विज्ञानवाद का खण्डन' (Refutation of Idealism) में प्रदर्शित करने की चेष्टा की है, जिसका संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जायगा।

'सत्ता दृश्यता है' वाक्य में संयोजक 'है' को तीन विभिन्न अर्थों में लिया जा सकता है। 'है' के भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ 'सत्ता दृश्यता है' वाक्य के भी तीन भिन्न-भिन्न अर्थ निष्कर्षित होंगे जो निम्न हैं—

(i) प्रथम—संयोजक 'है' का अर्थ उद्देश्य और विधेय का पूर्ण तादात्म्य है। ऐसी स्थिति में 'सत्ता दृश्यता है' वाक्य 'सत्ता' की परिभाषा के रूप में परिणत हो जायगा जिसमें 'सत्ता' परिभाष्य पद है तथा 'दृश्यता' परिभाषक पद है जो बिलकुल ही अनुपयुक्त होगा। 'है' को पूर्ण तादात्म्य के रूप में लेने का एक दुष्परिणाम यह होगा कि उपर्युक्त वाक्य एक द्विरुक्ति (Tautology) मात्र हो जायगा जो किसी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं कर सकता। अतः, 'है' का प्रथम अर्थ विज्ञानवाद की सिद्धि करने में पूर्णतः अक्षम है।

(ii) यदि 'सत्ता दृश्यता है' में 'है' का अर्थ अपूर्ण तादात्म्य से लिया जाय तो भी विज्ञानवाद की सिद्धि नहीं हो सकती। अपूर्ण तादात्म्य का यहाँ तात्पर्य यह है कि विधेय 'दृश्यता' का गुणार्थ उद्देश्य 'सत्ता' के गुणार्थ का केवल एक अंश ही है। उदाहरण के लिए 'मनुष्य एक जानवर है' में विधेय 'जानवर' उद्देश्य 'मनुष्य' का केवल एक भाग है। जिस प्रकार किसी वस्तु के 'जानवर' होने से उसका मनुष्य होना सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि 'मनुष्य' 'जानवर' से कहीं अधिक है, उसी प्रकार 'दृश्यता' से 'सत्ता' की सिद्धि नहीं की जा सकती क्योंकि 'सत्ता' 'दृश्यता' से कहीं अधिक है। यदि 'सत्ता' 'दृश्यता' से अधिक है तो यह विज्ञानवाद को न सिद्ध कर वस्तुवाद को ही सिद्ध करता है।

(iii) यदि 'सत्ता दृश्यता है' में 'है' का तात्पर्य न तो पूर्ण तादात्म्य है और न अपूर्ण तादात्म्य तो तृतीय विकल्प के रूप में 'है' का अर्थ अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध से लिया जा सकता है। पर इससे भी विज्ञानवाद की सिद्धि नहीं की जा सकती। अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध का अर्थ यह है कि यद्यपि 'सत्ता' और 'दृश्यता' एक दूसरे से सुभिन्न वस्तुएँ हैं पर फिर भी उनके बीच अवियोजनीय या अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध पाया जाता है। पर मूर को 'है' का यह अर्थ भी स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि 'है' के इस अर्थ से 'सत्ता दृश्यता है' वाक्य को संश्लेषणात्मक (Synthetic) और अनिवार्य (Necessary) दोनों मानना पड़ेगा, जो सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त विश्लेषण से मूर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बर्कले का 'सत्ता दृश्यता है' वाला सिद्धान्त ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद की स्थापना करने में बिलकुल असमर्थ है। प्रो० मूर ने अपनी पुस्तक 'दार्शनिक अध्ययन' (Philosophical Studies) में बर्कले के ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद को ध्वस्त करने के लिए अन्य तर्क भी प्रस्तुत किए हैं, जिनका वर्णन करना यहाँ प्रासंगिक नहीं होगा। उनके द्वारा प्रस्तुत सभी तर्कों का मूल मन्तव्य यही है कि जब तक ज्ञान का विषय ज्ञाता से स्वतन्त्र नहीं होगा तब तक ज्ञान प्राप्त करने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

प्रो० मूर के अतिरिक्त बर्ट्रण्ड रसेल (Bertrand Russell) का नाम भी नव्य-वस्तुवादियों में अग्रणी है। रसेल के वस्तुवाद को तार्किक वस्तुवाद (Logical Reallsm) की संज्ञा दी जाती है। उनकी दो महत्वपूर्ण पुस्तकों 'गणित के सिद्धान्त' (Principles of Mathematics) एवं 'प्रिंसिपिया मैथमेटिका' (Principia Mathematica) ने तार्किक वस्तुवाद के लिए पृष्ठभूमि तैयार किया जिनके अनुसार न केवल वस्तुओं का ही संसार में स्वतन्त्र अस्तित्व है बल्कि सम्बन्धों, वर्गो, तर्क वाक्यों, तथ्यों इत्यादि का भी स्वतन्त्र अस्तित्व पाया जाता है। रसेल ने तर्क शास्त्र एवं गणित से सम्बंधित अपने अनुसंधानों के आधार पर सिद्ध किया कि भाषा एवं बाह्य वस्तुओं के बीच समानान्तरवाद पाया जाता है। तर्क-वाक्य एवं तथ्य के बीच एकैक सम्बन्ध (One-one-Correspondence) तथा उनके स्वरूप में समानता पाई जाती है। रसेल ने अपने वर्णन-सिद्धान्त (Theory of Description) और तार्किक अणुवाद (Logical Atomism) के आधार पर तार्किक वस्तुवाद की स्थापना की है।

ब्रिटिश नव्य-वस्तुवादियों की तरह अमेरिकी नव्य-वस्तुवादियों ने भी ज्ञान-मीमांसीय विज्ञानवाद का खण्डन कर अपने ज्ञानमीमांसीय वस्तुवाद की स्थापना की। हॉल्ट (Holt), मार्विन (Marvin), माण्टेग (Montague), पिट्किन (Pitkin) और स्पाल्डिंग (Spaulding) ने अमेरिका में वस्तुवादी विचारधारा के प्रचार व प्रसार में पर्याप्त योगदान किया। इन दार्शनिकों ने विज्ञानवादियों द्वारा प्रस्तुत मनो-वैज्ञानिक युक्ति, प्रतिभानात्मक युक्ति एवं दैहिक युक्ति का खण्डन करके ज्ञान की वस्तुवादी व्याख्या का प्रतिपादन किया।

यद्यपि अमेरिकी नव्य-वस्तुवादियों ने विज्ञानवाद का खण्डन करके अपने अपरोक्ष वस्तुवाद की स्थापना किया, किन्तु उनके सर्व बाह्यार्थवाद (Pan-objectivism) में कुछ ऐसी त्रुटियाँ थीं, जिन्हें कोई समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता था। उनका ज्ञानमीमांसीय एकतत्ववाद (Epistemological Monism) भ्रम की यथेष्ट व्याख्या करने में भी असमर्थ था। इन सारी कठिनाइयों को दूर करने के लिए कुछ अमेरिकी वस्तुवादियों ने नव्य-वस्तुवाद के स्थान पर समीक्षात्मक वस्तुवाद (Critical Realism) की स्थापना किया। समीक्षात्मक वस्तुवादियों में ड्रेक (Drake), लवज्वॉय (Lovejoy), प्रैट (Pratt), रॉजर्स (Rogers), सण्टायना (Santayana), सेलर्स (Sellars) एवं स्ट्रॉङ्ग (Strong) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नव्य-वस्तुवाद एवं समीक्षात्मक वस्तुवाद के बीच प्रमुख भेद यह है कि नव्य-वस्तुवाद जहाँ ज्ञान के द्विकारक-सिद्धान्त (Two-Factor Theory) में विश्वास करता है, वही समीक्षात्मक वस्तुवाद ज्ञान के त्रि-कारक सिद्धान्त (Three-Factor Theory) में विश्वास करता है। नव्य-वस्तुवाद के अनुसार हमें बाह्य वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान होता है किन्तु समीक्षात्मक वस्तुवाद के अनुसार हमें केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है, जहाँ तक बाह्य वस्तुओं का प्रश्न है, उनका हम केवल अनुमान ही कर सकते है।

(2) **तार्किक प्रत्यक्षवाद** (Logical Positivism)--तार्किक विश्लेषण के दर्शन में तार्किक प्रत्यक्षवाद का एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसके दो प्रमुख

उद्देश्य हैं : प्रथम––विभिन्न विज्ञानों के लिए सुदृढ़ आधार की स्थापना करना तथा द्वितीय––तत्वविज्ञान की निरर्थकता का निदर्शन करना। इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तार्किक प्रत्यक्षवाद दार्शनिक विश्लेषण-पद्धति को अपनाता है। तत्व-विज्ञान की निरर्थकता का निदर्शन सत्यापन सिद्धान्त (Verification Principle) द्वारा करने की चेष्टा की जाती है। सत्यापन सिद्धान्त के अनुसार वे ही तर्क-वाक्य सार्थक हैं, जो या तो विश्लेषणात्मक हैं या अनुभव द्वारा सत्यापनीय हैं। यदि कोई ऐसा तर्क-वाक्य है जो न तो विश्लेषणात्मक है और न ही अनुभव द्वारा सत्यापित हो सकता है, तो वह निरर्थक तर्क-वाक्य है। तत्व-विज्ञान के तर्क-वाक्य ऐसे ही निरर्थक तर्क-वाक्य होते हैं।

तार्किक प्रत्यक्षवाद के अनुसार हमारी साधारण भाषा के द्वारा दार्शनिक कार्यों की सिद्धि नहीं की जा सकती। भाषा का संशोधित रूप ही उसके तार्किक स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है। तार्किक प्रत्यक्षवाद बर्ट्रेण्ड रसेल के तीन तार्किक सिद्धान्तों पर आधारित है : प्रथम व्याप्ति-सिद्धान्त, द्वितीय––वर्णन-सिद्धान्त एवं तृतीय––प्ररूप-सिद्धान्त। इन्हीं के आधार पर तार्किक विश्लेषण की प्रक्रिया सम्पादित की जाती है।

(3) **साधारण भाषा दर्शन** (Ordinary Language Philosophy)––जहाँ तार्किक प्रत्यक्षवादी किसी भाषा के तार्किक स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए उसके संशोधन में विश्वास करते हैं, वहीं साधारण भाषा-दार्शनिक साधारण भाषा के ही प्रयोग के विश्लेषण पर अधिक बल देते हैं। विटगेन्स्टाईन, गिलबर्ट राइल, जॉन विज्डम (John Wisdom) इत्यादि दार्शनिक साधारण भाषा-दर्शन के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं। इनके दो उद्घोष-वाक्य हैं : प्रथम––किसी शब्द के अर्थ (Meaning) को नहीं वरन् उसके प्रयोग (Use) के विषय में पूछो। द्वितीय––प्रत्येक कथन का अपना तर्क शास्त्र होता है। साधारण भाषा-दर्शन तार्किक प्रत्यक्षवाद के चित्र-सिद्धान्त के स्थान पर भाषा-क्रीड़ा (Language Game) में विश्वास करता है। भाषा-क्रीड़ा का तात्पर्य यह है कि एक ही शब्द का कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है। अतः उसका कोई निश्चित अर्थ निर्धारित नहीं किया जा सकता।

(4) **निकायात्मक दर्शन** (Systematic Philosophy)––अब दार्शनिक एक बार पुनः प्राचीन निकायों की ओर लौट आना चाहते हैं। स्ट्रॉसन ने अपनी पुस्तक 'इण्डिविजुवल्स' (Individuals) में अपने वर्णनात्मक तत्व विज्ञान के माध्यम से रसेल के वर्णन-सिद्धान्त का खण्डन किया है। हैम्पशायर भी इस दर्शन के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं।

MODEL QUESTIONS

I—KANT

1. Why is Kant's Philosophy called Critical and Transcendental Idealism ?

2. Discuss the problem of Kantian Epistemology. What is Kant's solution of the problem ?

3. How has kant effected a Copernican Revolution in the History of Modern Philosophy ?

4. How has kant reconciled between the conflicting claims of Rationalism and Empiricism ?

5. 'Although all knowledge begins with experience, it by no means follows that it all originates from experience.' Explain the statement in the light of Kant's Critical Philosophy.

6. 'Percepts without concepts are blind and concepts, without percepts are empty'. Comment.

7. State and examine Kant's theory of synthetic apriori judgements.

8 Explain Kant's view that Space and Time have objective validity only for things as they appear to us and not for things-in-themselves.

9. Discuss Kant's theory of Categories.

10 What is Kant's Transcendental Deduction of Categories ? Examine the objective validity of the Categories.

11. Explain the significance of the Kantian dictum : Understanding makes nature.

12. Discuss fully the importance of the Ideas of Reason in Kant's Philosophy.

13. Why does Kant call his Self as Transcendental Synthetic Unity of Pure Apperception ?
14. How does Kant distinguish between Noumena and Phenomena ? What is the basis of this distinction ?
15. "The thing-in-itself was an awkward element in Kant's philosophy and was abandoned by his immediate successors." Examine critically.
16. How does Kant reach the conclusion that Speculative Metaphysics is impossible ?
17. Discuss briefly the development of German Idealism from Kant to Hegel.
18. How does Kant refute the traditional arguments for the existence of God.

G. W. F. Hegel

1. Discuss the salient features of Fichte's Ethical Idealism.
2. Explain fully Fichte's doctrine of Ego.
3. How is the self and the not-self related in the Philosophy of Fichte
4. According to Schelling, Self and not-self are the effects of a common basic cause. Explain.
5. Describe the main features of Schelling's Religious Idealism ?
6. Does Hegel reconcile the Philosophies of Fichte and Schelling in his philosophical system ?
7. How does Hegel identify Reality with Reason ? Explain critically.
8. Explain the Hegelian maxim that the real is rational and the rational is real.
9. Discuss the nature of the Absolute in Hegel's philosophy.
10. Examine fully the nature of Hegel's Dialectic.
11. How far do you agree that Hegel's Absolutism is the culmination of Kantian Dualism ?
12. Elucidate the notions of "Subjective Spirit", "Objective Spirit" and "Absolute Spirit" obtaining in Hegel's Philosophy.

13. Discuss the different stages in the development of the Idea in Hegel's Logic.

F. H. Bradley

1. How does Bradley establish his Absolutism ?
2. What was Bradley's reaction to Kant's assertion that Metaphysics is impossible ?
3. Explain Bradley's theory of Appearance. How is Appearance related to Reality ?
4. Discuss Bradley's concept of the Absolute as Immediate Expeiience ?
5. For what reasons does Bradley reject the rality of the self ?
6. Discuss Bradley's theory of truth and error and their degrees.
7. How does Bradley solve the problem of error ?
8. "A relational way of thought, any one that moves by the machinery of terms and relations must give appearance and not truth." Explain the statement.
9. Compare Hegel's Dialectic with the Dialectic of Bradley.
10. Discuss the relation between thought and reality in the philosophy of Bradley.
11. What is the rationale behind Bradley's criticism of primary and secondary qualities ?
12. '...... ...the aspects of adjective and substantive are only our points of view'. Bradley. Comment.

William James

1. Do you agree with William James that Pragmatism is both a Philosophical Method and a Theory of Truth ?
2. Explain William James' contribution to Pragmatism.
3. Evaluate Pragmatic Theory of Truth.
4. Distinguish between the Radical Empiricism of William James and the Psychological Empiricism of Locke, Berkeley and Hume.

5. What are the main principles of the Pragmatism of William James ?

6. Why is Pragmatism termed as anti-intellectualism ?

7. Discuss the nature and function of knowledge according to William James.

8. Explain the relation between truth and utility according to Pragmatic Epistemology.

9. Enumerate the distinct contributions made by Schiller to Pragmatic Logic.

10. What do you mean by Experimentalism and Instrumentalism? How are they related to Pragmatism ?

11. Estimate the value of Pragmatism as a theory of knowledge and a theory of truth.

12. What are the practical implications of Pragmatism in Education, Religion and Ethics ?

Henry Bergson

1. Trace the influence of Biology on the Philosophy of Bergson.

2. Why does Bergson seek in the life-impulse (elan vital) as the source of all reality in the world ?

3. How does Bergson conceive of Time, Duration and Change in his system ?

4. How does Bergson criticise the different theories of evolution to establish his own theory of Creative Evolution ?

5. What is meant by Time or Duration ? How is Time related or unrelated to Space ?

6. Distinguish after Bergson, among Instinct, Intellect and Intuition.

7. What are the divergent paths of Evolution according to Bergson ?

8. Discuss the basic features of Creative Evolution.

———

अनुक्रमणिका